CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्यात्म
समग्र-जीवन-विज्ञान

विमला ठकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

5.3

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

– अध्यात्म –

समग्र-जीवन-विज्ञान

[१९८९-१९९१ में महाबलेश्वर (महाराष्ट्र) सत्सङ्ग-शिविरों में हुए प्रवचनों-प्रश्नोत्तरियों का विषयानुरूप सङ्कलन]

विमला ठकार

[मूलध्वनि अधिकांश मराठी, कुछ अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी भी]
सबका लिपिकरण, हिन्दी-अनुवाद, सङ्कलन, सम्पादन इत्यादि—'भोली'

विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

© विमला ठकार / वि० प्र० ट्रस्ट
शिवकुटी, आबू पर्वत ३०७५०१

संस्करण—प्रथम, १९९२
श्रीरामनवमी (चैत्र शु० ९, २०४९)
'आम्नाय', करौंदी, वाराणसी–५

मूल्य : ७५ रु० मात्र

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहरनगर कॉलोनी
वाराणसी–१०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुक्रम

प्रभाग	विषय	पृष्ठ
भूमिका	मौन-सत्सङ्ग-संवाद	
	१. (१९८९)	अ – ऊ
	२. (१९९१)	ऋ – ए
क	आत्मोन्मुख जीवन	
	(अन्तःशुद्धि व वैयक्तिक साधना)	१ – १७१
	तद्विषयक ही	
	श्री जे० कृष्णमूर्ति-सन्दर्भ में	१७२ – १९६
ख	जीवनोन्मुख अध्यात्म	
	(सामाजिक साधना)	१९७ – २५२
ग	तरुण-पीढ़ी-विषयक	
	(पारिवारिक साधना)	२५३ – २८३
घ	सन्तश्री-ज्ञानेश्वर-विषयक	२८४ – २९७
	एवं	
	'विमल'-जीवन-सन्दर्भ	२९७ – ३०२
ङ	पूर्णाहुति-प्रवचन	
	१. (१९८९)	३०३ – ३१६
	२. (१९९१)	३१६ – ३३७
प्रकीर्णक	स्फुट-चिन्तन	३३८ – ३४०

[पिछले 'कवर' पर दिये गये प्रसाद-वरण का सन्दर्भ—
श्री ज्ञानेश्वरी १८/१७९३-९९]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाऊँ जहाँ वहाँ तू ही मेरा साथी,
हाथ पकड़ मुझे चलाता है तू ही।
पथ पर चलते तेरा ही आधार,
भार सभी मेरा उठाता है तू ही।
बोलूँ जो अटपट बनाते हो उत्तम,
लाज हरी हरि! कर दिया ढीठ।
सभी मेरे देखे हुए लोकपाल,
प्राणसखा ही हो गये सकल।
तुका कहे खेलूँ अब कौतुक से,
तेरा सुख भीतर-बाहर छलके।
तेरा मुख भीतर-बाहर झलके॥

[मूल मराठी से अनूदित—भोली]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"योग: कर्मसु कौशलम्"

"समत्वं योग उच्यते"

"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूमिकात्मक संवाद

: १ :

कुछ दिनों के सहजीवन के लिये हम-आप पुनः यहाँ एकत्र हुए हैं यह आनन्द की बात है। इस बार बोलने की अपेक्षा मौन ही अधिक रहने वाला है। जिन्हें शब्दों के बिना सूनापन लगता हो, बोले-सुने-पढ़े बिना जो रह न सकते हों, उन्हें ऐसे ५-६ दिन भी ५-६ वर्ष लग सकते हैं। कोई आवश्यक या महत्त्व की ही बातें करनी हों, सो नहीं, बस किसी भी तरह जीभ चलाने की इच्छा होती है, मन को कुछ आलम्बन चाहिये, और मानों स्वयं को ही 'जी रहे हैं'-की प्रतीति कराने के लिये बोलते रहने की ज़रूरत महसूस होती है। बहुत ही उथले-छिछले स्तर पर जीना चलता है (Superficial layer of existence)। धारणाशक्ति का विकास नहीं हुआ होता। इसलिये जहाँ हम रहते हैं वहाँ के वातावरण की प्रतिक्रिया, आस-पास के लोगों के व्यवहार की प्रतिक्रिया—इत्यादि सभी प्रतिक्रियाओं को शब्दबद्ध करना बहुत अनिवार्य प्रतीत होने लगता है उस मन को। इन प्रतिक्रियाओं के लेन-देन को ही हम संवाद समझ बैठते हैं।

एक प्रयोग कर देखना था कि जो गम्भीरमति जिज्ञासु व्यक्ति हैं, जो शब्दव्यापार के बिना भी जी सकते हैं, मानसिक एकान्त में रह सकते हैं वे कुछ समय एक-साथ रहें। इसकी सूचना इस शिविर के आमन्त्रण-पत्रक में पाकर भी जिन्होंने इसके लिये शुभसंकल्प किया है उनका मैं अभिनन्दन करती हूँ, और आशा करती हूँ कि यह जो अवसर मिला है—इसके एक भी क्षण का दुरुपयोग नहीं किया जायेगा, इस शिविर में शामिल होने की अपनी जिम्मेवारी भलीभाँति समझी जायेगी। ऐसे शिविर की व्यवस्था के लिये परिश्रम करने वालों का उद्देश्य मुमुक्षु-जिज्ञासुओं को सत्सङ्ग का अवसर जुटा देना ही होता है; ये आयोजन, मनोरञ्जन, बुद्धिरञ्जन या सुन्दर स्थानों की सैर के लिये नहीं किये जाते। अतः इन शिविरार्थियों पर बड़ी जिम्मेवारी आती है कि इस सुयोग का सम्यक् लाभ लेकर, यहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के क्षण-क्षण का सदुपयोग करके आयोजन व व्यवस्था के सात्त्विक श्रम को सार्थक बनायें। यहाँ सहचिन्तन-सहनिवास एवं सहयात्रा की सुविधा मिलती है।

यहाँ जिसे 'अध्यात्म' कहा जा रहा है, जिस अध्यात्म के लिये सत्सङ्ग की आवश्यकता है, वह अध्यात्म कोई प्राप्ति का क्षेत्र नहीं है। शरीर-मन-बुद्धि से, इन्द्रियों के स्तर पर या अतीन्द्रिय क्षेत्र में कुछ प्राप्त कराने-कमाने का यह क्षेत्र नहीं। वैसा भ्रम यदि चित्त में हो तो वह पहले ही हट जाना चाहिये। यदि यह सोच कर आये हों कि इन ५-७ दिनों में यहाँ कुछ 'पा' लिया जायेगा, या कोई विशेष आकस्मिक परिवर्तन घटित होगा, या आपके प्रश्नों के गणित जैसे उत्तर दिये जायेंगे—तो कृपया समझ लें कि वैसा कुछ यहाँ होने वाला नहीं है। मेरी दृष्टि में सत्सङ्ग का उपयोग प्राप्ति के लिये नहीं होता। सत्य समझ लेने के लिये ही सत्सङ्ग होता है। अध्यात्म है सम्पूर्ण जीवन की ओर देखने की एक वैज्ञानिक दृष्टि। इसे वैज्ञानिक दृष्टि मैं इसलिये कहती हूँ कि इसमें अनेकों भ्रान्तियों-भ्रमों का निरसन करने की शक्ति है। अतः आध्यात्मिक सत्सङ्ग का कोई प्रयोजन कहना हो तो यही है कि भ्रमों का निरसन हो, दृष्टि निर्भ्रान्त बने, चित्त निःसंशय बने।

जीवन की ओर देखने की समग्र दृष्टि यदि उघड़ जाय तो फिर जीवन जीने की शैली या पद्धति बदलती है। तब मनुष्य-जीवन में जो सम्बन्धों का ताना-बाना है उन सम्बन्धों का स्वरूप भी बदलता है। आज तो बनी-बनाई लीकों या चली आई परम्पराओं में ही चलते रहने को जीवन जीना मान लिया गया है; दृष्टि खुलने पर समझ में आता है कि ऐसे प्रवाहपतित की तरह बहते जाना, या ढाँचों व चौखटों में बँधे-बँधे यन्त्रवत् गतानुगतिक रूप से सब क्रियायें करते रहना जीवन जीना नहीं है। मनुष्य और पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणिजगत् में यही अन्तर है कि मनुष्य गतानुगतिक क्रम का यान्त्रिक पुनरावर्तन करने को वस्तुतः बाध्य नहीं है। मनुष्य की विशेषता है स्वसंवेद्यता एवं स्वयं अपनी जिम्मेवारी से कर्म करने की क्षमता। अध्यात्म का यह प्रयोजन समझना इन ५-६ दिनों के लिये पर्याप्त हेतु है।

दूसरी एक चीज़ यहाँ देखने में आयेगी कि यहाँ मंच पर बैठ कर आपसे संवाद करने वाली व्यक्ति कोई प्रमाण बनकर या अधिकारी (authority)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रूप से नहीं बोलती। परस्पर सामने बैठकर शब्दों द्वारा संवाद करना एक आवश्यकता के नाते है; पर बोलने वाले के चित्त में कोई प्रामाण्य-गन्ध नहीं है। अध्यात्म में जैसे मानव एवं समस्त सृष्टि के सम्बन्ध का स्वरूप बदलेगा वैसे जिज्ञासु तथा आत्मोपलब्ध व्यक्ति के सम्बन्ध का स्वरूप भी बदलना होगा। इस सम्बन्ध में आज तक चले आते शोषण का अन्त लाना होगा—यह वैज्ञानिक दृष्टि की माँग है, इसकी अनिवार्यता भी है। इसलिये हम जो यहाँ ५-६ दिन साथ बैठेंगे, उसमें अध्यात्म के प्रति प्रामाण्याधिकाररहित दृष्टिकोण (a non-authoritative approach to Spirituality) रहेगा।

भारत में भारतीयों को इन शब्दों का अर्थ समझ में आ जाय तो भी वह चित्त को रुचता नहीं। क्योंकि हजारों वर्षों से मान्यता दृढ़ की गई है, रक्त में वह दृढ़ हो चुकी है कि जिज्ञासु और आत्मोपलब्ध या साक्षात्कारी व्यक्ति के बीच सम्बन्ध भिन्न स्तरों के सम्बन्ध जैसा—मानो सेवक-स्वामी जैसा होना चाहिये। एक (जिज्ञासु) दूसरे (ज्ञानी या आत्मानुभवी) की शरण में जायेगा, उसके प्रति समर्पित होगा, उसका दास बना रहेगा, गुलाम बनेगा। यही सोचा जाता है। उनमें भी समता का नाता हो सकता है, विशुद्ध, सरल सीधा सख्य हो सकता है, प्रेम के नाते, सख्य के नाते मैत्री एवं मानवीय सहयोग हो सकता है; यह बात अध्यात्म जिज्ञासुओं को नयी जान पड़ती है। हमें यही मालूम है एवं सिखाया गया है कि जो "पहुँचे हुए" महात्मा-सन्त-ज्ञानी व्यक्ति हों उनके चरणों में जाकर बैठना चाहिये; वे हमारी समस्यायें सुलझा देंगे, मुसीबतें मिटा देंगे। वे मोक्ष का मार्ग दिखायेंगे, साधना को रीति बतायेंगे इतना ही नहीं, बल्कि स्वयं हमें अपने कन्धों पर उठा कर मोक्ष पर्यन्त पहुँचा देंगे—यह आशा रखी जाती है। वे माथे पर हाथ रखें कि सब हो जाना चाहिये। ....और हम यहाँ देखने वाले हैं जिज्ञासा एवं जीवन का एक नया आयाम। (A new dimension of enquiry & a new dimension of relationship)

हमारा आपका नाता होगा मैत्री का, सख्य का, प्रेम का। आपके प्रश्नों को मैं सुलझाऊँगी नहीं, अपनी ओर से कोई निदान या उत्तर नहीं दूँगी। जो भी प्रश्न आपके चित्त में उठे हुए मुझ तक पहुँचे हैं-पहुँचेंगे, उन प्रश्नों की ओर किस प्रकार से देखा जाय? वे क्यों उदित होते हैं? उनका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आशय क्या है ? यही देखेंगे हम मिलकर। समस्याओं की गुत्थियाँ परि-स्थिति में से पैदा होती हैं या उनकी जड़ें व बीज हमारी मनःस्थिति में पड़े हैं ? यह सब हम अपने भीतर खोद कर देखे। यह नहीं कि आप केवल प्रश्न करें और मैं उत्तर दूँ। हम-आप मिलकर प्रश्न का विश्लेषण करेंगे, उसके भीतर ही उत्तर छिपा हुआ हो सकता है, जैसे कि जो बीज हम धरती में बोते हैं उसके भीतर वृक्ष छिपा हुआ होता ही है। कली में पुष्प व सुगन्ध छिपे होते हैं। उसी प्रकार जिज्ञासु या साधक की जिज्ञासा-रूप कली में ही आत्मोपलब्धि का पुष्प छिपा होता है। वह कहीं बाहर से लानी नहीं पड़ती किसी को देनी नहीं पड़ती। उस कली में से पुष्प व परिमल खिल उठे इसके लिये प्रेम से कली की सार-संभाल की जाती है, उसे सुपुष्ट होने दिया जाता है। इसी प्रकार जिज्ञासा की कलियों जैसे प्रश्नों को दुलराया जाय, उनमें निहित पुष्प का सौरभ हम पायें इसी का यत्न रखें।

१. वैज्ञानिक दृष्टि, २. वैज्ञानिक जीवन-पद्धति, ३. आध्यात्मिक सम्बन्धों में शोषण का अन्त, इनमें एक नवीन आधार को सम्भावना पर यहाँ चिन्तन होगा। तथाकथित समर्पण या दासता न होने से विनय समा-दर या श्रद्धा नहीं होती—ऐसा नहीं। परस्पर सीखना होता है, उसके लिये कृतज्ञता भी रहती है। यह सब होते हुए भी मनुष्यता नहीं छूटती, और भूल से भी परस्पर शोषण करने की इच्छा नहीं होती। आप कहेंगे कि यह 'शोषण' शब्द क्यों बारंबार प्रयुक्त हो रहा है ? इसकी स्पष्टता कर दूँ। जहाँ कहीं मालकियत (स्वामित्व) की भावना आती है—"ये मेरे गुरु हैं" "ये मेरे शिष्य है"—तो वहाँ साथ ही एक मेरे अधिकार की वस्तु (possession) की भावना आती है। 'ममता'-'आत्मीयता' के नाम पर प्रभुत्व की भावना आती है।

दूसरी ओर पराधीनता की भावना आती है। एक ओर प्रभुत्व दूसरी ओर दीनता आती है। इससे सम्बन्ध बड़े बीभत्स हो जाते हैं। प्रेम के कारण होने वाला सम्बन्ध अलग चीज़ है। पर, "मुझे अतीन्द्रिय शक्तियाँ या अनुभूतियाँ मिलें ! या मुक्ति मिले ! इसके लिये कोई शक्तिपात कर दे ! माथे पर हाथ रख कर अभीष्ट-सिद्धि करा देने का जिम्मा कोई ले ले !"—इस हेतु से जो शरणागति या समर्पण होता है वह क्या एक प्रकार का 'सभ्यरीति'-वाला (sophisticated) सौदा नहीं ? हम वैज्ञानिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

युग में जी रहे हैं। हम राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक-शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों में मानवीय सम्बन्धों के आधार बदलने के लिये कोशिश में लगे हुए हैं; तो उस कोशिश में से इस बहुत ही नाजुक सम्बन्ध व क्षेत्र को अलग-थलग कैसे रहने देंगे ?

जीवन जीने की एक सर्वथा नवीन दृष्टि है अध्यात्म—यह हमने कहा। क्या नवीनता है इसमें ?––अपने आस-पास सब ओर जीवन का जो भी रूप है उसका सम्पूर्णतया स्वीकार अध्यात्म-दृष्टि में अन्तर्भूत (निहित) है। जीवन के पहलू अनेक हैं—व्यक्त, अव्यक्त, अनन्त, एकदेशी, सर्वदेशी·····। इस जीवन में बहुत-सी वस्तुयें या स्थितियाँ ऐसी भी हैं जो द्वैतात्मक एवं परस्पर विरोधी दीखती हैं। यहाँ शीत है-उष्ण है, अन्धकार है-प्रकाश है, सम्मान है-अपमान है, सुख है-दुःख है, जन्म है-मरण है····, हमें जिनमें विरोध या द्वन्द्व भासता है ऐसे अनेकों द्वैतरूप बिन्दु हैं। नाम-रूप-रंग-आकार-प्रकारों की इतनी विविधता है कि हमें उलझन में डाल देती है। इस विविधता को अनन्त कहें तो भी अत्युक्ति नहीं (Innumerable variety of forms & expressions of life) इस अनन्तता में हमें जीना है। और मज़ा यह है कि इन विविधताओं का प्रत्येक का स्वतन्त्र आस्वाद ले सकें ऐसी इन्द्रियाँ भी हमारे शरीर में विद्यमान हैं। इसलिये नाम-रूप-आकार-प्रकारादि की विलक्षणता-विविधता-विचित्रता दृष्टि द्वारा देखी जा सकती है, उसका उपभोग किया जा सकता है—अनन्त प्रकार के रूप-रंग-रस-गन्ध-स्पर्श-ध्वनि का स्वाद चखने के लिये तदनुरूप रसास्वाद की क्षमता वाले पाँच ज्ञानेन्द्रिय नेत्र-जिह्वा-घ्राण-त्वचा-श्रोत्र मिले हुए हैं। गति का सुख लिया जा सकता है पाँवों द्वारा; कार्य करने का सुख लिया जा सकता है हाथों द्वारा; अभिव्यक्ति का-बोलने का सुख लिया जा सकता है वाणी की शक्ति द्वारा। एक ओर असंख्य प्रकार के विषय हैं दूसरी ओर उनका सुख भोग सकने वाली इन्द्रियाँ है। फिर एक दिन किसी भी क्षण अचानक ही यमराज आ खड़े होते हैं सामने, प्राण शरीर को छोड़ देते हैं। वह क्षण कब आयेगा—कहाँ आयेगा—क्या निमित्त बनेगा ? इसकी कोई पूर्व सूचना नहीं मिलती। और सारी सुख-दुःख-आस्वादन की सामग्री तत्क्षण छोड़कर चल देना पड़ता है भोगने वाले को। अब यदि समस्त रसास्वादन लेते हुए भी इनसे पृथक् रहने की कला साधी न हो तो उन विविध नाद-रंग-रूप-सुगन्ध-स्पर्श-स्वाद आदि में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्त फँसता रहेगा। मृत्यु नाम का जो परमसखा प्रतिक्षण हमारे साथ रहता है वह हँसता हुआ धीमे-धीमे कहता रहता है कि भले मानस! इन सब विषयों का स्वाद तू भले चखा कर क्योंकि ये आस्वादन के लिये ही रचे गये हैं, किन्तु साथ ही यह भी याद रख कि किसी भी क्षण इन सबको छोड़कर हठात् तुझे चल देना होगा। इनका रस-सेवन अवश्य कर ले, पर इनमें आसक्त होकर उपभोग में न रमना! रससेवन करना और उपभोग में न पड़ना, आसक्ति में न फँसना! ऐसी तलवार की धार पर जीने की युक्ति अपनानी होती है, वह जीवन जीने की कला है। अध्यात्म में यह दृष्टि है।

उपभोग यानी सुखपरायणता; सुखों के बारम्बार पुनरावर्तन की वासना से सुखपरायणता बढ़ती है। उससे परिग्रह की इच्छा होती है; परिग्रह बढ़ाने व बनाये रखने के लिये मन में भीरुता-कायरपन आता है। उसीसे हमारे पारस्परिक सम्बन्धों में कितने ही अनर्थ पैदा होते हैं। इसलिये हमें सीखना है यह कि सत्ता की जो अनन्त प्रकार की अभिव्यक्तियाँ अपने सामने आती हैं उनसे पीठ नहीं फेरनी है,—जीवन का स्वीकार करना है—मृत्युसमेत। सुख के साथ दुःख का, अनुकूलता के साथ प्रतिकूलता का स्वीकार करना है; यानी अनुकूलता में अटकना नहीं और प्रतिकूलता में हताश-निराश नहीं होना। यह दृष्टि न विकसी हो तो इस नानारत्ना वसुन्धरा पर—बहुरङ्गी जीवन में ३०-५०-८० वर्ष (जितना भी आयुष्य हो) रहना एक संकट बन जाता है। एक के प्रति आसक्ति है, दूसरे से विरक्ति है, एक के लिये प्रियता है दूसरे से द्वेष है; 'यह चाहिये' 'वह नहीं चाहिये', एक से भय है दूसरे की कामना है, ऐसे द्वन्द्वात्मक तानों-बानों के जाल में फँस कर जीव छटपटाता है, गला रुँधता है।····

····जीवन जीने की सही दृष्टि का विकास हो सके, अपने सत्त्व की पहचान का अवसर मिल सके, इसी अहैतुक हेतु से ऐसे सत्सङ्ग-संवाद-शिविरों का आयोजन होता है।····

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

: २ :

इस शिविर में वाणी को अपेक्षा मौन पर जोर अधिक रहने वाला है। इसलिये जिन्हें एकान्त प्रिय न हो, अथवा शब्दों के बिना जोना ही जिन्हें दूभर हो—ऐसे व्यक्तियों को ये पाँच-छह दिन उतने ही वर्षों जैसे प्रतीत हो सकते हैं। हर समय कोई काम की ही बात एक-दूसरे से की जाती हो—ऐसा नहीं है, पर बोले बिना रहा नहीं जाता बहुतों से। कुछ न कुछ निमित्त जीभ हिलाने को चाहिये, मन को कोई आलम्बन चाहिये, और मानो अपने आपको हो 'जी रहे हैं!—ऐसी प्रतीति कराने के लिये ही लोग बोलते हैं—बड़े छिछले स्तर पर जीते हैं; धारणा-शक्ति का विकास नहीं किया होता—अतः जिस स्थान पर रह रहे हों वहाँ के वातावरण की प्रतिक्रिया, एक-दूसरों के व्यवहारों की प्रतिक्रिया, या जो प्रवचन सुना उसी के बारे में उठी प्रतिक्रिया—आदि को शब्दों में दूसरों के प्रति व्यक्त करना उस मन को अनिवार्य-सा हो बैठता है। इन प्रतिक्रियाओं का जो लेन-देन चलता है उसे ही हम 'संवाद' मान लेते हैं। अतः एक बार यह प्रयोग कर देखना था कि गम्भीर जिज्ञासु व साधना के इच्छुक व्यक्तियों का छोटा समूह—जो मानसिक एकान्त में एवं शब्दों में उतरे बिना रह सकते हों—वे एकत्र आकर रहें। ये सब बातें आपको सूचित की गयी होने पर भी आप यहाँ आये—इस पर आपका अभिनन्दन करती हूँ, और आशा करती हूँ कि इस शान्त-सुरम्य स्थान एवं वातावरण में रहने का जो यह अवसर मिला है इसके एक भी क्षण का दुरुपयोग आप नहीं करेंगे। यह बड़ी जिम्मेवारी का काम है। क्योंकि जो लोग ऐसे शिविर के लिये समय एवं श्रम लगाते हैं वह कोई हवा-बदल, सैर-सपाटे या छुट्टियाँ मनाने के नये तरीके के लिये नहीं: बल्कि अभीप्सु साधकों-जिज्ञासुओं को सत्संग का अवसर मिल सके, सहचिन्तन सहनिवास-सह-यात्रा की सुविधा मिल सके—इसी के लिये सब परिश्रम करते हैं।

ऐसी एक सहयात्रा पर हम इन दिनों में चलेंगे। मेरी जिम्मेवारी बढ़ जाती है यह देख कर कि कुछ लोग पहली बार आये हैं, और कुछ अनेक बार आ चुके हैं—वक्ता की शैली से परिचित हो चुके हैं। नये आने वालों के साथ न्याय होना चाहिये—जीवन या अध्यात्म के प्रति मेरी दृष्टि स्पष्ट होनी चाहिये। इसलिये हम यहाँ से प्रारम्भ करें कि जिसे हम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्यात्म कहते हैं, और जिसके लिये सत्संग की—साधना की आवश्यकता प्रतीत होती है वह अध्यात्म कोई प्राप्ति का क्षेत्र नहीं है। शरीर से, बुद्धि से, मन से, इन्द्रियगम्य क्षेत्र में या अतीन्द्रिय स्तरों पर कुछ प्राप्त करने या कमाने का अवकाश यहाँ नहीं है, किसी भी 'कमाई' की सम्भावना नहीं है। पहले ही यह भ्रमनिरास हो जाना उचित है। यदि यह सोच कर या मान कर यहाँ आये हों कि "इन ५-६ दिन के सत्संग से कुछ नयी 'कमाई' होगी; कुछ विशेष परिवर्तन घटित होगा या गणित में जैसे सवालों के ज़वाब मिलते हैं वैसे हमारे प्रश्नों के उत्तर (—'हाँ—'ना'— 'यह करो' 'वह मत करो' 'यह रास्ता पकड़ो' इत्यादि) मिलेंगे।"—तो वे व्यक्ति समझ लें कि मेरी दृष्टि से सत्संग का उपयोग 'प्राप्ति' के लिये नहीं होता, सत्य समझ लेने के लिये ही सत्सङ्ग का उपयोग है। अध्यात्म है—सम्पूर्ण जीवन की ओर देखने की एक वैज्ञानिक दृष्टि। उस दृष्टि में अनेकों भ्रान्तियों—भ्रमों का निरास करने की शक्ति होती है। इसलिये आध्यात्मिक सत्संग का कोई प्रयोजन कहना हो तो—सत्य को देखना, बुद्धि को निर्भ्रान्त बनाना, भ्रमनिरास करना—यही प्रयोजन कहा जा सकता है। सम्पूर्ण जीवन की ओर देखने की यह दृष्टि खुलने पर, हृदय-मन-बुद्धि-समझ में वह पैठ जाने पर फिर जीवन जीने की शैली बदल जाती है। अब तक जिस प्रकार गतानुगतिक रूप से वंश या जाति की परम्पराओं के ढाँचों में ही उन्हीं ढर्रों से चले चलना—इसी को जो 'जीवन जीना' माना हुआ है—वह मान्यता एवं बहाव में बहने की मनोदशा नहीं रहती। जीवन की पद्धति बदलती है। तब फिर मनुष्यों के जो परस्पर सम्बन्ध हैं उनका भी स्वरूप बदलता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क

आत्मोन्मुख जीवन
(अन्तःशुद्धि व साधना)

प्रश्न—संयम-सप्ताह और मौन-सत्सङ्ग--इन दोनों की भूमिका कृपया समझा कर कहें।

संयम यानी मन–इन्द्रियों को दबाकर रखना और मौन यानी मुँह से न बोलना--ऐसे स्थूल अर्थ के पीछे कुछ तथ्य, सत्य अवश्य होगा। कृपया उसे स्पष्ट कीजियेगा।

उत्तर—संयम का अर्थ—दबाकर रखना, निग्रह या निरोध करना, suppress या repress करना—यह नहीं है। निग्रह-निरोध-दमन-पीड़न इनसे संयम शब्द के आशय का कतई कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा सामान्य परिचय दो पद्धतियों से है—एक उपभोग, (indulgence) दूसरा निग्रह-दमन-पीडन (suppression repression) इन दोनों से अलग जीवन का एक मार्ग या जीवन की शैली है—रससेवन। जीवन की चरम सत्ता रसमयी है—रसो वै सः। और 'यह विश्व प्रभु की काया है; माया नहीं।' इसलिए विषयों के रूप में जो परमात्मा सज-धजकर व्यक्त हुए हैं और विषयों के रस के रूप में जो छद्मस्थ रहते हैं, उस रस का सेवन पदार्थों के सेवन में से हो—यह जीवन का अर्थ है। जीवन जीने का अर्थ—खाना-पीना, सो जाना—यह नहीं; जन्म से मृत्यु के बिन्दु तक कैसे भी अपने-आप को घसीटते ले जाना—यह जीवन जीने का अर्थ नहीं है। जीवन में व्यक्त हुए रस का सेवन ही जीवन-साधना है, यही योग-साधना है। सेवन में उपभोग नहीं आता। देहधारण के लिये, चित्तशुद्धि के लिए, प्रभु से संयोग जीने के लिये रस-ग्रहण, रस-सेवन, रस-धारण होता है, रस-विनियोग होता है। उपभोग का रास्ता वह है जिसमें इन्द्रिय-विषय-सम्बन्धों या सङ्ग में जो सुख होता है, उसके पीछे मन दौड़ता रहता है कि वह फिर मिले, आज मिले, कल भी मिले, मिलता ही रहे। सुख हमेशा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुनरावर्तन चाहता है। रस है आनन्द। प्रत्येक सम्मुख स्थिति में से आनन्द-सेवन की कला है रसिकता। रस-सेवन होता है तो आनन्द जीवन का स्थायी भाव बनता है। इसलिए पुनरावर्तन की इच्छा नहीं होती। सुख की इच्छा ही दुःख का मूल है; दुःख की जड़ वहीं है।

इसलिए, उपभोग जीवन का वैज्ञानिक पथ नहीं है। भोगपरायणता— The cult of indulgence in sensual pleasure—जीवन का सही रास्ता नहीं। और जगत् को मिथ्या-माया कहकर व्यतिरेकबुद्धि से ही इसे देखा जाय, और इससे हटकर किसी तरह जीवन-धारणा के लिये "भोजनं व्रण-लेपनम्....वस्त्रं शवाच्छादनम्" कहते हुए apologetically पदार्थ या विषयों के साथ सम्बन्ध हो--यह भी अवैज्ञानिक रास्ता है। भोग से कम खतरनाक नहीं है त्याग।

इन दोनों के बीच खड़ा है संयम। इसलिये संयम में—कुछ भी दबा कर रखना यह आशय देखना—मेरी समझ से गलत है।

"काया न दण्डिजे। लीलया संसार तरिजे रया॥"

श्री ज्ञानेश्वर ने कहा कि काया को दण्ड देने, दमन-पीड़न करने की आवश्यकता नहीं है। इस अभिव्यक्त सृष्टि के साथ लीला करते हुए भवसागर को तर जाना सम्भव है।

"मितुलें चि बोलावे.... ....

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की टीका के रूप में जो 'भावार्थदीपिका" श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने लिखी उसमें जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप की सप्रमाणता, समस्त व्यवहार की सप्रमाणता एवं औचित्य की कला और विज्ञान (The dignity of proportionateness, the elegance of propriety) सिखाया।

इस संयम-सप्ताह में हमें देखना है कि भोग और त्याग के मध्यबिन्दु (भोग नहीं, त्याग भी नहीं) पर चेतना रह सकती है या नहीं। इसलिये इसे 'संयम-सप्ताह' कहा गया। "संयमाग्नि चेतवूनि"....संयम का अग्नि चेता (प्रज्ज्वलित, प्रदीप्त) करके, भोग एवं त्याग के अतिरेकों को टालकर मनुष्य जीवन जी सकता है। इसे किसी ने मध्यस्थ भाव, मध्यम मार्ग कहा। यह 'तटस्थ' नहीं 'मध्यस्थ' है। जीवन-प्रवाह के मध्य में, संघर्ष-आघात-प्रत्याघातों के बीच, सुख-दुःखों के बीच, यश-अपयश के बीच, मान-अपमान के बीच, मँझधार में तैरते हुए जीना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आपने चाहा है कि 'संयम-सप्ताह' और 'मौन-सत्सङ्ग'—इन दोनों की भूमिका समझा कर कहूँ। तो पहले शब्द का अर्थ कुछ स्पष्ट हुआ होगा, अब दूसरा शब्द लें—'मौन-सत्सङ्ग'। महाराष्ट्र में अनेक सत्सङ्ग शिविर हमारे साथ हुए हैं। वास्तव में सत्सङ्ग का अर्थ है सत्य का सङ्ग किसी व्यक्ति के माध्यम से। लेकिन हमारे लिए सत्सङ्ग का अर्थ यह हो गया है कि कोई आत्मानुभवी आवें, प्रवचन करें, व्याख्यान दें, और हम सुनें। इस सप्ताह की सूचना में आपने देखा होगा कि आपकी यह बहन प्रवचन-व्याख्यान नहीं करेगी, यदि किसी का कोई प्रश्न हो, जिज्ञासा हो तो प्रतिसाद देगी, प्रश्न के उत्तर भी नहीं। मैं कोई गुरु तो हूँ नहीं।

मैं तो आप में से एक व्यक्ति हूँ, जीवनोपासक हूँ, सत्यशोधक हूँ। आपकी कोई जिज्ञासा हो तो उसको प्रतिसाद दूँ, क्योंकि मैंने जीवन को सत्यशोधन का तीर्थक्षेत्र माना है। उसके सिवा कुछ किया नहीं है बचपन से। तो, किसी 'टीम' के 'कैप्टन' की तरह आपके साथ बैठकर प्रश्नों को देखूँ, उनकी प्रदक्षिणा आपके साथ करूँ, हम मिल कर प्रश्न में से क्या अर्थ निकलता है—यह खोजें। प्रश्न पुष्प अपनी पंखुड़ियाँ खोलें और अपने में से ही उत्तर भी दें—ऐसी यह एक सामुदायिक यात्रा है, सामुदायिक एवं साझेदारी वाली जिज्ञासा है। यह नहीं कि कोई प्रश्न पूछें, दूसरा उत्तर दे। **It is a participational enbuiry. Not that one asks the question and another gives the answer.**

इसलिए यहाँ व्याख्यान या प्रवचन नहीं, केवल प्रतिसाद है जितना आवश्यक हो उतना। वहीं से देखें कि 'कुछ नहीं बोलना' 'कुछ नहीं करना' क्या'है ? कुछ न पाने—कुछ न करने के लिए'—क्या हम एक साथ रह सकते हैं ?—कुछ न करने के लिए'—शब्दों के किनारे छोड़कर, विचारों का पल्लू छोड़ दें; प्रार्थना-भजन आदि के पश्चात् स्वर और नाद के किनारे भी छोड़ दें। शब्द के परे जो शून्य का आकाश या अवकाश है, जो प्रभु का अन्तिम आवरण है, वहाँ तक हम जायें इन पाँच-सात दिनों में, एक-दूसरे की उपस्थिति की मदद से, एक दूसरे की जिज्ञासा की उत्कटता की मदद से, परस्पर की चित्त की एकाग्रता की मदद से, वहाँ तक हम पहुँच जायें—यह मौन सत्सङ्ग का हेतु है। नहीं तो सत्सङ्ग के नाम पर हम व्यक्ति-निष्ठ, व्यक्ति-केन्द्रित बन जायेंगे, और उसमें से एक पराधीनता आयेगी, आ सकती है। उसे टालना है। आत्मानुभवी और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मजिज्ञासु परस्पर साथ बैठें, उनका संवाद भी हो, लेकिन सख्य-मूलक सहयोग हो। सख्यमूलक सहयोग-परायण उनका जीवन हो;—कोई एक श्रेष्ठ, दूसरे कनिष्ठ हैं—और किसी को किसी के शरण जाना—रहना है—इस भूमिका से नहीं। दोनों मिल कर वरण करें प्रभु का, सत्य का। "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ"—यह भूमिका है मौन सत्सङ्ग की। थोड़ा अटपटा रास्ता है, क्योंकि इसमें कोई आश्रय लेने का अवकाश नहीं रहता। अपनी जिम्मेवारी किसी कन्धे पर डालने की गुञ्जाइश नहीं रहती। यह अटपटा जरूर है। लेकिन आपने पूछा था कि "संयम-सप्ताह और मौन सत्सङ्ग—इन दोनों की भूमिका समझा कर कहें।" तो मैं समझती हूँ कि वह स्पष्ट हुई होगी।

प्रश्न—मुझे लगता है मौन व्यक्ति के सन्दर्भ में है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध किसी प्रकार व्यक्त होने पर ही स्फुट होता है, और शब्द-संवाद उसे व्यक्त करने का, सम्बन्ध स्थापित करने का एक उत्तम साधन है। कृपया इस सन्दर्भ से आप के विचार प्रकट कीजियेगा।

उत्तर—मौन केवल व्यक्तिजीवन या समाज-जीवन से सम्बन्धित नहीं, बल्कि मानवीय चेतना में जो बुद्धि और विचारों के परे का आयाम है उसे खोजने का मार्ग है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

बुद्धि के परे कुछ है अवश्य। उसे 'वह' कह कर निर्देश करो, "The other" कहो, चेतना का चतुर्थ आयाम या ज्ञात से परे का आयाम कहो, जो भी वह है उसका सन्धान पाने का मार्ग है मौन। वह सन्धान पा लिया जाय तो आज जो समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों में, तथा व्यक्ति-जीवन में असन्तुलन हैं, तनाव-दबाव हैं, इन सबका निर्मूलन होने की सम्भावना है। मनुष्य का जन्म चिन्ता करने, विचारों-विकारों से ग्रस्त होने, तनाव-दबावों का शिकार बनने के लिये नहीं है। सभी इन्द्रियों का एवं मन-बुद्धि का सम्यक् उपयोग करते हुए जीवन के सभी आयामों में सन्तुलन साधने और इस (मनुष्य) शरीर में ही व्यक्त हो सकने वाले जीवन के चरम आयाम का सन्धान पाकर उस आयाम में जीवन जीने का पुरुषार्थ करने के लिये मानव जन्मा है। इसलिये मौन को केवल 'न बोलना' या 'बोलने का अभाव' न समझें। यह अत्यन्त विश्रान्त विश्रब्ध अवस्था है, इसमें असंख्यों अज्ञात शक्तियों-ऊर्जाओं का भण्डार भरा पड़ा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। मनुष्य-जीवन में ही परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी वाणियों का संचार होता है। इनमें से वैखरी-मध्यमा इन दो का सम्बन्ध संस्कारयुक्त चेतना से है और पश्यन्ती-परा का सम्बन्ध संस्कार-मुक्त या संस्कारातीत चेतना से है।

यह तो निर्विवाद है कि समाज-सम्बन्ध के लिये शब्द उपयुक्त है। आकाश का गुण है शब्द। इसलिये उसमें पार्थिवता बहुत कम है, चिन्मयता अधिक है। इसलिये यदि भुवनमनमोहिनी वाग्विलासिनी माँ शारदा के भण्डार से चित्कलिका-रूप शब्दों को चुनना, ग्रहण करना, उन शब्दों की पवित्रता बनाये रखना सध जाय तो अवश्य ही कुछ भी व्यक्त करने में शब्दों का सहज उपयोग होता है। पर क्या हम इसी रीति से, इसी हेतु से शब्दों का उपयोग करते हैं? भीतर टटोल कर, परख कर देखें! मन में जो है उसे छिपाने के लिये शब्दों का उपयोग नहीं करते हैं? असलियत छिपा कर कुछ दूसरा ही साबित करने के लिये शब्द नहीं बोलते हैं? ग़लतफ़हमियाँ किस तरह होती हैं? अभिव्यक्त होने के लिये, समझ और जानकारी लेने-देने के लिये शब्द सर्वथा उपयोगी हैं इसके बारे में तो दो मत हो ही नहीं सकते; किन्तु "चारों ही वाणियाँ, शृङ्गार हैं अविद्या का"—यह कहने वाले श्री ज्ञानेश्वर शब्द की मर्यादा कह गये हैं। शब्दों की उपयोगिता का क्षेत्र मर्यादित-सीमित है, इसलिये अब तक किसी भी रास्ते या उपायों से जो सुलझ नहीं सकी हैं ऐसी मानवीय समस्याओं को सुलझाने के लिये शब्दों के परे जाकर मौन की आवश्यकता है ऐसा मुझे लगता है। शून्य का सन्धान पाकर, शून्य का निष्कर्ष प्राशन करके उससे भी परे जाने की, आत्मस्थ होने की कला साधना मनुष्य को आवश्यक है, केवल अपनी व्यक्तिगत सिद्धि के लिए नहीं, परन्तु सम्पूर्ण मनुष्यजाति के लिये, मनुष्यजाति की ओर से यह आन्तरिक क्रान्ति साधनी चाहिये।

प्रश्न—मौन साधना कैसे की जाय? यह समझाने की कृपा करें। विचारों को आने दें या रोकें? मन को किसी बात पर केन्द्रित करें या नहीं?

अध्यात्म की तरफ़ झुकाव होने का सौभाग्य कब आता है? उससे भी आगे आत्मदर्शन की व्याकुलता कब जागती है? क्या प्रयत्न से उसे जगाया जा सकता है?

उत्तर—मौन साधना कैसे की जाय? यह प्रश्न उपस्थित हुआ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पहले तो 'साधना; शब्द को हम समझ लें। साधना क्यों करनी है। किसलिये करनी है ? किसने कहा है कि साधना की जाय ? मुझे लगता है कि साधना से प्रेम रखने वाले या उसके प्रति आकर्षित होने वाले लोग यदि साधना शब्द का अर्थ समझेंगे तो आधे से अधिक आकर्षण समाप्त हो जायेगा।

अध्यात्म 'साधना' में कुछ प्राप्त करने का अभिसन्धि (प्रयोजन) नहीं है, और शक्यता या सम्भावना भी नहीं है। यह कमाई का रास्ता नहीं। अतीन्द्रिय क्षेत्र में ऋद्धि-सिद्धि कमानी हो, शक्तियाँ जागृत करनी हों, अनुभूतियाँ लेनी हों—तो अध्यात्मसाधना का रास्ता न पकड़ें। यह प्राप्ति का क्षेत्र नहीं है।

"अर्जुना ! तू जैसा आहे तैसाचि अस।"

ज्ञानेश्वर ने वासुदेव-मुख से कहलाया है पार्थ को कि "हे पार्थ ! तुम जैसे हो वैसे ही रहो !" अपनी स्वस्थिति में, अपने स्व-रूप में, अपने निज-पद में जैसे हो वैसे रहो। साधना है अपना स्वरूप समझते हुए, उस स्वरूप में रहते हुए कैसे जीवन जिया जाय—यह समझने के लिए। अधिक से अधिक यह शिक्षणात्मक क्रिया हो सकती है; अशुद्धियों को विसर्जित करने की शोधन-क्रिया हो सकती है, अज्ञान के निराकरण की क्रिया हो सकती है। लेकिन इसमें कुछ कमाना है, कुछ पाना है—यह भ्रम हटा देना होगा। **It is not an acquisitive activity.** अहङ्कार आकर्षित होता है कि यह जो व्यक्त सृष्टि है उससे परे जो अव्यक्त, व्यापक सृष्टि है, उसमें कमाने का व्यापक क्षेत्र है, वहाँ बहुत-कुछ कमाने को मिलेगा।

अतः पहले अपने भीतर स्वयं को जाँच-परख लें ! स्वयं को पूछ लें कि साधना क्यों करनी है ? यदि कमाई का मोह है, यदि कुछ बनने की अभिलाषा है—

If the process of becoming attracts you; If the acquisitive activity enamours you—तो मुझे लगता है कि आप ग़लत दिशा में चलेंगे यदि साधना का मार्ग पकड़ेंगे। चित्त में यह स्पष्ट हो जाय कि यह प्राप्ति का क्षेत्र नहीं, उपलब्धि का क्षेत्र है, उपलब्धि होती है, वह करायी नहीं जाती; उपलब्धि घटना है। वह अपने आप होती है, हम वस्तुतः जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं, वैसे रहने में जो अन्तराय हैं—प्रत्यवाय हैं—विघ्न है बस उसको हटाने के लिये साधना है, कुछ बनने के लिए नहीं।

आप पूछ रहे हैं कि मौन-साधना कैसे की जाय ?

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।"

जीवन की जो परम सत्ता (The Ultimate Reality) सत्-ता, होनेपना है (to be-ness) वह अत्यन्त unmanifest रहती है। ऐसा अव्यक्त, अविकृत रहना—यह परम सत्य का स्वभाव है ऐसा दीखता है। हम इस ब्रह्माण्ड के एक उन्मेष हैं, a human being is condensed cosmos. ऐसी कोई ऊर्जा ब्रह्माण्ड में नहीं होगी जो पिण्ड में न हो। (भारतीय भाषा का जिस जीवन-शैली के साथ एवं संस्कृति के साथ सम्बन्ध हैं उन शब्दों का अनुबन्ध आपके सामने रखती हूँ। अंग्रेजी भाषा में बोलना होता है तो आधुनिक विज्ञान की भाषा में से शब्द लेने होते हैं।) 'मौन' का आशय है अपनी सत्ता की अव्यक्तता में रहना; अपने स्वरूप में, निजरूप में रहना। To be in the dimension of beingness is silence. मौन का अर्थ है अभिव्यक्ति-मुक्त स्थिति में रहना। वहाँ अभिव्यक्ति की आवश्यकता नहीं है।

मौन साधना के लिये इस तथ्य का भान आवश्यक है कि जीवन की मूल सत्ता अव्यक्त, अनभिव्यक्त है। वही स्पन्दित होकर व्यक्त रूप धारण करके आन्दोलित होती है, पदार्थों का रूप धारण करती है।

हमारा जीवन व्यक्त में व्यक्त के साथ चलता है, उसे टाला नहीं जा सकता, लेकिन व्यक्त में जो अनेकता है, रूप-रङ्ग-आकार-गुण आदि की विलक्षणता-विचित्रता-विविधता है, उससे आकर्षित होकर हम भूल जाते हैं कि इस विविधता के साथ हमारा सहजीवन है; हम इस अनेकता को, सारी सृष्टि को, सारे पदार्थों को अपना 'भोग्य' मान लेते हैं और स्वयं भोक्ता बन जाते हैं। The Universe is subservient to our desires, our ambitions—यह मनुष्य जाति को भ्रम है। इस भ्रम के कारण व्यक्त-सृष्टि के साथ सहजीवन नहीं हो पाता, उपभोग की वासना प्रबल बनती है और उपभोग से वह वासना कभी शान्त नहीं होती।

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते॥"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पदार्थों के उपभोग से उपभोग की कामना शान्त नहीं होती। बल्कि घी पड़ने से अग्नि की तरह वह और बढ़ती जाती है। उपभोग को सेवन पर लाना, सेवन को संयम पर ले जाना यह कर्म-कौशल योग है, यही जीवन जीने का रहस्य-रसायन 'क़ीमया' है।

हम व्यक्त के साथ इतने व्यस्त रहते हैं और व्यक्त की विविधता से ग्रस्त रहते हैं, व्यक्त की गतियों की मोहक-मादकता में धुत इतने उलझे रहते हैं कि जीवन का जो दूसरा अंग है गतिमुक्त, उस गतिमुक्त स्थिरता में जो जीवन की गहन गम्भीरता है उसकी उपेक्षा अवहेलना होती है। मौन साधना का पहला प्रयोजन है कि व्यक्त के साथ व्यस्त-व्यग्र रहने के कारण जीवन जो इतना एकांगी बन गया है उसमें से निकलना। जो एकांगी होता है वह असन्तुलित होता ही है। Every imbalance is impurity, असन्तुलन शारीरिक हो या मानसिक, वह अशुद्धि ही है; अशुद्धि एक प्रकार का व्याधि है।

इस असन्तुलन, अशुद्धि को हटाना हो तो मनुष्य समय निकालता है जीवन के दूसरे अङ्ग में रहने के लिये। दैनिक-सामाजिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये व्यक्त के साथ रहता है, और इस व्यक्त के पीछे, व्यक्त के अधिष्ठान रूप में जो अव्यक्त सत्ता है उसमें उसके साथ जीने के लिये समय निकालता है। The manifest is enveloped, surrounded by the unmanifest, invisible.

वह जो जीवन का अव्यक्त आयाम (dimension of unmanifest beingness) है, अपनी जो गतिमुक्त सत्ता है, उसके साथ परिचय पाया जाय, उससे सम्पर्क साधा जाय, और व्यक्त में जीते-जीते अव्यक्त में भी जिया जाय—इसको यदि इच्छा हो, जीवन को एकाङ्गी, असन्तुलित न न रहने देकर सर्वाङ्ग सन्तुलित जीवन को समझने व जीने की इच्छा हो तो मौन साधना का प्रारम्भ करें।

आप ने पूछा है "साधना कैसे करें ?" इसलिये कह रही हूँ कि पहले साधना क्या है इसे समझ लें, मौन का अभिप्राय जान लें, साधना क्यों करनी है इसे परख लें, तब फिर यदि इच्छा शेष रहती है तो साधना के लिये समय निकालें। मैं तो सूचना-मात्र दे सकती हूँ। यह कोई पद्धति या प्रक्रिया नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही अपने भीतर अपना पथ बना लेना होता है अपने संस्कारों के अनुसार। आपके जो वंशादिगत संस्कार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होंगे, आपकी बुद्धि की, स्थिति की दशा और चित्त-शरीर की अवस्था होगी उसमें से उसके अनुसार मार्ग निकलेगा। जितने व्यक्ति उतने साधना के मार्ग होंगे। कुछ सामान्य सूचनायें दी जा सकती हैं, लेकिन साधना का रास्ता आपको स्वयं चुनना या बनाना होगा।

शरीर-मन-बुद्धि की जो चञ्चलता है व्यक्त के आकर्षण के कारण, उस चञ्चलता का प्रतिकार-परिहार करने के लिये स्वशिक्षण के लिये समय निकालना पड़ेगा। स्वशिक्षण ही साधना है, Sadhana is nothing but self-education. It is nothing but self help for learning. equiping ourselves with humility to learn.

शिक्षण के लिये अपने आपको तैयार करने के सिवा, सीखने के लिये नम्रता एवं तत्परता से चित्त भरने के सिवा साधना कुछ नहीं है। वह जीवन की अग्रिमता बननी चाहिये, बाहर से तो कोई अनिवार्यता या दबाव है नहीं कि जैसे व्यक्त के साथ रहते हों वैसे अव्यक्त के साथ भी रहो ही! केवल अपने भीतर की जिज्ञासा की उत्कटता ही साधना के लिये प्रेरक-परिबल बन सकती है। कोई घण्टी बजा कर, शिक्षण-वर्गों (Training classes) में बैठा कर आपसे साधना करवा लें—यह सम्भव नहीं है, वैज्ञानिक-युग में वह संगत नहीं है।

आप स्वयं ही समय निकालेंगे, साधना के लिये उपयुक्त योग्य आहार-विहार पहले साध लेंगे, जिससे आपके नाड़ीतन्त्र व रसायनतन्त्र (neurochemical system) में क्षोभ कम रहे। क्योंकि वहाँ यदि क्षोभ रहता है तो चञ्चलता समाप्त होना सम्भव नहीं। आप प्रत्येक कदम को समझ लें, समझ कर चलें। अपने चिन्तन से समझें, मित्रों से चर्चा करके समझें, अनुभवियों के साथ सहचिन्तन करके समझें। क्योंकि समझ ही महा-ओषधि है। दिव्य औषध है। Understanding is the alchemy of life.)

वह शब्दज्ञान से अलग है। शब्दज्ञान उसे मदद-भर करता है। आप अपने प्रयोग व अनुभव से यह समझ लें कि कौन-सा आहार मेरे शरीर पर क्या असर करता है? किस प्रकार का आहार करूँ तो शरीर स्वस्थ रहेगा? आहार स्वस्थ रहने के लिये है। स्वस्थता में सौष्ठव है, सौन्दर्य है। सप्रमाणता है, स्फूर्ति है, उत्साह है।

अपने-अपने दैनिक जीवन-क्षेत्र के अनुसार आहार में अन्तर होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किसी को अखाड़े में कुश्ती लड़नी है तो आहार एक-प्रकार का होगा; केवल बौद्धिक काम करने हैं तो आहार दूसरे प्रकार का होगा। अध्यात्म—साधना करना चाहते हों तो केवल बाह्य शारीरिक मांस-मज्जा व ग्रन्थियों की (muscular, glandural) शक्तियाँ तो हमें बढ़ानी नहीं हैं। इसलिये आहार ऐसा होगा जो स्वस्थ रखेगा और उस स्वास्थ्य में शक्ति-स्फूर्ति एवं स्नायविक दृढ़ता की सप्रमाणता रहेगी। सप्रमाणता व स्वास्थ्य जीवन का सौन्दर्य है, ऐश्वर्य है।

भोजन-सम्बन्धी आहार की तरह ही देखने-सुनने-बोलने के द्वारा क्या भीतर लिया जाता है इसे भी देखना चाहिये। "क्या बोलूँ, कैसे बोलूँ जिससे मेरी वाणी की शक्ति और स्फूर्ति बनी रहे।" इसका दुरुपयोग नहीं करना है, इसका निरोध भी नहीं करना है। संयम के बिन्दु पर वाणी-व्यवहार को लाकर रखेंगे। और जीवनचर्या, व्यवसाय, धन्धा, परिवार-पड़ोसी-कर्मचारी-परिजन-सहकर्मी साथी आदि सबके प्रति होने वाला व्यवहार आप अध्यात्म-जिज्ञासा एवं अपनी समझ व लक्ष्य के अनुरूप बना लेंगे।

योग्य आहार-विहार द्वारा आपने शरीर के बाहरी-भीतरी सभी अंगों (शरीर के रचनागत अवयवों तथा सूक्ष्म इन्द्रियों व मन-बुद्धि) को स्वस्थ संयत सन्तुलित बना लिया। यह आवश्यक है। **The foundation of your enquiry should be laid in the body.**

यह कर लेने पर स्वशिक्षण के लिये जो समय आप निकालते हैं उसमें आप एकान्त में बैठेंगे। घर के किसी शान्त-एकान्त कोने में, छत पर या बगीचे में एक स्वच्छ आसन में बैठेगे। कुछ करना नहीं है, कुछ होना, बनना या कुछ देखना नहीं, पाना नहीं, कमाना नहीं है। अपना जो निजपन केवल होनेपना है उसी में स्थित रहना है। शरीर को कुछ समय तक सीधा (Horizontal) सिर-गर्दन-पीठ-मेरुदण्ड (रीढ़) कमर समरेखा में स्थिर रखते हुए शान्त बैठने का शिक्षण देंगे। कुछ भी गति हलचल, हिलना-डुलना किये बिना, गम्भीर सहज श्वासमात्र लेता हुआ चैन से आधा-पौन-एक-डेढ़ घण्टा शरीर शान्त स्वस्थ बैठ सके इसका अभ्यास करेंगे। श्वासोच्छ्वास लयबद्ध चले यह देखा जायेगा। क्योंकि शरीर का अस्तित्व-स्वयं अपने आप में एक सङ्गीत है यदि हम उसे बेसुरा न बनायें; बेताला न बनायें। इस तरह आप ने शरीर को सब तरह से स्वस्थ बैठने को शिक्षा दे दी। **You have equiped the body.** समर्थ बना दिया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

40-45 मिनिट भी शरीर स्थिरता से बैठ सके तो मान लेना चाहिये कि इतना पर्याप्त है।

बैठने के साथ-साथ यह भी किया कि बोलना और शब्द पढ़ना-सुनना नहीं है, तो वाणी का उतना व्यापार (गति चलना) भी शान्त हो गया। आँखों से कुछ भी देखा जाता है—दृष्टि का किसी भी वस्तु से, पदार्थ से संयोग होता है तो उसका नाम याद आता है, नाम के साथ गुण याद आते हैं, गुणों के साथ मूल्यांकन याद आता है; वह पदार्थ अपने लिये प्रिय है या अप्रिय है इसका भी भान जाग उठता है। उसका अपने साथ सम्बन्ध याद आता है, उसके साथ जुड़ी भावनायें और प्रतिक्रियायें मन में उठती हैं और वह सभी शब्दात्मक होती हैं। इसलिये मौन-अभ्यास के लिये बैठने पर मनुष्य आँखें बन्द कर लेता है, आँखें मूँदे हुए शान्त बैठता है।

यह आँख बन्द रखना भी ज़ोर से दबाकर नहीं, सख्ती से नहीं। अपने साथ या किसी के भी साथ हिंसा, ज़ोर-जबर्दस्ती साधना में नहीं चल सकती। किसी भी तरह की हिंसा न हो इसका ख्याल रहे। कोमलता से आँखें मूँद ली जाती हैं। किसी भी तरह का दबाव देखने-सुनने की नाड़ियों (Optical and auditary nerves) पर नहीं होना चाहिये। जोर से आँख बन्द रखने से थोड़ी देर में ही सिर दुखने लगता है। शान्त बैठना भी उतना आसान नहीं है जितना पहले प्रतीत होता है। क्योंकि हमेशा चञ्चलता में पले हुए व्यक्ति के लिये अचञ्चल स्थिर चुपचाप अकेले कुछ भी न करते-न देखते न-सुनते हुए, शरीर को भी हिलाये-डुलाये बिना बैठना एक बहुत बड़ी बात हो जाती है।

मान लीजिये इतना हो गया कि शरीर स्थिर है, आँखें मूंदी है, वाणी विश्रब्ध-शान्त है। ऐसे में अपना जो अन्तरङ्ग है, अपना भीतरी स्वरूप सामने आता है विचारों के रूप में। (आप ने पूछा है न ! कि क्या करें ? विचारों को रोकें ?) ये विचार परद्रव्य नहीं हैं, आपके अस्तित्व का ही एक अंश हैं। उन्हें रोकेंगे कैसे ? और क्यों ? विचारों को देखें; वे आप का प्रतिबिम्ब हैं। विचारों की गति, भावनाओं की गति, स्मृतियाँ उभर आना, कल्पनाओं का नर्तन होना—ये सब आपका प्रतिबिम्ब हैं। इन्हें देखते रहें ! समझ रखें कि इस तरह वास्तव में आप अपने आपको देख रहे हैं। रोकियेगा किसे ? विचार-रूप में आप ही हैं ! दर्पण के सामने आप बैठे हैं, तब आपको दिखे कि आपका शरीर बेडौल है, बेढंगा है, कुरूप है, तो क्या कीजियेगा ? शरीर फेंका तो नहीं जा सकता ! "शरीरमाद्यं खलु धर्म-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधनम्" वही तो माध्यम है कुछ भी करने व जीने का ! वैसे, शान्त बैठने पर आपके जो विचार सामने आ रहे हैं वे आप ही हैं, और आप हैं याने पूरी मनुष्य जाति है। आप दर्पण में अपने आपको देखते हैं तब वास्तव में पूरी मनुष्य जाति को देखते हैं, मानव को देखते हैं आप, जो मानव सदियों से बनता आया। वैसे, जो विचार दिखते हैं भावनायें, वासनायें, इच्छायें आपको दिखाई देती है, क्रोध-लोभ-ईर्ष्या-प्रेम जो भी दिखता हो, वह स्वरूप जैसे आपका यानी एक व्यक्ति का है, वैसे वही स्वरूप पूरी मानव जाति का है। The content of observation is Totality in the particular. एक विशिष्ट व्यक्ति-पदार्थ में जो दिखाई देता है उसमें सारा विश्व समाया है।

इस तरह एक किसी नाम-रूप-गुण-विशिष्ट व्यक्ति-पदार्थ को देखना जैसे देह के स्तर पर होता है, वैसे विचार-भावना के स्तर पर भी वही—अंशी का अंश के साथ व्यक्ति का विश्व के साथ अनुबन्ध होना चाहिये। क्योंकि जिसे मन कहते हैं—चेतना कहते हैं—उसमें ये सारे विचार-विकार और संस्कार भी भरे पड़े हैं। ये फेंके या दबाये नहीं जा सकते। जैसे शरीर को मिटाना आत्महनन है, वैसे विचारों से दुश्मनी मानना एक प्रकार का आत्महनन है।

समझ लेना व स्वीकार करना चाहिये कि ये हैं, ऐसे हैं; और ये मेरे व्यवहार पर नियन्त्रण रखते हैं, इन्हीं के कारण व्यवहार में कठिनाइयाँ पैदा होती हैं, अन्तराय-अवरोध पैदा होते हैं। इसका भान होगा देखने से। अतः हमें अपने आपको देखना सीखना है।

आप ने पूछा है कि "विचारों को आने दें या रोकें?" पर, न तो आप के रोकने से विचार रुकेंगे, न आप के मना करने से उनका आना थमेगा, न ही आप के बुलाने या चाहने से आप के मनपसन्द ही विचार बने रहेंगे। क्योंकि आप जो हैं वही विचार है। आप पूछते हैं—'मन को किसी बात पर केन्द्रित करें या नहीं ?' तो—आप कहीं केन्द्रित करना चाहते हों तो करें; पर मन को केन्द्रित करने का अर्थ है एकाग्र करना। बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षण में यह एकाग्रता सिखानी चाहिये; इससे मन सबल, शक्तिशाली बनता है। लेकिन आप चाहते हैं मौन-साधना अर्थात् मन को शान्त करके मन के परे अपने सत्त्व में स्थित होना। उत्तर दिशा में जाना चाहते हैं। अब मन को ही एक तरफ़ से हटाकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

दूसरी तरफ़ चलायेंगे—व्यग्रता-अनेकाग्रता से हटाकर एकाग्र-एक में केन्द्रित करेंगे तो भी रहा तो मन की ही गति का क्षेत्र। मौन में रहना चाहते हों तो उसका अर्थ होगा एकाग्रता-अनेकाग्रता से ऊपर उठकर सर्व-समावेशक स्थिति में आना। सर्वाग्र होना है। जीवन की सर्वाग्रता-सर्वाकारता को देखना व जीना है। ऐसे ध्यान या मौन के पथ के साथ मन की एकाग्रता या केन्द्रीकरण को मिलाइये नहीं। क्योंकि विशिष्ट एकाग्रीकरण से भीतर की सुप्त शक्तियाँ प्रक्षुब्ध होंगी, अनुभूतियाँ जागृत होंगी, व्यक्त होने के लिये उनकी छटपटाहट होगी। तब रास्ता उलट जायेगा। जाना था उत्तर की ओर, चल पड़े पश्चिम में—ऐसा होगा। अतः चित्त को न एकाग्र करें, न अनेकाग्र करें, बस देखते रहें। कहाँ तक देखते रहेंगे? 'देखतें देखणें नुरोनियाँ ठेलें।' देखते-देखते 'मैं देख रहा हूँ'—यह भान मिट जाय, शेष रहे बस देखना, देखने वाला नहीं। अँग्रेजी में इसे ही Observation without the observer कहते हैं। देखने वाला शान्त हो जाय, बस देखने की ऊर्जा शेष रहे। किसी विषय-मात्र को देखने के लिये नहीं, विषयनिरपेक्ष देखने की दशा या आयाम रहे। The dimension of attentiveness unrelated to any subject or object.

जो विशुद्ध द्रष्टृत्व वैश्विक प्रज्ञा का उपादान है और हमारा उपादान है, वहाँ तक तो मनुष्य प्रयत्न से पहुंच सकता है। जब देखने वाला शान्त हो जाय और देखने का भान भी शान्त हो जाय तो वह जो विषयनिरपेक्ष विशुद्ध द्रष्टृत्व है, वही मौन की तरफ़ ले जायेगा।

आप ने पूछा है कि अध्यात्म की तरफ़ प्रयाण होने का सौभाग्य कब आता है? इस पर यही कह सकते हैं कि जब विषयसुख का अधूरापन (incompleteness of sensual and sexual pleasure and aquistions) प्रतीत हो। दैहिक-मानसिक-भौतिक-बौद्धिक स्तर पर कितना ही प्राप्त कर लो—वे सारी प्राप्तियाँ अपने आप में अपूर्ण हैं, ज्ञान भी अपूर्ण है—यह भान बना रहे, और सब सुख प्राप्त होने पर भी कोई अबूझ अभाव भीतर खटकता रहे, "Something is missing"—ऐसा लगता हो; इस तरह दैहिक-मानसिक-बौद्धिक उपलब्धियों का अधूरापन संवेदित होने लगे। यह संवेदनशीलता जब तक नहीं आती और चिन्तन-मननअध्ययन से समझ भी नहीं आती, तब तक अध्यात्म की प्रेरणा नहीं जगी होती। बाह्य सामग्री से होनेवाले सुख का अधूरापन या तो संवेदनशीलता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से प्रतीत हो, या बुद्धि से समझ में आ जाय, तब अध्यात्म की ओर चलने को प्रेरणा होती है।

"उससे आगे आत्मदर्शन की व्याकुलता कब जागती है ?"—आत्मार्थियों की संगत में रहने से और यदि आत्मानुभवी व्यक्तियों से आप का मिलन हो जाय, तो उनके साथ रहने से। जो आप की स्वाधीनता पर प्रहार नहीं करेंगे; आप जैसे हैं वैसे आप का स्वीकार होगा; आप को 'सत्य' का 'शिष्यत्व' ग्रहण करने की दीक्षा देंगे, अपना शिष्य नहीं बनायेंगे। ऐसे आत्मानुभवी मिले, उनका जीवन देखने का अवसर मिले—

"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव !
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ?"

स्थितप्रज्ञ व्यक्ति कैसे उठते-बैठते-बोलते-चलते हैं ? अपने जीवन में जितना क्रिया-कलाप करना पड़ता है उसमें से कैसे गुज़रते हैं ? सुख में से, वे कैसे गुज़रते हैं ?—बहुत कुछ सीखना देखने से भी हो जाता है। हो सकता है कि ऐसे सत्संग में यह व्याकुलता जाग उठे ! क्योंकि सत्संग में आप के अहंकार को जीने का मौका नहीं मिलता है और आत्मानुभवी के पास तो बिल्कुल मौका नहीं है; जहाँ अहंकार उठा कि आत्मानुभवी तुरन्त आप को दिखा देंगे कि देखो ! यह यहाँ पड़ा है ! अहंकार की चालें आप की पकड़ में नहीं आती; वह आप को पकड़ा देता है। आप को वह अपने पास से कुछ नहीं देता, जो आप के पास है और जो आप देख नहीं पा रहे हैं उतना-सा दिखा देता है। हो सकता है इसी से वह व्याकुलता जाग उठे।

मित्रो ! इस तर्कप्रधान, शब्दज्ञान-प्रधान जीवनपद्धति में हृदय इतने कठोर हो गये हैं, संवेदनशीलता इतनी बधिर हो गई है कि एक तो क्या दस-दस आत्मानुभवी घोल कर पिलाये जायें तो भी हम हिलते-डुलते नहीं हैं। Intellectual appriciation (बौद्धिक प्रशंसा, समर्थन, दाद देना) कर लेते हैं, बौद्धिक निष्ठायें (Conventions) भी बना लेते हैं। लेकिन अपने जीवन जीने की शैली जैसी हमें चाहिये—हमें अनुकूल व सुविधाजनक ही, या जिसे हम सही मानते हों—वही रखते हैं। तो वह संवेदनशीलता-व्याकुलता जाग नहीं पाती।

कभी लगता भी है कि व्याकुलता जागी है—अपूर्णता का भान होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, अपने भीतर-बाहर जो जीवन है उसमें जो पूर्णता-निष्कलङ्क अखण्डता पड़ी है, निर्दोष लावण्य पड़ा है—उसका 'होनेपना' महसूस (feel) होता है। यह संवेदनशीलता जागती है। पहले प्रतीति आती है। एक ओर मर्यादाओं का भान है दूसरी तरफ़ अमर्याद अस्तित्व की आहट मिलती है। यह संवेदनशीलता हो तो वह व्याकुलता जाग उठती है।

प्रश्न—मौन सधा है या नहीं—यह कैसे समझें ?

उत्तर—चित्त में संकल्प-विकल्प का न उठना यही मौन का आशय है। प्राप्त कर्त्तव्य अपनी शक्ति-मति के अनुसार करते रहना, प्राप्त जिम्मेवारियों को यथाशक्ति यथामति निभाते रहना चलता है, लेकिन उसमें से 'अपने लिये कुछ प्राप्त हो', 'यह नहीं, वह प्राप्त हो'—ऐसे संकल्प-विकल्प चित्त में उठते नहीं हैं। यह मौन है। मौन का हेतु ही चित्त की संकल्प-विकल्प-मुक्त अवस्था है। क्योंकि संकल्प ही क्लेश देता है। संकल्प-विकल्प क्लेश पैदा करते हैं।

"क्लेश-कर्म-निवृत्तिः कैवल्यम्"

(क्लेशों और उनसे उत्पन्न तथा उन्हें उत्पन्न करने वाले कर्मों का निवृत्त-विसर्जित हो जाना ही कैवल्य है।)

सामने आयी हुई जिम्मेवारियों को आप सभानता से पूरी करते जाते हैं, जो परिणाम आये उसे जीते चले जाते हैं, उसमें से अपने लिये पृथक् कुछ फल नहीं चाहते। मनुष्य देह मिला यही तो इतना बड़ा फल है। इससे अधिक और क्या प्राप्त करना है मनुष्य को ? जो संस्कार हैं उन्हें संवादी ढंग से व्यक्त करते चले गये, जो संकेत मिले हैं संस्कृति में उन्हें समझते चले गये, जीते चले गये। जीने का अवसर मिलना—यह प्रभु का कितना बड़ा अनुग्रह है ? आँखों से देखना, कानों से सुनना, पाँवों से चलना, त्वचा से स्पर्श पाना, जिह्वा से स्वाद लेना और वाणी द्वारा अभिव्यक्ति कर पाना, नासिका से घ्राण लेना (गन्ध की संवेदना होना), हाथों से सब अभीष्ट कार्य कर पाना—यह प्रभु का कितना महान् प्रसाद है। इस प्रसाद का आनन्दपूर्वक सेवन करते हुए, चित्त की दशा संकल्प-विकल्प-मुक्त सर्वदा सम रहते हुए, इन्द्रियों में सन्तुलन बने रहते हुए प्रतिपल का जीवन जीना सध जाता है, तब जानिये कि मौन सधा है। Silence is a way of living. मौन जीवन-पद्धति है। वह किसी क्रिया-प्रक्रिया का नाम नहीं। चित्त की समता, संकल्प-विकल्प-मुक्त स्थिति के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभ्यास के लिये भले ही आप कुछ घण्टे प्रतिदिन बैठिये, चेतना को सम्पूर्ण विश्रान्ति का अवसर देने के लिये बैठिये। लेकिन उसमें से निष्पन्न होनी चाहिये एक चेतना की अवस्था—जिसमें संकल्प-विकल्प उठते ही नहीं। जो जैसा है वैसा देखना, उसका ज्यों का त्यों स्वीकार करना, अन्याय हो तो प्रतिकार करना—जो भी करना आवश्यक हो वह व्यक्ति करता चला जाता है।

प्रश्न—आप कहती हैं "जीवन जीने के लिये है।" वह हो तो, "इच्छा मरण की कानून में स्वीकृति होनी चाहिये",—यह जो कहा जाता है, और गांधीजी ने जो अनेक बार 'आमरण अनशन' के प्रयोग किये—उसके बारे में आप का क्या कहना है ?

उत्तर—महात्मा गांधीजी के सम्पर्क में मैं कभी नहीं आयी। न उनके निकट जाने, उनका जीवन देखने का अवसर कभी मुझे प्राप्त हुआ। लेकिन जो पढ़ा है और आप्तजनों से सुना है उससे जाना कि उन्होंने आमरण अनशन को भी अहिंसात्मक सत्याग्रह का एक शस्त्र बनाया था। वह उन्होंने उचित किया या अनुचित किया—यह सवाल उठाया जा सकता है, लेकिन आप के प्रश्न के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति शरीर के आधि-व्याधियों से अतिशय ग्रस्त है, जब तक जीना पड़े तब तक अपंग दशा में ही रहना होगा ऐसी हालत है—तब यदि वह व्यक्ति उस कष्ट में से मुक्त होना चाहे—तो उस स्थिति में इच्छामरण विहित हो सकता है। सन्त विनोबाजी ने कहा कि "मैं रोग से नहीं मारा जाऊँगा—योग से मरूँगा।" इसलिये जब उनका शरीर व्याधि से मुक्त हुआ, अनेको चिकित्सकों से पूछ-परख लिया कि कोई व्याधि का चिह्न शरीर में नहीं है; तब कहा कि "अब कल से पानी भी नहीं लेंगे। वाणी भी बन्द, पानी भी बन्द।" ऐसे मौन के सात दिन बाद "I am sailing" "मैं चला" कह कर उन्होंने शरीर छोड़ दिया :

'इच्छामरण' का कानून बनना चाहिये या नहीं— इसकी राय मैं नहीं दे सकती; क्योंकि इस देश में कानून बनते हैं तोड़ने के लिये, विपर्यास करने के लिये; कानून बनते हैं स्थापित हितों या स्वार्थ-सिद्धि के लिये। और कानून किसी ने तोड़ा है या नहीं तोड़ा—इसका निर्णय होता है न्यायालयों में, जहाँ कि न्याय बिकता है, खरीदा जाता है। इसलिये कानून बनने-न-बनने की चर्चा में उतरना मुझे रुचिकर नहीं। लेकिन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैं मानती हूँ कि किसी व्यक्ति को सभान अवस्था में, पूरी चेतना में ऐसा लगता है कि मेरा शरीर इतना जर्जर है कि जब तक प्राण रहें तब तक अपंग-दशा में रहना पड़ेगा, तो उसे स्वाधीनता होनी चाहिये निर्णय करने की।

प्रश्न—माँ-बाप की मृत्यु के बाद पुत्र व परिवार श्राद्धादि अनुष्ठान, दान, विद्यादान, प्रार्थना, अन्य कोई सत्कर्म करें तो उन (दिवंगत माता-पिता) के जीवों को शान्ति मिलेगी क्या ?

उत्तर—उनके जीवों को शान्ति मिले या न मिले, पुत्र-आदि को तो शान्ति मिलेगी ही। आज तो मृत्यु की व्याख्या बदल रही है। किस बिन्दु पर कहेंगे कि मृत्यु हो गई है ? यह आजकल विवादास्पद प्रश्न बना हुआ है, इसकी छानबीन चल रही है। इसलिये "मृत" के जीव को शान्ति मिलेगी या नहीं—यह प्रश्न उठाने के हम अधिकारी हैं क्या ? सोचना चाहिये।

जो गुज़र गये हैं वे आसक्ति या मोह की दशा में गुज़रे हैं ? धन-दौलत की वासना, बेटे-बेटी परिवार का मोह क्या अन्तिम क्षण तक उनके चित्त को घेरे रहा है ? उसी में छटपटाते हुए उन्हें विदा होना पड़ा है ? मृत्यु वेदनामय रही है ? ऐसा यदि हो तो देखना पड़ता है कि उनका मन यहाँ अटका हुआ तो नहीं है ? मृत्यु की घटना अटल होने पर भी मृत्यु का स्वीकार इस धर्म-प्रधान देश में बहुत कम है, उसे संकट मानते हैं, अभद्र, अशुचि, अमंगल मानते हैं। उसकी चर्चा भी करने नहीं देते। गुज़र गये हुए सम्बन्धी के बारे में अपने मन में शंका उठती है कि वह आत्मा यहीं तो नहीं घूमती रहेगी ? कितने दिन घूमेगी ? दस दिन ! पन्द्रह दिन ! महीना भर ! साल पूरा होने तक !—ऐसे समय उनके वियोग में रोने से प्रार्थना करना क्या बुरा है ? उनके स्मरण में उनके नामसे आप विद्यार्थी की मदद करते हैं तो क्या बुरा है ? लेकिन यह सब अपनी ही सांत्वना-समाधान (our consolation) के लिये हैं।

मृत्यु वैज्ञानिक दृष्टि से अभी रहस्य है। मृत्यु के बाद सभी ऊर्जायें एक साथ चली जाती हैं या कुछ ऊर्जायें कुछ समय तक बनी रहती हैं ? उनके Photo भी लिये गये हें, उनके स्पन्दन और प्रकाश देखे गये हैं। किन्तु इस प्रश्न पर चर्चा करना इस (शिविर के) सन्दर्भ व प्रसंग के बाहर की बात है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—कुछ भीतरी कारणों से मौन साधना सातत्य से नहीं कर पा रहा हूँ। मौन-ध्यान-साधना सातत्य-पूर्वक कैसे की जा सके, इस विषय में कृपया मार्ग दर्शन करें।

उत्तर—किसी भी बाह्य अथवा आन्तरिक कारण से रोज की नींद लेना या भोजन करना छूटता है क्या ? वह कैसे प्रतिदिन अवश्य होता ही है ? इसका कारण है कि जब शरीर में क्षुधा या निद्रा नाम की जगदम्बा प्रकट होती है, वह रोम-रोम में व्याप्त हो जाती है, उसकी तृप्ति का उपाय किये बिना शरीर-मन-बुद्धि को चैन नहीं पड़ती। इसी तरह जहाँ मन की समस्त गतियाँ शान्त होती हैं, विचार, विकार सिमट जाते हैं—ऐसे नये आयाम की भूख-प्यास हमारे प्राणों को लगी है क्या ? उसके सिवा जीवन में तेज, ओज, आनन्द नहीं—ऐसा प्रतीत होता है क्या ? वह भूख हो तो साधना में सातत्य अवश्य रहेगा। सातत्य के लिये अपेक्षित है उसकी अनिवार्यता प्रतीत होना। अधिकतर केवल बौद्धिक कौतूहल होता है कि जितना दिखाई-सुनाई देता है उससे आगे, उससे परे क्या है ? जरा देखें तो ! या तो, समाज में रहते हुए जिन्दगी में जो बहुत सारे तनाव-दबाव आते है, मान-अपमान, यश-अपयश, सहन करने पड़ते हैं, इनसे थकान होती है, ऊब होती है। उस थकान या ऊब के कारण भी मनुष्य कुछ समय सारे जंजाल से दूर रहने के लिये मौन-ध्यान या जप आदि की ओर आता है। वह एक negative energy (व्यतिरेकात्मक प्रवृत्ति का जोर) है। वह वैराग्य नहीं है। वैराग्य का अर्थ है प्रभुसत्ता के प्रति विशेष अनुराग होना, उस प्रभु-अनुराग के कारण बाह्य (तन-मन-बुद्धि को सुखद लगने वाले) विषयों में रस न रहना। 'मेरे प्रति अनुरक्ति। यही विषयों से विरक्ति' प्रभुप्रीति का आनुषङ्गिक परिणाम है वैराग्य ! जो लोग दुनियादारी से ऊबने के कारण अध्यात्म या आत्म-साधना की ओर मुड़ते हैं, उनका सातत्य कैसे रहेगा ? बौद्धिक कुतूहल या कोई उद्वेग यदि साधना की ओर मुड़ने में प्रेरक रहे हों तो सातत्य नहीं रहता।

और एक कारण है कि हमारे मन और शरीर को स्वातन्त्र्य की आदत नहीं है। कोई हमसे कुछ करवा ले ! अनिवार्यता के दबाव से ही कुछ भी करना होता है। विद्यालय में कार्यालय में समय पर पहुँचना है, उसके लिये तैयार होना है, इसलिये समय से उठना पड़ता है। छुट्टी हो तो मन-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माने तौर पर पड़े रहेंगे। The Compulsion of situation obliges us to react. परिस्थिति की जबर्दस्ती ही हमसे काम (प्रतिक्रिया रूप ही) करा लेती है। कोई दबाव अपने ऊपर लाना, फिर उसकी प्रतिक्रिया करना—ऐसी प्रतिक्रियाओं की श्रृंखला को ही हम जीवन जीना मान रहे हैं। स्वाग्रत्त कर्म हमारे जीवन में कतई रह नहीं गया है। अलग-अलग स्तरों की, अलग-अलग प्रकार की प्रतिक्रियाओं में ही अपना जीवन बीत रहा है। ये प्रतिक्रियायें भी हमारी अपनी मौलिक नहीं, कहीं न कहीं से उधार लाई हुई, अनुकरण की हुई हैं। सो भी हम करते नहीं, जब तक अनिवार्यता का दबाव या चाबुक नहीं पड़ता, हम कुछ नहीं करते। मौन-ध्यान में बैठने के लिये भला कौन हम पर दबाव लायेगा या जबर्दस्ती करेगा? इसलिये चाहते हैं कि कोई 'गुरु' हों, वे हमें कोई व्रत-नियम-अनुष्ठान दे दें 'उसका पालन न करने पर पाप होगा'—कह दें। वे ही हमसे साधना-कर्म करवा लें। क्या किया जाय। आयु बढ़ जाने पर भी चित्त में ऐसी बालिशता रहती है।

यदि अध्यात्म में सहज रुचि हो हृदय में, जैसी कि बच्चों को खेलने में होती है, कलाकारों को अपनी कला में होती है, वैसे हमें यदि रुचि हो मन के उस पार के आयाम को देखने और उसमें जीने की, और उस आयाम से होने वाले परिवर्तन को जीवन में लाने की—उसकी यदि सच्ची भूख लगी हो (यह नहीं कि बुद्धि को कौतूहल है या बहुत लोग कहते हैं मौन-ध्यान करना चाहिये इसलिये हम भी करें) भीतर से यह लगता हो कि रोज़-रोज़ उन्हीं सुख-दुःखों का पुनरावर्तन कब तक करते रहना होगा? इनसे आगे जाने का कोई उपाय हो सकता है या नहीं? 'मेरा-तेरा'-पन, राग-द्वेष, 'अपना-पराया'-पन आदि के पुनरावर्तन में ऊब और थकान महसूस होती हो तो मनुष्य स्वयं ही अवसर ताक़ता रहेगा मौन-ध्यान में बैठने के लिये! तब सातत्य के लिये कोई उपाय नहीं करना पड़ता।

यदि भीतर अध्यात्म की भूख न हो, दूसरों की देखा-देखी या पुण्य के लालच से भजन-पूजन या जप-ध्यान के लिये घड़ी-आध घड़ी बैठते हों तो सातत्य नहीं रह सकता, क्योंकि मन को पचासों बहाने मिल जाते हैं, न बैठने के लिये। घर में अतिथि हैं, कोई बीमार है, सम्बन्धियों या मित्रों के यहाँ कोई काम पड़ा है, अपना ही सिर-पेट-पाँव दुखता है, या और कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी। घर-परिवार में किसी की अपमृत्यु हो गई तो सारा आक्रोश 'भगवान्' पर ही उँडेला जाता है कि हम इतने सज्जन-सदाचारी हैं, इतना भजन-जप आदि करते रहे, किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं, फिर हमारे साथ ऐसा क्यों हुआ ? अब उस भगवान् का नाम भी नहीं लेंगे। क्या किया ईश्वर ने हमारे लिये ? क्या फ़ायदा उसका नाम लेने में इतना समय बिताने से !" ठीक है भाई ! मत लो ईश्वर का नाम ! वह भी तुम्हारा नाम नहीं लेता।

मित्रो ! ध्यान या मौन एक आन्तरिक क्रान्ति है। मन्त्र-जप, स्तोत्रपाठ, अर्चा-पूजा आदि से थोड़ी देर मन को शान्ति मिल सकती है, या तन-मन के कोई विकार, रुग्णता दूर हो सकते हैं—ऐसी केवल तन-मन-बुद्धि की चिकित्सा, उपचार जितना ही मूल्य (therapeutical value) मौन-ध्यान का नहीं है। एकाग्रता या धारणा के अभ्यास का उपयोग मानसोपचार के लिये किया जाता है। पर यह क्रान्ति तो 'मैं' के केन्द्र को ही उड़ा देने वाली है। यहाँ तो चेतना का केन्द्र भी विश्व है, और परिधि भी विश्व है। ऐसे वैश्विक स्वरूप की प्रज्ञा देह में संचार करने लगेगी। इस क्रान्ति की भूख तो लगी होनी चाहिये न !

और एक कारण कहती हूँ। बुद्धि को तो इस क्रान्ति और मुक्ति की भूख है लेकिन चित्त को उससे भय लगता है। ऐसा आन्तर विरोध ९०–९५ प्रतिशत लोगों के जीवन में होता है। **Intellectual appreciation and aspiration for freedom, enlightenment, liberation whatsoever, and the fear of freedom.**

मुक्ति से भय लगता है, क्योंकि वहाँ—'मैं हूँ' 'मैं कुछ हूँ' 'मेरा कुछ उपयोग है' यह सब निकल जाता है। आप कुछ भी रह नहीं जाते। वैश्विक शून्य में मिल जाते हैं। **You are reduced to nobodyness and nothingness. You become the emptiness of the cosmos.** वहाँ जो ऊर्जा व प्रज्ञा काम करती है, वह आपके प्रभुत्व के अधीन नहीं, आपके हुक्म से चलने वाली नहीं। शिक्षित मनुष्य को लगता है कि एक-दो घण्टे मौन में बैठ लिये, नाड़ीतन्त्र और रासायनिक तन्त्र को कुछ शान्ति-विश्राम मिल गया, यह अच्छा है, यही काफी है। उसी में अगर दो चार नाद व प्रकाश की अनुभूतियाँ आ गयीं तो अच्छा ही है। पर इससे आगे यदि शून्य का स्पर्श होने लगे तो मनुष्य पीछे हटने लगता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि उसे 'कुछ' बने हुए ही जीना है। वैश्विक सत्ता से अपनी कोई स्वतन्त्र पृथक् हस्ती है—'हम कोई हैं'—ऐसा रहना चाहता है ! ब्रह्मानुभूति भी 'मुझे' चाहिये और मैं कह भी सकूं कि 'मुझे ब्रह्मानुभूति हुई।' 'मैं मुक्त हुआ' यह मुझे मालूम पड़े और वह मैं लोगों को बता भी सकूँ" यह चाहते हैं। मैं-पन तो बनाये रखना है, केवल उसकी जगह और स्तर बदलना है।

इस तरह, साधना में सातत्य न रहने का कारण भीतर छिपी हुई भीति (भय) है। 'हम किसी के नहीं, कोई अपना नहीं, जात नहीं, पाँत नहीं, वंश नहीं, धर्म नहीं, देश नहीं। केवल मात्र निरुपाधिक होनापन-भर है। फिर क्या होगा यह पता नहीं।' यह जो 'मालूम न होने' की अवस्था है यह अनभीष्ट लगती है, उसी से भय लगता है। हमें पहले ही आगे का खाका-नक्शा (blueprint) चाहिये, या विद्यालय की समय-सारणी की तरह-कब कहाँ क्या होगा—इसकी सारणी चाहिये। कि 'इस प्रकार की प्रगति होने पर यह अनुभूति आयेगी, मुक्ति मिलने पर यह अनुभव आयेगा……' इत्यादि। 'मुझे क्या होगा ? मेरा क्या होगा ?'—यह सब पहले ही मालूम कर लेना चाहते हैं। बन्धनों के जाल में गुंथी-जकड़ी हुई चेतना को मुक्ति का भी सारा ढाँचा पकड़ने के लिये चाहिये। लेकिन अध्यात्म में यह संभव नहीं, मनुष्य के मन-बुद्धि-संस्कारों द्वारा बने हुए माप-तौल-गणना-हिसाब वहाँ नहीं चलते। वैश्विक चरम प्रज्ञा इससे परे हैं। वह आपकी सारी मान्यताओं-धारणाओं-प्रतीकों को छिन्न-भिन्न कर उड़ा देता है।

The Supreme Intelligence defies the human logic, human verbalisation and human calculations. It throws to woods all your concepts and symbols.

हम स्वयं ही भीतर झाँककर देखें कि सातत्य न रहने का कारण क्या है ? और यदि सचमुच उत्क्रान्ति के पथ पर कदम बढ़ाने की प्रामाणिक अभीप्सा हो तो अपने जीवन की व्यवस्था बदलें। अपनी आकांक्षा की अग्रिमतायें पहचानें, उन्हें व्यवस्थित संगठित करें। यदि जीवनपरिवर्तन की अग्रिमता हो तो २४ घण्टों में जैसे आजीविका के लिये, शरीर व कुटुम्ब के लिये, भोजन व निद्रा के लिये समय निकालते हैं, वैसे ही अपने स्वरूप-सत्त्व की पहचान के लिये, वैश्विक प्रज्ञा को काम करने का अवसर देने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिये, निपट अपने आप या वैश्विक प्रज्ञा के समीप रहने के लिये एक-आधा घण्टा तो निकालें। घरेलू भाषा में कहें तो वह एक घण्टा बस 'देव' या 'भगवान्' के पास बैठने के लिये आरक्षित रखें। कुछ भी न करते हुए, कुछ भी न करने, न पाने, न कमाने, न अनुभव करने, न देखने-सुनने के लिये, बस केवल अपने होनेपन के प्रत्यय में रहने लिये बैठे हैं। ऐसे अपनी ही इच्छा से आत्मानुशासन का प्रारम्भ करें। स्वयं ही वरण किया हुआ (किसी के द्वारा लादा हुआ नहीं) व्रत लें।

प्रश्न—शुचिर्भूत होकर प्रसन्न चित्त से, हो सके तो ब्राह्ममुहूर्त में मौन के लिये बैठना अच्छा है, यह सही, किन्तु मन का स्वभाव है आवारा दौड़ते रहना। इस दुरन्त चञ्चलता या नटखटपने का इलाज करने के लिये, बुद्धिबल से या अन्य किसी उपाय से उस पर अंकुश लगाया जा सकता है क्या? नये सीखने वालों को इस विषय में कृपया मार्गदर्शन दीजियेगा।

उत्तर—हम देख चुके हैं कि 'मन' का अर्थ है सम्पूर्ण मानव-जाति से मिले हुए संस्कारों का पुञ्ज। 'संस्कार' शब्द में आ जाते हैं—जानकारी, अनुभव, मूल्यांकन, कसौटियाँ, प्रतिक्रियाओं के साँचे और पद्धतियाँ, ध्येय, आदर्श। यह सभी कुछ शब्दों के रूप में हमारे भीतर रोम-रोम में भरा हुआ होता है, वही शान्त बैठने पर उद्भूत होने लगता है। मन की चञ्चलता या दौड़ते रहना और क्या है? हम व्यर्थ ही उसे दोष देते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि इंद्रियों ने किसी भी विषय का स्पर्श किया तो उस सम्पर्क या सम्बन्ध में से संवेदन जगता है। यह संवेदन शरीर में एक वैद्युत उत्तेजना (electrical impmulse) पैदा करता है। वह मस्तिष्क तक पहुँचता है। मस्तिष्क मानो moniter है इस सारे नाड़ी व रसायन तंत्र (neurochemical system) का। मस्तिष्क में से संस्कार जागृत होते हैं—नाम, रूप, मूल्याङ्कन, ग्राह्य-त्याज्यभाव—ये सभी जागृत होते हैं। इस गति को चञ्चलता क्यों कहें? मन को 'आवारा भटकने वाला, स्वैरगामी' क्यों कहें? यदि यह हमारे लक्ष्य में आये कि मन की यह गति यान्त्रिक है, हमारी बनाई हुई नहीं। मनुष्य-जाति की सन्तान हम हैं इस नाते से वह गति हममें संक्रान्त हुई है, और मरने तक इस गति का साथ रहने वाला है। इसलिये उस गति का उपयोग-विनियोग हम समझ एवं ज़िम्मेवारी-पूर्वक करने लगे, और वस्तुतः आवश्यकता होने पर ही इन्द्रिय-विषय-संयोग किया, बोलना-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुनना, स्पर्श करना, सूँघना-देखना, स्वाद लेना आदि इन्द्रिय-क्रियाओं की आवश्यकता कम-से-कम करते गये, इन्द्रिय-विषय सम्पर्क के अवसर कम करते गये, तो इस गति (मन की दौड़) को हमारे भीतर जड़-पकड़ बैठने का सुयोग नहीं मिलता। जीवन जीने के लिये अनिवार्य अपेक्षा-आवश्यकता के समय उनका उपयोग अवश्य होगा। ऐसा वैज्ञानिक तपस् जीवन में आना चाहिये।

"मितलेंचि बोलावे, मितलेंचि चालावे"

नपा-तुला ही बोले, नपा-तुला ही चले-फिरे, अर्थात् सामने आयी परिस्थिति को उचित प्रतिसाद देने जितना ही इन्द्रिय-सम्बन्ध रखें—इस प्रकार यदि इन्द्रियों के हलन-चलन के प्रति हम सावधान हो जायें तो मन की गतियों को प्रभुत्व जमाने का अवसर नहीं मिल पाता। एक ओर व्यवहार में 'नपे तुले' इन्द्रिय-विषय-सम्पर्क का पराक्रम और दूसरी ओर मन की गति को शान्त होने का अवसर देना; उस गति के परे की ऊर्जा जागृत होने की सम्भावना का प्रयोग करके देखना। इस तरह दोनों ओर यदि प्रयत्न चले तो मन का आवारापन, स्वैरगमन या चंचलता हमें हैरान-परेशान नहीं करेगी। आहार-विहार के मामले में, सम्बन्धों और प्रति-साद के मामले में वैज्ञानिक दृष्टि आयेगी; तब यह नहीं होगा कि जो भी खाना, कपड़ा, सुनना, देखना या कोई व्यक्ति खास पसन्द आ गया उसके पीछे लगे रहे, और जो पसन्द नहीं आया, उससे दूर भागते रहे। हम ये दो दिशायें पकड़ते हैं, मन को इन दो दिशाओं में दौड़ने की आदत डालते हैं, इस दौड़ में इन्द्रियाँ और मन, प्रभुत्व जमायेंगे ही। यदि सुख-दुःख पर हमने प्रियता-अप्रियता का आरोप नहीं किया, तो विषय-सुख की मिठास चित्त में कम होने लगती है।

शब्द और दृश्य विषय हैं, काव्य-संगीत-कला को भोग्य विषय बनाया जाता है। यहाँ तक कि अध्यात्म-चर्चा, ब्रह्म-चर्चा को भी भोग्य विषय बनाया जाता है, उसमें सुख ओर प्रियता आरोपित की जाती है। उसमें मादकता होती है। उस मादकता से मस्त होकर मनुष्य डोलने-नाचने लगता है। एक प्रकार का उन्माद चढ़ता है। इस मस्ती या उन्माद से आने वाला असन्तुलन भी मीठा लगने लगता है। सम्बन्धों की गति मनो-रंजन का साधन बन जाती है। फिर उसके बिना चैन नहीं पड़ती। इस तरह चेतना मन की गुलाम हो जाती है। इसे पहचान कर यदि हम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्द्रिय-विषय-सम्पर्क का वैज्ञानिक रीति से वस्तुतः केवल आवश्यकतानुसार ही उपयोग करें तो मन की चंचलता हमें साधना में बाधक प्रतीत नहीं होगी। जलती हुई लकड़ी जलकर राख हो जाय तो वह राख सर्वांग में विभूति की तरह लगायी जा सकती है। हमारे देश में रूपकात्मक भाषा का प्रयोग होता रहा है। ज्ञानी की काया भस्म-विभूषित है। उसमें यदि भाव-जागृति हो तो चन्दन-चर्चित काया कहलाई। रसिक रहे हमारे पूर्वज। आज भौतिकवाद और कोरे बुद्धिवाद से संवेदनशीलता बधिर हो गई है, चित्त पर जड़ता छा गयी है, इसलिये अपने पूर्वजों की भाषा, ग्रन्थों की परिभाषा के संकेत समझ नहीं पाते, अतिशय स्थूल शब्दार्थ लेकर विडम्बना करते हैं।

कहना यही है कि संयम यदि दैनिक जीवन का शील बने तो मन या इन्द्रियों की चञ्चलता कष्टप्रद नहीं रह सकती।

प्रश्न—प्रवचन सुनते समय लगता है कि साक्षित्व की बात, साक्षी अवस्था में एकान्त के आनन्द की बात समझ में आ गयी—ऐसा लगता है। लेकिन बाकी समय वह समझ टिकती नहीं अतः एकान्त में मन न लगने के कारण उसे कोई न कोई बाह्य आलम्बन पकड़ना आवश्यक-सा प्रतीत होने लगता है; यह कैसे सुधरे? जल्दी से जल्दी आगे की अवस्था में पहुँचना कैसे सध पाये? इस के लिये मार्ग-दर्शन मिल सकेगा क्या? वह साधना अपने प्रयत्न से ही सम्भव है या और किसी की मदद मिल सकती है?

उत्तर—मदद करने को तो विश्वम्भर खड़े ही हैं। विश्व के रूप में अनन्त प्रकार से मदद कर ही रहे हैं, पर उनकी मदद कोई लेता नहीं। हम-तुमसे पहले जो साधक जी गये थे—उन पूर्वजों की मदद लेते हुए साधना-पर आगे बढ़ा जा सकता है। प्रभु-कृपा से भारत में जन्म हुआ है, इस देश में वेद-उपनिषदों का प्राकट्य हो चुका है, षट्-शास्त्र (दर्शन) यहाँ उद्भूत-प्रसूत हुए हैं, महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत जैसे सर्वाङ्ग समग्र जीवन-दर्शन समझाने वाले महान् ग्रन्थ यहाँ लोक-सुलभ रहे। लाखों सन्त-चरित विद्यमान रहे हैं। हमारा ऐश्वर्य अपार है। उनसे मदद क्यों नहीं मिलेगी—यदि लेना चाहते हों तो। कहना यहो है कि प्रयत्न का प्रारम्भ आप करें, सहायता स्वयं दौड़ती आयेगी।

प्रयत्न प्रामाणिक हो, बुद्धि के चिन्तन की पराकाष्ठा हो, तब जहाँ बुद्धि कुण्ठित होगी, शरीर की मर्यादा सामने आयेगी, तब वैश्विक प्रज्ञा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किसी न किसी रूप से, कभी व्यक्ति के रूप से, ग्रन्थ के रूप से, स्वप्न के रूप में तो कभी रास्ते चलते किसी व्यक्ति या अपरिचित सहयात्री के अचानक किसी भी प्रसङ्गवश निकले किसी वाक्य से भीतर का परदा हट कर उज्ज्वल प्रकाश हो सकता है।

At the core of the Universe, there seems to be a law of Love like your law of gravitation, functioning in the orbit of the earth. पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के समान वैश्विक-प्रेमाकर्षण का भी सहज नियम है। इसीलिये जिज्ञासु-साधक को मदद मिले बिना नहीं रहती। किन्तु मदद की पद्धति, प्रकार व समय आपके इच्छा-आदेश के अनुसार नहीं हो सकता। वहाँ सौदा नहीं चलता। अपने घर में जैसे भाण्डार घर में अनाज सीधा-सामगी सञ्चित कर रखते हैं, या बैंक में धन सुरक्षित रखे रहते हैं, उस तरह आध्यात्मिक मदद का संग्रह नहीं किया जा सकता। वैश्विक प्रज्ञा इस रीति से काम नहीं करती। हममें प्रमाद हो, पुरुषार्थ में से चोरी की हो तो ! हमारे जीवन की जो अशुद्धियाँ हम दूर कर सकते हैं वे दूर न की हों तो ! मदद कैसे मिलेगी ? अपने जीवन की जो अशुद्धियाँ प्रयत्न द्वारा दूर की जा सकती हैं, उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ न किया हो तो मदद कैसे मिलेगी ?

आप कहते हैं कि यहाँ शिविर में प्रवचन सुनते समय साक्षित्व और मौन प्रतीत होता है, फिर वर्ष भर वह टिकता नहीं।—यह स्वाभाविक नहीं है क्या ? यहाँ सौ-डेढ़ सौ व्यक्ति एक ही इच्छा से एकत्र बैठते हैं, एक ही आकांक्षा व हेतु है। ऐसी सम्मिलित एक हेतु व आकांक्षा की जो ऊर्जा है वह पूरे 'हॉल' में घिरी-भरी हुई रहती है। जो व्यक्ति यहाँ बोलता है उसके निमित्त से वह समस्त ऊर्जा केन्द्रित हुई रहती है। पूरा वातावरण एवं परिवेश ऊर्जस्वित (Charged) रहता है। यदि यहाँ आप साक्षित्व की प्रतीति पाते हैं और अपने निवास या कार्य-स्थान में वह नहीं पाते, तो इसका अर्थ है कि आपके चित्त को वातावरण को मदद चाहिये। किसी व्यक्ति के शब्दों का आधार आलम्बन चाहिये। शुरुआत में यह स्वाभाविक है, आवश्यक भी हो सकता है। और फिर, हमारी जीवनपद्धति ही ऐसी है कि मन को आलम्बन की आदत पड़ी हुई। कोई अनिवार्यता या दबाव न हो, किसी का आदेश, माँग, अपेक्षा न हो तो हममें कोई 'अभिक्रम, उद्योग-वृत्ति, कर्म का उत्साह नहीं रहता। प्रतिक्रियाओं की गति ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमारा जीवन बन कर रह गया है। स्वायत्त रूप से, स्वतन्त्र वृत्ति से, अपने ही आधार से कर्म करने में हमें आनन्द नहीं आता। यह आलम्बन, प्रोत्साहन घर जाने पर नहीं मिलता। इतना ही नहीं, बल्कि प्रतिकूल वातावरण की सम्भावना है। यहाँ तो और कोई काम नहीं, जिम्मेवारियाँ नहीं, घर के झंझट नहीं, ऐसा मुक्त वातावरण तो घर में मिल नहीं सकता। कोई संघर्ष होते हैं, आह्वान होते हैं, दूसरे लोगों की चित्त की दशा के आक्रमण हमारे चित्त पर होते हैं। इन सबसे जूझने के लिये चित्त में 'कस' और टिके रहने के लिये धीरज होना अपेक्षित है। वह प्रायः हममें नहीं होता।

इसका भी उपाय है, यदि करना हो तो। करना चाहने वालों के लिये उपाय हैं, चलने वालों के लिये मार्ग हैं। घर बैठ कर सारी दुनिया का नक्शा देखते-पढ़ते रहे सात दिन, और आठवें दिन उसे फेंक कर सो गये, आरामकुर्सी से उठे ही नहीं; तो यात्रा कैसे होगी? सुख-दुःख के झूले पर से नीचे उतरें ही नहीं, तो क्या होगा? पुरुषार्थ करने वालों को मदद मिलती है। गति-मति कुण्ठित हुई हो तो उस व्यक्ति को सही दिशा में प्रेरणा देने एवं मार्ग दिखाने वाले अवश्य मिलते हैं। वह जब भी हो, पर इतना तो हम स्वयं कर ही सकते हैं कि एक शहर में जो समान आकांक्षा वाले जिज्ञासु-सत्सङ्गी मित्र हों वे आपस में मिल कर किसी एक के घर पर या किसी अन्य नियत स्थान पर नियमित रूप से बैठा करें। सम्मिलित रूप से मौन-ध्यान-भजन-प्रार्थना स्वाध्याय-चिन्तन का आदान-प्रदान, अपनी-अपनी दिक्कतों-अड़चनों की बात करना, उसे हल करने के उपाय सोचने में परस्पर मदद करना आदि किया करें, कम से कम सप्ताह में एक बार ऐसे मिल कर बैठें। इस तरह एक साथी-सहयात्री होने की भावना का सहारा मिलता है। इससे चित्त की शक्ति बढ़ती है।

इस बारे में अन्तिम मुद्दा कहती हूँ कि तुरन्त कोई परिणाम सामने आने चाहियें—ऐसी अधीरता न करें। प्रायः आधी आयु बीतने पर प्रारम्भ करते हैं तो चित्त की दशा में परिवर्तन घटित होने में समय लगता ही है। बचपन में जितनी जल्दी कुछ सीखा जाता है उतनी जल्दी सीखना बड़े होने पर सम्भव नहीं होता। इसलिये थोड़ी तितिक्षा, सहनशीलता, धैर्य रहना चाहिये। One should not be very harsh with oneself and a very cruel judge of oneself.

अपनी अपने बारे में कोई धारणा होती है कि मैं तो इतना धार्मिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यक्ति हूँ, चुटकी बजाते ही मेरा तो काम बन ही जाने वाला है। पुस्तकें पढ़ने और उसके मुद्दे लिख डालने तक तो बुद्धि बड़ी सरलता से चलती है, पर जब उसे जीना शुरू करते हैं तब वे धारणायें टूटती हैं, वह सहन नहीं होता, साधना की इच्छा और साधना में आने वाली कठिनाई में द्वन्द्व चलता है। धरती में बीज बोते हैं तो उस बीज को फूलने, अंकुरित होने, अंकुर धरती से बाहर फूटने, फिर क्रमशः पौधा बनने में अपेक्षित समय लगता ही है। इसलिये अपने बारे में बहुत बड़ी अपेक्षायें न रखें। पहले जीवन में—विद्यालय-महाविद्यालय-विश्वविद्यालयादि में बड़े कुशाग्र बुद्धि, मेधावी विद्यार्थी रहे, हमेशा प्रथम स्थान पाया, स्वर्ण पदक जीतते रहे। विद्या और कार्य के क्षेत्र में सर्वदा ख्याति पायी, यशस्वी हुए, तो अध्यात्म में भी वैसे ही क्यों न होंगे—ऐसा न सोचें। **If you can proceed on the path of enquiry without having a single image of yourself,** तब काम सरल होता है। छोटे बालक की निष्पापता, निष्कपटता, निश्छलता और सीधी-सरल ऋजु जिज्ञासा लेकर आप यात्रा प्रारम्भ करते हैं। प्रारम्भ करने के कम से कम बारह महीने तक तो क़तई यह देखने की बात सोचें भी नहीं कि जो साधना शुरू की हुई है उसका कोई परिणाम आया या नहीं आया।

फिर यह भी बात है कि किसी के शरीर-मन-बुद्धि में उत्कटता (The velosity of intensity) व गति अधिक होती है, किसी में कम। योग की भाषा में कहें तो—तीव्र संवेग, मध्यम संवेग, मन्द या मृदु संवेग होते हैं—शारीरिक-मानसिक विरासत के अनुसार। जैसे किसी की प्रकृति कफ-प्रधान, वात-प्रधान, पित्त-प्रधान होती है, वैसे ही संवेगों में यह अन्तर भी हो सकता है। इसलिये मेरा कहना है कि अध्यात्मपथ पर चलना हो तो घड़ी या केलेन्डर लेकर न बैठें। यह सोचते न बैठें। "पाँच साल-दस साल-बीस साल से मैं यह साधना करता आ रहा हूँ—अभी तक कोई परिणाम नहीं दिखा!" यदि सचमुच करना प्रामाणिकता से चलता रहा हो तो यह इतने वर्ष तक चलते आना, करना टिका रहना भी कोई मामूली बात नहीं। हाँ यह अवश्य परखते रहें कि हम जो कर रहे हैं वह समुचित है या नहीं? साधना पूरे मनोयोग से हो रही है या नहीं? वह करने में आनन्द आता हो, उससे किसी का कोई नुकसान न होता हो, तो उसका फल दिखे या न दिखे, वह कर्म करते रहें, हृदय-बुद्धि के दरवाजे हमेशा पूरे खुले रखें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"So that the 'Other' can enter the moment it wants to step in !" (ताकि "वह" जब भी भीतर आना चाहे तब आ सके ।)

प्रश्न—पिछले साल मैं रोज आसन-प्राणायाम करता रहा; मौन के लिये भी एक घण्टा स्थिर बैठता था। शरीर की स्थिरता तो सधती थी, पर मन स्थिर नहीं हो पाया। मन की चञ्चलता रुकती नहीं। श्वासोच्छ्वास पर लक्ष्य रखूँ तो भी अन्य असम्बद्ध विचार आते ही रहते हैं। मौनावस्था साधने के लिये हमेशा क्या करना चाहिये ?

उत्तर—"अनुपाय एव उपायः।" कुछ भी मत कीजिये। सचमुच यही कहती हूँ कि कुछ न करिये। आशय यह है "मैं कुछ कर सकता हूँ"—ऐसा कर्ताभाव न रखिये। कुछ न करने का अर्थ निष्क्रियता या जड़ता न लें। A new alertness with the awareness that nothing can be done, and therefore you cannot become the doer.

यह पहचानने की यह घड़ी है, मुहूर्त है कि वस्तुतः मैं कुछ भी कर नहीं सकता, कुछ किया जा ही नहीं सकता। इसलिये 'कर्ता' मैं बन नहीं सकता। जो विचार आता है कि 'वर्ष भर मैंने यह किया, फिर भी मन की चञ्चलता समाप्त नहीं हुई।' उस पर अब ध्यान दें कि जब आपके किये विचार आये नहीं, आपके रोकना चाहने पर भी रुके नहीं, रुकते नहीं, तो इनके साथ आपका 'करने-न करने' का सम्बन्ध नहीं है यह समझ आई न ! विचारों के साथ सम्बन्ध बदल गया न ! उनका प्रभुत्व कम हुआ कि नहीं ? विचारों की आप पर पकड़ ढीली हुई या नहीं ? (यानी जो विचार आये उसके अनुसार शरीर से क्रिया भी करनी पड़े—यह रुका या नहीं ? विचारों के पीछे दौड़ने और उनकी पूर्ति करने में जो आपको सुख प्रतीत होता था, वह कम हुआ या नहीं ? यह देखने की बात है। इसके सिवा, जैसे मनुष्य कितना भी प्रयत्न करे तो स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ नहीं सकता, उसी प्रकार मौन साधने के लिये मानसिक प्रयत्नों का कोई उपयोग नहीं। मन की गति को स्वयं ही शान्त होने दीजिये। कैलेन्डर लेकर समय नापते न रहिये। मानसिक 'काल' में सत्यता (reality) नहीं है। समाज-व्यवस्था के लिये, परस्पर साथ रहने-जीने के लिये मनुष्य जाति ने काल के इन—[निमिष-क्षण-पल-घड़ी-याम-प्रहर, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास, अयन, वर्ष-वत्सर, शताब्दी, युग, कल्प आदि, भूमण्डल के नापों तथा जीवन के अन्य आयामों (पितृलोक, गन्धर्वलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक इत्यादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्तरों) में इस भूमि के काल-मान के अनुपातों—] की बड़ी सूक्ष्म एवं विस्तीर्ण कल्पना-धारणा निर्मित की है, उसके आधार पर अतीव उपयोगी एवं प्रामाणिक शास्त्र (गणित व ज्योतिष्) भी निर्मित किये हैं। समाज-जीवन जीने में उन नापों और शास्त्रों का अवश्य उपयोग करना होगा, किन्तु अध्यात्म में उन्हें लागू नहीं किया जा सकता। यहाँ वे नाप असंगत हैं। उनका यहाँ उपयोग नहीं, उनके उपयोग का क्षेत्र अलग है।

प्रश्न—पिछले तीन वर्षों से सुबह उठने पर, और रात सोने से पहले घण्टा भर ध्यान करता हूँ। कुछ महीनों से ध्यान में बैठने पर मस्तक में मानो किसी खाली स्थान में हलचल जैसी मालूम पड़ती है। कभी उसकी तीव्रता अधिक होती है, फिर पूरे दिन-भर उस हलचल का पता चलता रहता है। यह क्या है ?

उत्तर—आपने प्रश्न में बताया है कि 'ध्यान करता हूँ।' यानी आपकी दृष्टि से ध्यान एक क्रिया है। पर वास्तव में ध्यान कोई क्रिया-प्रक्रिया नहीं है। वह पहले एक अवस्था है, फिर आयाम बनती है। आप ध्यान के लिये घण्टा-दो घण्टा बैठते हैं तब मस्तक के खाली भाग में हलचल मालूम पड़ती है—यह शुभ है। मस्तिष्क में जहाँ सुषुम्ना जुड़ती है वहाँ खाली स्थान है, ब्रह्मरन्ध्र में खाली स्थान है, भ्रूमध्य में खाली स्थान है। इनमें अपार शक्ति भरी हुई है। वहाँ सघन ऊर्जा है। इन स्थानों में कहीं हलचल मालूम पड़ती है अर्थात् जहाँ निस्पन्दता थी वहाँ स्पन्द जग रहा है। उस स्पन्द में से फिर गति बनती है। स्पन्द होता है जहाँ का तहाँ फैलने या ऊपर उठने का (horizontal and vertical) स्फुरण। खाली स्थान में स्पन्दन (vibration) प्रतीत होता है, इसका अर्थ है कि संस्कारातीत जो ऊर्जायें (unconditioned energies) भीतर पड़ी हैं, उनमें जागृति का प्रारम्भ है। आप जब शान्त बैठते हैं तब यह भीतरी स्पन्दन अनुभव में आते हैं। वह स्पन्दन गति बने, फिर वह गति पूरे नाड़ी-तन्त्र एवं शरीर में धारण हो, आत्मसात् हो—वह अवस्था आने तक शरीर और बुद्धि से बहुत परिश्रम न करें। जितना शान्त रहते हुए जिया जा सके, उतना शान्ति में जियें। बहुत सामाजिकता में न पड़ें, बहुत लोगों से मिलना-जुलना, अधिक बोल-चाल न करें। जीवनयापन-सम्बन्धी आवश्यक-अनिवार्य कार्य तथा वाणी-व्यवहार करें, बाकी अधिकांश समय एकान्त में रहें, अपने कमरे में जितना समय मौन में बैठ सकें बैठें। उस ऊर्जा-स्पन्दन-गति-धारण की प्रक्रिया को पूरा होने का अवसर दें। (You take that process to its

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

logical consummation), वह पूरे शरीर में आत्मसात् (absorb) हो सके इसके लिए कुछ अवधि तक उसे सुविधा देनी होगी। अन्न पचने में कुछ समय लगता है न! उसी तरह ऊर्जा के स्पन्दन पचाने में भी कुछ समय लगता ही है। इसलिये इस 'हलचल' और 'तीव्रता' से घबरायें नहीं। ध्यान या मौन में से उठने के बाद, वहीं, ५-१० मिनट शान्त शवासन में पड़े रहें। तब स्पन्दनों की तीव्रता शान्त पड़ेगी। अचानक, झटके से कार्यों में न लग जायें नहीं तो चक्कर आने लगेगा। जैसे किशोर अवस्था (Puberty period) में बच्चों के तन-मन में क्षोभ, उत्तेजना रहती है, समझ में नहीं आता क्या करें? क्योंकि भीतर नयी रासायनिक प्रक्रिया चल रही होती है यौवन-प्रारम्भ होने की, उसी प्रकार चैतसिक आयाम-परिवर्तन की प्रक्रिया चलते समय, नई ऊर्जाओं की जागृति के समय नाड़ीतन्त्र में क्षोभ हो सकता है। इससे घबराने की जरूरत नहीं, पर सावधान अवश्य रहना चाहिये, शरीर-मन को शान्त रहने की सुविधा देनी चाहिये।

प्रश्न—मौन-ध्यान में बैठने पर, थोड़ी देर बाद, शरीर एक लयबद्ध गति में डोलने लगता है। गर्दन पीछे की ओर खिंच जाती है। यह किस कारण होता है? यह किस बात का लक्षण है? इस हिलने-डुलने को इच्छा-शक्ति द्वारा रोका जा सकता है क्या? यदि रोकें नहीं तो तरह-तरह की क्रियायें होने लगती हैं। सत्सङ्ग में बैठे हों तब ऐसी सब क्रियायें होना बहुत विचित्र लगता है। इसके लिये क्या करें? कृपया स्पष्ट कीजियेगा।

कभी-कभी सूर्य किरणों जैसे तेजस्-किरण सतत मस्तक में घूमते-से प्रतीत होते हैं? यह क्या भ्रम है या वास्तविकता है? कृपया बताइयेगा।

उत्तर—ऐसे प्रश्नों का सैद्धान्तिक, वैचारिक या abstraet उत्तर देना मुश्किल है। व्यक्ति तो मेरे सामने हैं नहीं। हो सकता है कि उस व्यक्ति का शरीर दुर्बल है, रक्ताल्पता है, रक्तसंचार शरोर के सभी अङ्गों में निर्विघ्न रूप से होता नहीं होगा। या फिर वह अत्यन्त भावना-प्रधान, भावना-शील (extremely sensitive, emotional) है; उसने जो कुछ सुना-पढ़ा है कि 'मौन में बैठने पर यह होता है—वह होता है'—वही सब कल्पनायें दिमाग में भीड़ करती होंगी। उनसे wishful thinking हो सकता है। कितने ही लोगों को अपनी कुण्डलिनी जागृत होने का भ्रम हो जाता है। यदि नाड़ी-तन्त्र कमज़ोर हो तो भी यह हिलना-डुलना हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकता है। या किसी से कोई शक्तिपात कराया होगा जिसे धारण करने का दम शरीर में नहीं है, तो उससे भी ऐसे असन्तुलन आ सकते हैं।

कितने ही लोगों को विचार का आलम्बन छूट जाने पर शरीर काँपने लगता है। क्योंकि विचार-विकार-शान्त होकर, किसी भी प्रकार का तनाव-दबाव चित्त पर न रहने की शान्त अवस्था सहन नहीं होती। जैसे कुछ लोगों को अन्धकार में भीतर से ही मानो सहजात (instinctively) डर लगता है। वास्तव में अन्धकार में कुछ भी भयकारण है नहीं, लेकिन क्योंकि बचपन में बहुत कुछ सुना होता है अन्धकार के बारे में, इसलिये अन्धकार के साथ डर जुड़ा होता है। यह भी नाड़ियों को कमज़ोर बना देता है।

इसके लिये चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं। यदि उक्त प्रकार से शरीर, नाड़ीतन्त्र कमज़ोर है तो ५-६ महीने मौन में बैठना छोड़ दीजिये। पहले शरीर को शक्तिशाली-स्फूर्तिशाली बनाइये। सुपाच्य एवं नाड़ीतन्त्र की शक्ति बढ़ाने वाला उत्तम प्रोटीन युक्त शुद्ध सात्त्विक आहार लीजिये। नाड़ियों में शक्ति एवं शुद्धि बढ़ेगी तो हो सकता है ये असन्तुलन अपने आप समाप्त हो जायें।

शरीर व नाड़ीतन्त्र को मजबूत बनाना कठिन नहीं है यदि ५-६ महीने पूरी तरह इसी में दिये जायें। सम्यक् आहार, योगासन, प्राणायाम करें, उनकी मदद के लिये प्रणव ॐकार का प्रकट वैखरी में जप करें, तो शरीर व नाड़ीतन्त्र को मौन-ध्यान के लिये सक्षम बनाया जा सकता है। वैसा सक्षम सुदृढ़ शरीर न हो जाय तब तक मौनाभ्यास के लिये न बैठें। सभा-सामूहिक-सत्सङ्ग में बैठे हुए असन्तुलित क्रियायें शरीर में होने लगें तो विचित्र लगेगा ही। लोग समझ नहीं पायेंगे कि यह क्या-क्यों होता है। वहमी लोग हों तो शङ्का होगी कि 'कहीं भूत-प्रेत तो नहीं लग लगा !'.... इतना तो है कि ऐसी हालत हो तो सत्सङ्ग-सभाओं में नहीं जाना चाहिये जहाँ मौन-ध्यान को विशेष प्रेरणा और उसके अभ्यास में होने वाली मुद्राओं या असन्तुलित क्रियाओं को उत्तेजना मिलती हो। पहले शरीर का इलाज करवा लें।

प्रश्न में कहा गया कि मस्तक में सूर्य किरणें प्रवेश करती हैं ऐसा लगता है। तो, पहले तो आप इन्हें भ्रम ही मान लीजिये। To question the validity of experiences is one of the best ways of testing

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

them. क्योंकि यदि आप उन्हें सच मान लेंगे तो फिर उन्हें जाँचने का कोई रास्ता आपके पास नहीं रहेगा। अतः पहले उस पर शङ्का कीजियें कि यह भ्रम तो नहीं है ? फिर भ्रम की तरह ही उसकी उपेक्षा कीजिये, उस पर ध्यान न दीजिये।

बचपन में, प्रायः बारह वर्ष की आयु में, हमने साथ पढ़ने वाले १०-१५ लड़के-लड़कियों को लेकर 'विवेकानन्द-मण्डल' बनाया था। हम लोग साथ ही साथ 'ध्यान' में 'मौन' में बैठते थे। यह बीमारी बहुत पुरानी है। तो पहले दो-तीन दिन में ही भ्रूमध्य में कुछ प्रकाश दिखने लगा। क्योंकि हम लोग स्वामी विवेकानन्दजी की पुस्तकें पढ़ते थे, और उससे जाना था कि उन्हें ध्यान के समय भ्रूमध्य में प्रकाश प्रतीत होता था, और ठाकुर रामकृष्णदेव ने उन्हें देखते ही पूछा था कि "क्या तुमको भ्रूमध्य में कुछ प्रकाश दीखता है ?" तब 'नरेन्द्र' ने कहा था कि—"हाँ दीखता है। क्या दूसरों को ऐसा नहीं दीखता ?"·····इत्यादि सब पढ़ा था; हम सब साथी बड़े चतुर थे, सो ध्यान में बैठते ही हमें भी अपने भ्रूमध्य में प्रकाश दिखने लगा। यह एक आत्म-सम्मोहन जैसा होता है। हम स्वयं उसमें से गुज़र चुके हैं इसलिये बात कर रही हूँ। अध्यात्म के विषय में दूसरों द्वारा किये जाने वाले सम्मोहन से तो बहुत लोग बचते हैं, प्रायः आत्म-सम्मोहन से नहीं बचते। इसलिये मैंने कहा कि अपने आपको अपने से बचाने के लिये शुरुआत में इसे भ्रम मानिये, उपेक्षा कीजिये।

यों वह एक हकीकत है, क्योंकि चित्त एकाग्र होने पर भीतर की सब शक्तियाँ भ्रूमध्य में केन्द्रित होती हैं तब वहाँ प्रकाश की प्रतीति हो सकती है, होती भी है। किसी विशिष्ट व्यक्ति को होती है या नहीं ? यह तो उस व्यक्ति को देखने पर, या उसे खुद को ही पता चल सकता है। आरम्भ में उसे भ्रम मानिये, उपेक्षा कीजिये, फिर भी वह प्रकाश बना रहे, हर समय दिखने लगे, सोते समय भी दिखा करे, तो उस प्रकाश को अपना साथी बना लीजिये। उसकी बात दूसरों के साथ न कीजियेगा। ऐसी जो घटनायें घटती हैं, उनको शाब्दिक चर्चा का विषय नहीं बनाना चाहिये। ग़लत-फ़हमियाँ भी हो सकती हैं, कोई तारीफ़ करे तो अहङ्कार भी बढ़ सकता है, और उसी को हम अपना sect या सम्प्रदाय भी बना बैठ सकते हैं। 'जिसे यह अनुभूति न हो वह साधक ही नहीं'—ऐसा मापदण्ड या लक्षण भी बना दे सकते हैं। यह मैं केवल भ्रूमध्य के प्रकाश या सूर्य किरणों के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवेश आदि की बात नहीं कह रही हूँ। लोग अपने मन से न जाने कितने Criteria बना लेते हैं और उसी के आधार पर निर्णय करने लगते हैं। ऐसे अध्यात्म में पाखण्ड को जितना मौका है उतना राजनीति के सिवा कहीं नहीं है।

प्रश्न—मौन के बाद कभी तो मन प्रसन्न होता है, और कभी जबर्दस्त निराशा आती है, निष्क्रियता आ जाती है। यह क्यों होता है ?

उत्तर—मौन यदि सही हो तो उसकी परिणति शान्ति में होती है; न प्रफुल्लितता में, न विषाद में। जो प्रफुल्लितता आती है और जाती है, वह हर्ष है, उत्तेजना excitement है, वह आनन्द नहीं है, उल्लास नहीं।

जहाँ उत्तेजना है वहाँ द्वैत का दूसरा बिन्दु भी रहेगा ही। अभी हर्ष है, आशाभरी वृत्ति है तो फिर अवसाद, हताशा, निराशा भी है। ये द्वन्द्वात्मक भाव हैं, ये अकेले नहीं रहते, एक की छाया में दूसरा पलता ही है।

मुझे लगता है कि मौन का अर्थ समझा नहीं गया है। बाहरी सब क्रियायें समेट कर बैठते भी हों तो वस्तुतः मौन में, शान्ति में पहुँच नहीं पाते हैं। बस शरीर स्थिर हो जाता है, वाणी प्रकट नहीं चलती है। बाहरी कोलाहल नहीं है, बस इतना ही शान्ति या मौन नहीं। मौन बड़ी गहरी चीज़ है।

Quietness and steadyness of the body and absence of verbalisation is not the content of silence. मौन में केवल बैठा नहीं जाता, वह एक आयाम है जीवन का। आप वाणी के मौन का, शारीरिक स्थिरता और निस्पन्द अचञ्चल रहने का अभ्यास करते जायेंगे तो भीतर की वह शान्त, विचार-विकार-संस्कारों से मुक्त अपनी निज अवस्था विकसित, जागृत होती है। तब फिर प्रफुल्लता या निराशा जैसे द्वन्द्व चेतना पर हावी नहीं होते। वह दशा जागृत होने पर जो आनन्द या उल्लास भीतर से स्फुरित होता है, उसमें कभी अन्तर नहीं आता।

मौनाभ्यास की बैठक से उठने पर यदि निष्क्रियता, निराशा-हताशा प्रतीत होती है तो उसके कारण आपके शरीर व चित्त में ही पड़े हुए हैं। हो सकता है मौन के बदले आप तन्द्रा में जड़ता में उतर गये हों। प्रमाद-आलस्य के कारण जड़ता-निष्क्रियता आ जाती हो। मौन में जड़ता नहीं होती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—मौन में अधिक देर बैठने पर पूरा मस्तक गरम हो जाता है। कल यहाँ भी ऐसा हुआ। तो क्या मौन में बैठना बन्द करें ?

उत्तर—यहाँ (शिविर में) तो कहाँ घण्टों मौन में बैठा जाता है ? इस आध-पौन घण्टे में भी यदि मस्तक गरम होता हो तो उसका मौन के साथ सम्बन्ध नहीं है। वास्तविक ध्यानावस्था में यदि अधिक समय तक बैठा जाय तो पीठ तथा मस्तक का पिछला भाग पहले गरम होता है, बाद में वह गर्मी पूरे मस्तक को घेर लेती है, आँखों में भी उतर आती है। लेकिन यहाँ जैसा थोड़ा समय शान्त-स्वस्थ-स्थिर बैठने भर से मस्तक गरम होना स्वाभाविक नहीं है। यदि आप उस समय में कोई विशिष्ट जप करते हों, किसी बीजाक्षर का जप करते हों तो वह हो सकता है। उस मन्त्र में किस अक्षर की कितनी पुनरावृत्ति होती है ? यह देखना होता है। वह देखे बिना, बहुत उत्कटता से जप करते हों तो वह (मस्तिष्क गरम होना) हो सकता है। केवल मस्तक ही नहीं, सारा शरीर भी गरम हो सकता है। जप एक विज्ञान है, शास्त्र है। किस ध्वनि-शक्ति का किस प्रकार उपयोग करना यह जपशास्त्र का विषय है। अर्थभावन और नाद की ऊर्जा का विशिष्ट विनियोग वहाँ किया जाता है। आधि-व्याधि-निराकरण में उस ऊर्जा का उपयोग करना—यह उसी शास्त्र का एक और भाग है। नाद-ऊर्जा के द्वारा भीतर का शुद्धीकरण तीसरा हिस्सा है। हमारे पूर्वज समग्रता में डूबे रहते थे; प्रत्येक वस्तु का विज्ञान बनाकर उसका उपयोग करते थे। अब तो उन प्राचीन पद्धतियों-परम्पराओं का छिलका-मात्र रह गया है, उनके भीतर का विज्ञान एवं आशय लुप्त होता गया है, अब तो नष्टप्राय है।

प्रश्नकर्ता को यदि पूरा मस्तक गरम होने की प्रतीति होती हो तो जरूर कुछ समय मौन में बैठना बन्द करें। यदि कुछ युक्ति करनी हो तो मौन में बैठने से पहले मस्तक में अच्छी तरह तेल लगा लें, पाँव के तलुओं में गाय का घी घिस लें, तब मौन में बैठें। मस्तक में जो गर्मी पैदा होती है उसका पहले ही उपचार करके बैठें। अध्यात्म तो विज्ञान है। वैज्ञानिक रीति से साधना कीजिये।

❀ ❀ ❀

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—''''स्वामी जी कहते थे कि अध्यात्म परिस्थिति बदलने को नहीं कहता। जो भी परिस्थिति सामने हैं उसमें किस तरह जिया जाय यह सिखाता है। कृपया स्पष्ट कीजियेगा।

उत्तर—कहें कोई भी और स्पष्ट हम करें ? ?''''किसी ने क्या कहा होगा—उनका आशय क्या हो सकता है इसका अनुमान ही किया जा सकता है, इसे अर्थघटन न मानियेगा। शायद यह कहना अभिप्रेत होगा कि जिसे आप जागतिक परिस्थिति कहते हैं वह तो श्रीराम के समय से आज तक जैसी है वैसी ही है। इसमें शुभ और अशुभ दोनों साथ-साथ रहते हैं, कभी शुभ के नियन्त्रण में अशुभ रहता है, तो कभी अशुभ का प्रकोप-ताण्डव इतना बढ़ जाता है कि शुभ का दम घुटने लगता है। चाहे रामायण का काल देखिये, चाहे महाभारत का इतिहास देखिये, चाहे अभी पिछले सौ-दो सौ वर्षों का हाल पढ़िये। इस जागतिक शुभ-अशुभ दैवी-आसुरी वृत्तियों के संघर्ष के निराकरण की बात अध्यात्म नहीं करता। बल्कि अपने भीतर जो दैवी-आसुरी सम्पत्ति का द्वन्द्व पड़ा है उसके निराकरण का रास्ता दिखाता है। बाह्य परिस्थिति के शिकार बने बिना जीवन जीने का उपाय बताता है।

बाह्य परिस्थिति का निराकरण किये बिना आन्तरिक समाधान-पूर्वक वही मनुष्य जी सकता है, जिसके भीतर विषमता का—विरोधों का निराकरण हुआ हो।

प्रश्न—यदि मौन या ध्यान का हेतु चित्त में हो, तो हेतुयुक्त वृत्ति के कारण मौन या ध्यान होना सम्भव नहीं; और किसी हेतु के बिना मन किसी ओर लगता नहीं, अतः मौन-ध्यान होता नहीं। दुष्टचक्र कैसे टूटे ? इस अन्योन्याश्रय में से कैसे निकलें ?

उत्तर—'हेतु' क्या होता है ? "मुझे यह चाहिये"—यह तो हुआ हेतु लेकिन यदि "मुझे कुछ सीखना है। मुझे सन्तों का साहित्य पढ़ना है, आत्मानुभवियों को कही हुई बातें समझनी हैं।"—ऐसी चाह हो तो वह सीखने-समझने से कोई कमाई तो होने वाली नहीं है। वहाँ कुछ कमा लेने या प्राप्त करने का हेतु नहीं है।

The desire to learn is not an aquisitive motivation. सत्य को समझने की इच्छा स्वकेन्द्रित हेतु नहीं है। यह जोवन क्या है ? मरण क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है ? समस्त सृष्टि क्या है ? यह रहस्य समझ में आना चाहिये । सम्बन्धों का अधिष्ठान क्या ? सम्बन्धों का स्वरूप क्या ? इस सबका अर्थ समझ में आना चाहिये—यह आकांक्षा हेतु नहीं । तो क्या है ? वह है सत्ता को पहचानने की जिज्ञासा; जीवन को समझते हुए जीने की अभिलाषा यानी वास्तविक जिजीविषा । यहाँ 'जिजीविषा' का सामान्य अर्थ (किसी भी तरह स्वयं जीवित रहने की इच्छा) अभिप्रेत नहीं है । वह है जो वस्तुतः जीवन-सत्ता है उसके प्रकट होने की इच्छा ।

The implicit order, by unfolding itself want's to become explicit; and where was the implicit order conceived ? In the emptiness, the cosmos is an explosion of the emptiness. पदार्थ-विज्ञान-वेत्ताओं का ऐसा कहना है कि शून्य में से ये अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुए हैं । The infinit universes are the byproducts of the explosion in the emptiness itself. हमारे वेदों की तरह की रहस्यमयी भाषा बोलने लगा है विज्ञान ।

हमारे मन में प्रश्न है कि यह मौन, ध्यान की बात सुनी जाती है अनुभवियों के मुख से, तो वह मौन-ध्यान क्या हैं ? वैसा कोई आयाम है क्या ? उस आयाम में जिया जा सकता है ? मन के विचारों-विकारों के परे भी कोई जीवन है क्या ? यह जानने की, और वैसा जीने की इच्छा ही जिज्ञासा एवं जिजीविषा है । उस विषय में हम शब्दों द्वारा विचार करने लगें, निरीक्षण की मदद से देखने लगें और उस साक्षात्कार से निष्पन्न प्रत्यय (विश्वस्त प्रतीति) को इन्द्रिय-स्तर पर जीने लगें, तो उसमें हमारा कोई हेतु था—यह नहीं कहा जा सकता । छोटे बच्चे खेलते हैं, उस खेलने में उनका कोई हेतु है यह नहीं कहा जा सकता । वे अपने स्वाभाविक सहज आनन्द में खेलते हैं । आप उन्हें भोजन आदि के लिये समय-समय पर बुलायें तब खेल को किसी तरह (प्रायः अनिच्छा से) समेट कर चले आयेंगे । नहीं तो उन्हें भूख-प्यास का भी भान नहीं रहता । क्यों ? आनन्द की अभिव्यक्ति खेल में होने के कारण । They are in the bliss of Eternity. वैसे ही अपनी अमृतमयी सत्ता में रहना-खेलना ही है मौन-ध्यान । अपनेआपके 'होनेपन' को देखने के लिये ही है मौन ।

आपने 'वृत्ति' शब्द का उपयोग किया है, उसका अर्थ समझ लें, नहीं तो भ्रान्ति होगी । वृत्ति का अर्थ है मन या चित्त पर, संस्कारपुञ्ज या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राशि पर उठने वाले तरङ्ग । प्रवृत्ति हो या निवृत्ति हो—वृत्ति तो है ही । 'मैं देह हूँ' कहें या 'मैं ब्रह्म हूँ' कहें, वह वृत्ति ही है । 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वृत्ति द्वारा देहाहन्ता या सीमित अहंकार का काँटा निकाल डाला जा सके तो ठीक ही है, लेकिन उस वृत्ति को 'वृत्ति' ही समझें, सत्य न मान बैठें । नहीं तो तमोगुण-रजोगुण में से छूट कर सत्त्वगुण की रेशमी सुनहली बेड़ी में बँध जायेंगे ।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाना, सर्वथा वृत्ति न रहना योग है, केवल प्रवृत्ति न रहना नहीं । प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में स्थित वृत्ति का समूल उच्छेद अपेक्षित है । अर्थात् शरीरधारण के लिये, समाज के घटक की भाँति समाज में जीने के लिये जितना सा देह का, इन्द्रियों का, मन-बुद्धि में समायी संस्कार-राशि और उनकी क्षमताओं का उपयोग करना आवश्यक हो, वह उपयोग तटस्थता से किया जाय, यह भावना रहे कि इसमें से कुछ अपने लिये कमा लेने–अर्जन कर लेने के लिए नहीं है । शरीर को स्वस्थ रखने एवं कुटुम्ब के भरण-पोषण पालन आदि के लिये जो आजीविका-अर्जन एवं तदर्थ श्रम करना आवश्यक हो वह करना तो स्व-धर्म ही है, किन्तु वह करते हुए यदि सुख-दुःख क्षोभ देने वाली परिस्थितियों-घटनाओं-पदार्थों-व्यक्तियों पर प्रियता-अप्रियता का आरोप न करें, राग-द्वेष उत्पन्न न होने दें, तो जीवन जीने के सभी कर्म करते हुए, सभी सम्बन्धों में जीते हुए चित्त की समता और इन्द्रियों में सन्तुलन कायम रह सकता है । यही हमारा शील बन सकता है । वही जीवन जीने की पद्धति एवं शैली हो सकती है ।

यही हम कह रहे थे कि जीवन जीने की एक नई दृष्टि, नई वृत्ति, नई शैली व पद्धति है अध्यात्म । संस्कारों का उपयोग उन्हें संस्कार समझते हुए ही किया जाय, आदत से विवश होकर नहीं । उनमें से आग्रह-आवेश-आवेग-आसक्ति-द्वेष निकल जायें, तब संस्कारों का परिशुद्ध सत्त्व मनुष्य का जीवनशील बनेगा । ऐसे मनुष्यों के समाज में, व्यवहार में मानवधर्म जीयेगा । आज मानवोचित समाज नहीं है । आकृति मनुष्य की है, किन्तु साहजिक वृत्तियाँ (instincts) पाशविक ही चली आयी हैं, वे भी विकृत होकर । संस्कारपुञ्ज रूप में ही मिले हुए अहंकार का विनियोग कैसे करें यह समझ न पाने से घबरा जाता है मनुष्य । जो सापेक्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्य है उसकी सापेक्षता समझते हुए, सावधान रह कर उसका उपयोग करना अध्यात्म है। जो निरपेक्ष परम सत्य है उसे शब्दों में उँडेलना सम्भव नहीं, उसे संगठित नहीं किया जा सकता. उसे सम्बन्धों में बाँधा नहीं जा सकता, फिर भी निरपेक्ष सत्य का भान सतत रहता है। सभानता या समग्र अवधान (awareness) आपके सम्पूर्ण अस्तित्व को घेरे रहती है। निरपेक्ष सत्य का अवधान और सापेक्ष सत्य में शरीर-मन-बुद्धि से कर्म-व्यापार चलता है। सापेक्ष (relative) की उपेक्षा नहीं और परम निरपेक्ष (Absolute) सत्य का सतत अनुसन्धान रहता है, संवेदनशीलता और उसकी प्रतीति रहती है। नाम-रूप-काल आदि प्रतीकों से परे है निरपेक्ष सत्य। उसकी प्रतीति है बस इतना ही कहा जा सकता है। बहुत हो तो उस प्रतीति में प्रकाश भासित हुआ यह कहा जा सकता है। पर उस प्रकाश का वर्णन किसी लौकिक दृष्टान्त से नहीं किया जा सकता।

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।।"

(वहाँ न सूर्य है न चन्द्र-तारायें, न ये बिजलियाँ ही भासित होती हैं, अग्नि तो कहाँ ?)

वह प्रकाश सत्य का स्वभाव है इसलिये पदार्थगत व इन्द्रियगोचर प्रकाशों से उसकी तुलना नहीं हो सकती। उस सत्य का सतत अवधान-भान रहने से सापेक्षसत्य के क्षेत्र में भी एक अनूठी सजगता एवं स्निग्धता बनी रहती है, चित्त में समता रहती है, इंद्रियों का सन्तुलन कभी छूटता नहीं। ऐसा एक चेतना का आयाम है, सम्बन्धों का नया घटक वह हो सकता है, सभी सम्बन्धों में उस आयाम को जिया जा सकता है। वहाँ प्रभुत्व-स्वामित्व की भावना नहीं उपजती, उससे प्रेरित क्रिया-प्रतिक्रियाओं का चक्र नहीं चलता। इस तरह मौन-ध्यान या समाधि चेतना का नया आयाम, सम्बन्धों का नया आधार, और जीवन जीने की नई शैली व पद्धति है। समग्र मानव बनने के लिये वह होना आवश्यक है। ऊपरी जोड़-तोड़-गठबन्धनों से काम नहीं बनेगा। पूर्व की चिन्तन धारा में पाश्चात्य चिन्तन और जीवन शैली को पैबन्द की तरह जोड़ने से कुछ न बनेगा। अध्यात्म दृष्टि देता है, दिशा दिखाता है समग्र जीवन जीने की।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—कृपया ऐसा उपाय बताइये कि मैं शीघ्र से शीघ्र अपने मन पर काबू पा सकूं। कम से कम समय में किस प्रकार मैं मन का मालिक बन सकूँगा ?

उत्तर—न मालिक बनिये, न गुलाम बनिये, साथी बनिये भाई! जैसे शरीर में से भागा नहीं जा सकता, न शरीर को उतार डाला जा सकता है, शरीर छूट जाना मोक्ष नहीं है। उसी प्रकार शरीर के भीतर मन नाम से जो संस्कार पड़े हैं उन्हें फेंका या उड़ाया नहीं जा सकता। प्राकृत मनुष्य-शरीर में सुसंस्कृत मानव का निर्माण करने में कितनी ही पीढ़ियाँ खर्च हुई हैं। शब्द, भाषा, प्रतीक, साहित्य, संगीत, नाट्य, विविध कलायें··· शिल्प आदि बनाना, संकेतों का निर्धारण, बुद्धि को उजाला देने के लिये—सभी कुछ तो संस्कारों की माफ़ंत हुआ है। उस संस्कार-पुञ्ज-रूपी मन पर शतकों की धूल चढ़ गई है, अनेकों मर्यादायें-सीमायें हैं—यह सब सही है, लेकिन वह हमारी संरचना का अंग हो चुका है। उससे पलायन सम्भव नहीं। इसलिये उसका गुलाम या मालिक बनने की भाषा का प्रयोग न करें। क्योंकि 'मैं' और 'मन' ये दो पृथक् हस्तियाँ नहीं हैं। व्यक्तिगत मन कुछ नहीं, केवल Global human mind (पूरी दुनिया का एक मानव-मन) है। दर्पण के सामने हम बैठते हैं, तब किसे देखते हैं? स्वयं को ही देखते हैं न! दर्पण में दिखता है प्रतिबिम्ब। उसका कोई पृथक् अस्तित्व है क्या? आप ही देखने वाले आप ही दिखने वाले। प्रतिबिम्ब एक चाक्षुष भ्रम (optical illusion) है। उसका चित्र भी लिया जा सकता है, लेकिन दर्पण के सामने कोई बिम्ब (व्यक्ति, वस्तु, चित्र आदि) न हो तो प्रतिबिम्ब नहीं दिखेगा। उसी प्रकार 'मैं' पन और 'मन' पृथक् वस्तुयें नहीं है। मौन व द्रष्टृत्व के दर्पण में देखने पर आप का अपना आप ही दिखने लगता है। The factual content of your consciousness gets exposed to your observation, to your perception.

इतना ही घटित होता है। जो मन मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण कहा गया है, वह मन वस्तुतः कुछ नहीं; अतः वास्तव में न कोई बन्ध है न मुक्ति।

संस्कारपुञ्ज-भूत इस मन को, 'मैं' पन के सत्त्व को, मौन के दर्पण में देखें, इसकी मर्यादायें पहचानें, उसमें जो असंगति हो, आन्तरविरोध हो,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अराजकता-अव्यवस्था (Intellectual chaos and emotional anarchy) हो, उसे निकाल दें। उसको सुन्दर-सुगठित-सुश्लिष्ट-सुव्यवस्थित बनायें।

आप 'मन के मालिक' होने की बात कह रहे हैं, पर इस विश्व का भी कोई मालिक नहीं है। 'मालिक-गुलाम' 'स्वामी-सेवक-दास' यह सब पूँजीवादी सन्दर्भ में से आयी हुई धर्म-क्षेत्र की भाषा है। संगठित धर्म-सम्प्रदायों ने मनुष्य की चेतना में भीषण धाँधली और उलझनें पैदा की हुई हैं, और धार्मिक पुरोहित-वर्ग ने मनुष्य चेतना को पंगु बना रखा है। इन बेड़ियों में से शीघ्र से शीघ्र हमें छूटना चाहिये। बैलगाड़ी में बैठने वालों को रेलगाड़ी में चलना और रेल में सफ़र करने वालों को विमान में चलना अच्छा लगता है, कल आकाश-यान में चलने में भी संकोच नहीं होगा। लेकिन प्राचीन ग्रन्थों में जो भाषा है उसे छोड़ने को मन की संरचना (घनीभूत दृढ़ संस्कार) राज़ी नहीं। गतानुगतिकता चित्त में गहरी धँसी है। आदि शंकराचार्य तो कह गये कि—"वेद भी यदि कहें कि अग्नि उष्ण नहीं है—तो तुम मानना नहीं। अग्नि की उष्णता की जो प्रतीति तुम्हें होती है उस प्रत्यक्ष प्रतीति पर विश्वास रखो।" शास्त्र-वाक्य हो, आप्तवाक्य हो, पर आत्मानुभूति सर्वोपरि है। यही ठाकुर रामकृष्ण परमहंस ने भी कहा।

मन नाम का कोई विशिष्ट अभिव्यक्त इंद्रिय शरीर में किसी एक स्थान पर नहीं, वह तो भीतर सर्वाङ्ग में व्याप्त हुआ संस्कार-पुञ्ज है, उसी की गति 'सभी इंद्रियों द्वारा व्यक्त होती है। उसे आप 'नियन्त्रित' (Control) नहीं कर सकते। जैसे स्वयं अपने कन्धों पर चढ़कर नहीं बैठ सकते। संस्कारों में से ही 'मैं'–पन की कल्पना उद्भूत हुई है। इस एक कल्पना को लेकर, इसी के द्वारा, इसी की मदद लेकर अन्य कल्पनाओं को सुधारा जा सकता है। 'काबू में लाने वाला' दूसरा कोई नहीं है। आप दमन, पीड़न करेंगे, निग्रह, अत्याचार करेंगे एक क्षेत्र में, तो प्रकृति उसका बदला किसी दूसरे क्षेत्र में ले लेगी।

गांधी जी के आश्रमों में रहने वाले लोगों में भी (जिन्हें वे एकादश व्रत एवं अतिशय सादगी आदि चित्त में पचे नहीं थे) आगे चलकर भोग-वृत्ति प्रधान हुई। विदेशी ढंग का रहन-सहन अपनाया, जैसे भी मिल सका धन बटोरा और ऐश की ज़िन्दगी की ओर वृत्ति हुई। चित्त की प्रतिक्रिया अवसर पाते ही प्रकट हुई। यह मैं टीका करने के लिये नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कह रही हूँ। बचपन में दादा धर्माधिकारी के साथ, दिल्ली जाना होता था—संविधान-निर्माण-समिति की बैठकों को अध्ययन के लिये देखने का अवसर मिलता था। वहाँ एक अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति आते थे (जो उस समय मन्त्रीमण्डल में थे, पहले गांधी जी के आश्रम में ही जीवन व्यतीत हुआ था) सरकारी काम से। वे अपना कार्य जो भी करते हों, पर प्रति-दिन तीन-तीन 'शो' सिनेमा देखते। मुझे साथ चलने को कहते पर मुझे उसमें कतई रुचि नहीं थी अतः न जाती; पर आश्चर्य होता कि ये क्यों व कैसे इतना सिनेमा देखते होंगे? तब यही समझ में आता कि आश्रम में रहते समय तो कभी सिनेमा देखने को मिलता नहीं होगा।

····अपने ऊपर दमन, निग्रह, पीड़न करने वाले व्यक्तियों के जीवन में कहीं न कहीं विकृति उत्पन्न होती है। एक तरफ़ किया हुआ दमन दूसरी तरफ़ असन्तुलन वन कर उभर आता है। खुली आँखों दुनिया घूमते हुए ऐसे लाखों उदाहरण देखे हैं।

कहने का तात्पर्य यही है कि किस जमाने की भाषा बोलते हैं आप? 'काबू' किस पर लाओगे? 'मन' की कोई हस्ती ही कहाँ है? मन की चञ्चलता या वेग की भी कोई पृथक्-हस्ती कहाँ है? जो भी महसूस करते हैं वह आप स्वयं ही तो हैं? विचार, विकार और उनकी गति, हलन-चलन सब आप ही हैं "तो पूर्वजों ने जो कहा है—मन को वश में रखना चाहिये—वह झूठ है?" नहीं, उस समय जिन्हें वे वचन कहे गये उनकी अन्तर्दशा उसी भाषा व रीति को समझ सकती थी अतः वैसा कहा गया। आप और हम को तो उससे आगे बढ़ना चाहिये न! ····डलहौजी में हमारी एक सत्सङ्गी बहन हैं, वे अपने बालक को लेकर मेरे पास आया करती थीं। वह लड़का ८-९ वर्ष का हुआ। एक बार उसकी माँ दिन भर व्रत कर के रात में चन्द्रमा को पूजा करने लगी तो वह बालक माँ से कहने लगा—"अरे माँ चाँद की पूजा क्यों करती हो? वह तो कोई देवता नहीं है। मनुष्य तो उस पर पाँव रख चुका है। वह देवता कैसे? उसके लिये क्यों तुम सारा दिन व्रत रखती हो? उसकी आरती-पूजा क्यों करती हो? यह सब छोड़ दो।" हठ करने लगा। माँ परेशान हो गयी। इससे बेटा भी परेशान हुआ। फिर कहने लगा कि अच्छा मुझे उन माँजी के पास ले चलो जिनके पास तुम सत्संग के लिये जाती थी। मुझे उन से बात करनी है। आखिर वह बहन बेटे को मेरे पास लायी। वह बोला—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"यह बात सच है न कि आदमी चाँद पर पहुँच चुका है। चाँद पर आदमी के पैर पड़ चुके हैं। वह भी ऊबड़-खाबड़ जमीन का ही गोला है।"—मुझे स्वीकार करना पड़ा कि बात सच है। तब बोला—"आप मेरी अम्मा को समझा दीजिये कि चाँद की पूजा और उसके लिये व्रत-उपवास न किया करें। मैं कहता हूँ तो यह नहीं मानती।"

मैंने कहा—"बेटा, तू मत करना चाँद की पूजा, माँ को क्यों मना करता है?" वह बोला—"पर चाँद तो देव नहीं है न!" मैंने कहा—"तुझे देव या भगवान् का अर्थ मालूम है?" बोला—"नहीं, वह तो मालूम नहीं।" तब मैंने कहा—"चन्द्रमा में प्रकाश है न! उस प्रकाश को ही माँ देवता कहती है, उसी की पूजा करती है; प्रकाश पर तो किसी का पाँव नहीं पड़ा है न! उसे अच्छा लगता है तो करने दें। तुझे लगता है कि वहाँ आदमी का पाँव पड़ गया है तो तू मत करना पूजा।" तब वह सोच में पड़ गया। कहने लगा कि "हाँ प्रकाश को तो देवता कह सकते हैं।" प्रत्यक्ष जीवन को इन्कार नहीं किया जा सकता न!

इस तरह आज बच्चों को प्रत्यक्ष और विज्ञान की भाषा में समझाना होगा। पुरानी भाषा में से वे उसके संकेत को नहीं समझ सकेंगे। उसी तरह मन के बारे में अपनी पुरानी धारणायें-मान्यतायें छोड़ देनी होंगी। जिसका मिथ्या होना समझ में आ गया हो उसे पकड़े नहीं रहना चाहिये। इसलिये, न तो मन के 'मालिक' बनना है, न 'गुलाम' रहना है। मन-नामक संस्कारराशि तुम्हारे साथ जन्म-भर रहने वाली है, चिता पर्यन्त देह के भीतर भरा यह संस्कारपुञ्ज साथ रहने वाला हैं, इतना ही नहीं, इस जन्म में हमने जो कुछ किया होगा उसके परिणाम से घट-बढ़ कर संशोधित या विकृत हो कर, सुलझ-उलझ कर, यह संस्कारपुञ्ज ही फिर आगे के जीवन का भी निर्धारण कर रहा है। अतः वर्तमान देह समाप्त हो जाने पर भी ये संस्कार-राशि समाप्त होने वाले नहीं।

इसलिये इस मन की ओर देखें, इसे पहचान लें। विचार-विकार-आवेग-संवेग सब दशाओं की रासायनिक संरचना भलीभाँति समझ लें। फिर जहाँ जरूरत हो वहाँ इस साथी की मदद करें, उसकी मदद लें,—जीवन जीने में।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न— यह शरीर व मन पञ्चमहाभूतों व निसर्ग का उपजाया हुआ है, निसर्ग ने इसके लिये जो मार्ग तय किया है उस पर ये चलेंगे। इस पर अपना कोई वश नहीं। अपनी इच्छा से की हुई कामनायें कभी पूर्ण होती हैं; अधिकतर नहीं होतीं। तब दुःख होता है। राग-द्वेष भय सताते हैं। तब भी राग-द्वेष और कामनायें छोड़ कर शून्य भाव से जीना चाहिये—यह समझ में आता है, मुक्ति हो, यह आकांक्षा हैं, उसके लिये प्रयत्न भी करता हूँ। पर समझ में जो आता है वह व्यवहार में बन नहीं पाता।

उत्तर—'समझ में आता हैं पर जीना बन नहीं पाता'—इसका अर्थ यही है कि समझ के अनुसार जीने की ताक़त इन्द्रियों में नहीं है। तत्परता होने पर भी उसकी गति व लय में इन्द्रियाँ अपनी लय नहीं मिला पाती हैं। या तो इन्द्रियों में प्रमाद है, प्रतिकार है, या तत्परता होने पर भी उन में शक्ति नहीं है। क्योंकि जो समझ में आया हो उसे आचरण में उतरने में कोई बहुत समय नहीं लगा करता। वास्तव में समझ तो काल से अस्पृष्ट घटना है (Understanding is a timeless happening). दिशा और काल का समझ से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि उस आयाम में तो ये रहते ही नहीं। बिजली की कौंध के समान समझ -तना को उज्ज्वल बना देती है। यह जो देश व काल की चौखट में न बँधने वाली घटना है, इससे अलग ही स्तर की यह पञ्च-महाभूतों से बनी काया है, जिसमें इन्द्रियाँ मन व बुद्धि है, जिनके माध्यम से जीना होता है, वे प्रस्तुत न हों तो समझ और आचरण में काल-व्यवधान (Timelag in the understanding and action.) रहेगा ही।

तब क्या किया जाय कि यह अन्तराल घटे और हटे! इन्द्रिय-मन-बुद्धि की संवेदनशीलता बढ़ाई जाय। जिसे आप क्षुल्लक (छोटी से छोटी) बात समझते हों, उसमें भी आप की समझ के अनुसार ही चलेंगे, करेंगे—ऐसा व्रत ले लें। अर्थात् देह-मन-बुद्धि के स्तर पर समझ और आचरण में अन्तराल हटेगा तो फ़िर सत्य की समझ और तदनुरूप जीवन के बीच का भी अन्तराल, कालव्यवधान हट जायेगा। पर बात वास्तव में यह है कि जो समझ में आता है वह चित्त में स्वीकार नहीं हुआ होता, रुचा नहीं होता। आप अपने भीतर झाँक कर परख लें। समझ तो वास्तव में non-subjective non-emotional event of life (अपने व्यक्तित्व और मन-बुद्धि के संवेगों से अछूती जीवन की घटना) है। यह आपकी निजी रुचि-अरुचि की परवाह नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करती, आपकी इच्छा-अनिच्छा-भावना का ख्याल नहीं रखती। बड़े मज़े और 'बहार' की घटना है वह 'समझ'। जानकारी और बोध के बीच की दूरी जब पट जाती है, बोध का मर्म रहस्य खुल जाता है, तब 'शाखा-चन्द्र न्याय' से वह समझ जिस सत्य का निर्देश करती है वह हमें रुचता नहीं, गले नहीं उतरता। हम चाहते हैं कि "मैं-पन औरे मेरा-पन इन दोनों के सुरक्षित रहते हुए यदि कुछ सत्य-किरण भीतर आती हो तो भले आये। 'मैं' और मेरा'-पन ही न रहा, 'हम किसी के, कोई हमारे'—ऐसे (sense of belonging) सम्बन्ध-संवेदन की संभावना ही न रही, तो जीने में मज़ा क्या ? फिर, सभी एक जैसे हो जाये यह कैसे चलेगा ? 'मेरे' विशेष हैं और सब गौण। तभी तो तरह-तरह के सम्बन्ध हैं।" यह हमारे चित्त की स्थिति है। इसीलिये बुद्धि सत्य को पकड़ती-पहचानती हो भी तो उस समझ को जीवन जीने से जोड़ना जीवनचर्या में सत्य का अनु-सन्धान रखना चित्त को रुचता नहीं। वही इन्द्रियों की अड़चन है।

सत्य की चाह हो और उससे भय भी हो तो ये दोनों साथ कैसे रहें ? जो सत्य समझ में आता है वह कहता है कि तुम अकेले हो। अकेले ही जन्मे हो, मृत्यु का क्षण आने पर इस शरीर में से अकेले ही ज़ाओगे भी। (भले ही आकस्मिक घटना में अनेको की मृत्यु एक-साथ हो किन्तु शरीर से प्राण छूटने की घटना प्रत्येक को अपनी-अपनी पृथक् अनुभूति होती है और पृथक्-पृथक् शरीरों में से छूटे हुए प्राणों का परस्पर कोई सम्पर्क-साथ या साहचर्य नहीं होता। जीवित रहते समय भी, भले ही बहुतों के साथ रहते-बोलते-सुनते-काम करते हों, लेकिन जीने की अनुभूति, जीवन में आने वाले सुख-दुःख-रोग-शोक-आह्लाद-हर्ष-क्रोध-प्रीति-वात्सल्य-भय आदि विविध भाव-संवेग-संवेदनों में से गुज़रना वस्तुतः उस-उस व्यक्ति को अकेले ही होता है, जीवन जिया अकेले ही जाता है। ज्ञान, विचार शब्दों से दिया-लिया-बाँटा जा सकता है, लेकिन आनन्द या शोक की, सुख या कष्ट की अनुभूति को अकेले खुद ही जिया जाता है, कितना भी चाहें उसे बाँटा नहीं जा सकता। **You are alone in that experience. The essence of your being is the uniqueness of your aloneness.**

आप वेदान्त पढ़ें, 'ज़ेन बुद्धिज्म' पढ़ें, ध्यान-मार्ग से चलें, भक्ति-मार्ग से चलें, कुछ भी करें, विश्वात्मिका सत्ता अवश्य भीतर-बाहर सर्वत्र आपके साथ है, पर यह 'साथ' शब्द औपचारिक है। दृश्य-अदृश्य सम्पूर्ण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जगत् में जहाँ तक आपका जीवन है, उस जीवन को जीने में वस्तुतः आप अकेले ही हैं। इस अकेलेपन से घबरायें नहीं, डरें नहीं। इस निपट एकाकीपन को पहचानना और इसका आनन्द लेना यही तो संन्यास का सत्त्व है। यह अकेलापन आपको रुचता नहीं, इसीलिये—"समझ में तो आता है, पर जिया नहीं जा पाता।"

प्रश्न—'मन' और 'चित्त' ये शब्द बहुधा पर्याय (समानार्थक) रूप से कहे जाते हैं, पर कभी-कभी स्वेच्छाचारी व्यवहार के लिये 'मन' और संयत-संयमित विचार-व्यवहार के लिये 'चित्त' शब्द का प्रयोग होता है। कृपया बताइये कि 'मन' और 'चित्त' एक ही हैं ? या 'चित्त' 'मन' का सूक्ष्म भाग है ?

उत्तर—संस्कार, विचार, संवेग आदि ऊर्जायें हैं। शरीर संस्कारों का पुञ्ज या राशि है। इन संस्कार-ऊर्जाओं में जब हलन-चलन होता है तब आप कहते हैं कि मन चल रहा है। यानी ऊर्जाओं की गति को आप मन की गति मानते-समझते-कहते हैं। ये संस्कार जहाँ धारण एवं संचित होते हैं उसे आप चित्त कहते हैं। यह वैज्ञानिक अर्थ देखा जाय तो सारे शरीर में ओतप्रोत संस्कारों की धारित-संचित स्थिति को आप 'चित्त' कहते हैं, और जब वह 'गति'-शील होता है तब उसे 'मन' कहते हैं। इन्हीं गतियों को 'विचार' 'विकार' आदि नाम देते हैं। मन सम्पूर्ण शरीर का ही सूक्ष्म रूप है। वह ग्यारहवाँ इन्द्रिय है, अन्तःकरण है।

प्रश्न—"आत्मज्ञान ग्रन्थों से नहीं होता, तर्क से नहीं, वाद-विवाद-चर्चा से भी नहीं। परमात्मा स्वयं ही प्रसन्न हों तो सम्भव है।"—ऐसी उपनिषदुक्ति का सही अर्थ कृपया समझायें।

उत्तर—भाई ! मैंने वह उपनिषद् नहीं लिखा। कैसे वास्तविक अर्थ बतायें ? अनुमान ही होगा न !

Interpretation when it is not academic, theoretical, grammatical, is at its best a noble guesswork. "परमात्मा प्रसन्न हुए तो आत्मज्ञान होता है"—कहें तो क्या परमात्मा कभी अप्रसन्न भी होते हैं ? वह सत्ता तो चिर-प्रसन्ना है, आनन्दस्वरूपा है।

"आनन्दाद् ह्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन हि जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"

उस आनन्दस्वरूपता को हम झेल नहीं पाते। अपने मन के घोंसले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बना कर उसी में इतने व्यस्त रहते हैं कि अपार आनन्द-कृपा-सरिता के तट पर भी प्यासे रह जाते हैं, कृपा का, आनन्द का आस्वाद नहीं लेते।

प्रश्न—निर्विकल्प समाधि क्या है ?

उत्तर—सविकल्प समाधि का भी पता कहाँ है ? और प्रश्न निर्विकल्प तक पहुँच गये ? धातु-वैषम्य विजित होकर धातुसाम्य स्थापित हो जाय; वृत्तियों में वैषम्य न रह कर वृत्तिसाम्य यानी चित्त का समत्व सिद्ध हो जाय और बुद्धि आत्मा की पतिव्रता बन कर प्रज्ञा रूप धारण कर ले, तब निर्विकल्प समाधि की सम्भावना है। जहाँ तक संकल्प-विकल्प हैं, किसी आकार का आधार है, साकार आलम्बन का आधार लिया है तब तक सविकल्प समाधि तक जाया जा सकता है और यदि 'एक निरञ्जन' का निदिध्यास रहा तो फिर न संकल्प रहता है न विकल्प, न आधार ही। किन्हीं गुणों का या आकार का, विचार का भी आधार नहीं, सहज स्वरूप में स्थिति है। ऐसी सहजता ही निर्विकल्प समाधि है। किसी भी प्रकार की जड़ता वहाँ होती नहीं। Passivity नहीं है, activity भी नहीं है, केवल alertness है। सहज सर्वाङ्ग अवधान है बस।

प्रश्न—सहजावस्था और आत्मानन्द—इस पर कृपया प्रकाश डालें।

उत्तर—क्या होगा प्रकाश डालने से ? 'माउन्ट एवरेस्ट' का वर्णन करूँ आपके पास या अन्य किसी शिखर का, उससे होगा क्या ?····

आत्मानन्द कली है सहजावस्था पुष्प। आत्मा की सत्ता की पहले आहट, बाद में प्रतीति, फिर उसका भान, वह भान स्थिर प्रतिष्ठित होने पर आत्मा का आनन्द—यह क्रम हो सकता है। पहले शब्द से परिचय होता है, फिर संवेदनशीलता के कारण उसकी आहट लगती है। उसके होनेपन की वह आहट प्रतीत हो इसके लिये समय-अवकाश निकालेंगे तो आहट प्रतीति बन जाती है। प्रतीति में से उसका भान और अवधान (alertness) जाग उठता है। उस अवधान की उत्कटता यदि आप सहन और वहन कर लेते हैं तो उसमें से आनन्द जागता है। लेकिन उस आत्मानन्द तक पहुँच पाना विरलों का ही होता है। हम-आप तो नदी या सागर के तट पर खड़े होने पर लहरों के दर्शन एवं पवन-स्पर्श से होने वाले आनन्द को भी धारण नहीं कर सकते, उसमें से एक प्रकार का हर्ष-उत्तेजन पैदा होता है। उस उत्तेजना को शब्दों में-व्यवहार में व्यक्त करने लगते हैं। घटना को घटना बने रहने देना, उसे अनुभूति में परिणत न होने देना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसके लिये संयम की बहुत शक्ति चाहिये—The energy of austerity, not to allow the events taking place in life, getting converted into experiences.

हम-आप तो उसे नाम देंगे, मूल्यांकन करेंगे, किसी न किसी विशिष्टता के साथ उसे जोड़ेंगे, identify करेंगे, refer करेंगे, उसे अपने साथ जोड़ेंगे, 'मेरी अनुभूति' बनायेंगे, उसका सुख लेंगे—ऐसे आनन्द की आहट को भी सुख में परिणत कर देंगे; वस्तुतः आनन्द तक पहुँच ही न पायेंगे। क्योंकि आंनन्द 'किसी का' नहीं बन पाता। "मुझे आत्मानन्द हुआ" यह कहा नहीं जा सकता। "मुझे सुख हुआ" यहाँ तक कहा जा सकता है।

हमारी धृति (धारण-शक्ति) इतनी कमज़ोर है कि सुखों से होने वाली मादकता-मोहकता को भी पचा नहीं पाती है, अतः आत्मानन्द की उत्कटता गहनता—The very velosity of that charm gets into the movement of your total being—आपकी समग्रता में आन्दोलित स्पन्दित होती है तो बहुधा लोग उन्मत्त हो जाते हैं—"बालोन्मत्तपिशाचवत्" उस दशा का वर्णन किया गया है। ऐसे उन्माद को हमारे देश में बहुत सन्मान मिलता है। उच्च मानसिक-बौद्धिक स्तर पर उस उन्माद की जो विक्रतियाँ प्रकट होती हैं उनका भी सन्मान होता है। क्या कहूँ ?····आत्मानन्द पचाने की शक्ति हो, वह आनन्द धारण करने की धृति हो तो सहजावस्था उसमें से खिलती है। कबीर साहब ने कहा है—

"सहज-सहज सब कोई कहे सहज हुआ नहिं कोय"

आत्मानन्द पाना कोई बहुत कठिन बात नहीं है लेकिन उसे अपने जीवन के-अस्तित्व की सभी तहों में रचने-रसने देना (to allow it to percolate in every layer of your being and allow it to become the normality in your behaviour.) जीवन का शील या सामान्य भाव बनने देना सहजता है, वह अवश्य बहुत बड़ी बात है। वह ढिंढोरा पीटते हुए घूमता नहीं कि "मुझे आत्मानन्द हुआ है. मैं सहजावस्था में जी रहा हूँ।" कमल-पुष्प को कब्र किससे कहना पड़ा कि मैं खिल उठा हूँ। उसका सौरभ दस-दिशाओं में फैलता चला जाता है। वहो परिचय देता है कि यहाँ कहीं कमल है। केदारनाथ में जाकर देखिये, वहाँ से कुछ ऊपर से जो नीलकमल लाये जाते हैं पूजा के लिये, उधर का पवन ही परिचय कराता है कि वहाँ कमल खिले हैं।····लेकिन लोग तो अपने आत्मानन्द की इश्तेहार-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाजी करते हैं। आनन्द तक पहुँचने में जो शक्तियाँ-सिद्धियाँ जागृत होती हैं उन्हें भी व्यापार की वस्तु बना दिया गया है।

This commercialisation of spirituality has also become a way of living.

प्रश्न—साधक ध्यानावस्था में स्थिर हो तो पहले अबोध मन में दबी हुई अव्यक्त इच्छा, आकांक्षा, वृत्तियों का क्या होता है ? क्या वे अपने आप नष्ट हो जाती हैं अथवा व्याधियों के रूप से या अन्य मार्गों से प्रकट होती हैं ?

उत्तर—इस प्रश्न का पूर्वार्ध महत्त्वपूर्ण है—"साधक ध्यानावस्था में स्थिर हुआ हो तो।" इसे अपने ख्याल में रखते हुए ही हम इस प्रश्न पर विचार करें। वस्तुतः 'ध्यान' केवल कोई अवस्था नहीं, जीवन का एक आयाम (dimention) है। प्रारम्भ में ध्यान एक अवस्था के रूप में प्रकट होता है, आता और जाता दिखाई देता है। ऐसी ध्यानावस्था तक साधक पहुँचा हो तो मनमें पड़ी हुई इच्छा-आकांक्षाओं का क्या होता है ? मेरा ऐसा मानना है कि ध्यानावस्था तक पहुँचने के पहले एक द्रष्टृत्व के अभ्यास का सोपान (सीढ़ी) आता है कि दर्पण में अपने शरीर को देखने की तरह हम मौन के दर्पण में स्वयं अपने चित्त को मन को, देखते हैं। देखने की इस सीढ़ी में से गुज़रते समय चेतन-अवचेतन-अचेतन में पड़ी-दबी-ढकी सब वृत्तियाँ सामने आने लगती हैं; स्मृतियाँ जागती हैं वैसे इच्छा-आकांक्षायें भी उभरती हैं, सामने आती है। ऐसे समय साधक को निर्णय लेना होता है कि जो कुछ दिख रहा है उसमें से कुछ बचाकर रखना है क्या ? कोई इच्छा 'शुभ' दिखती है 'सद्वासना' दिखती है तो क्या उसे टिका रखना है ? यह निर्णय साधक को ही करना पड़ता है। क्योंकि जो कुछ दीख रहा है उसमें से कुछ बचाये-बनाये रखने की इच्छा न हो तो देखने-मात्र में उस दिखने वाली इच्छा आदि का उपभोग हो जा सकता है। "प्रारब्धस्य भोगाद् एव क्षयः।"

यदि उसे बचाकर न रखना हो बारम्बार उपभोग के लिये; उसमें सुख मिलता है इसलिये उसे संरक्षण देने की वृत्ति न हो तो, उन इच्छा-आकांक्षाओं का जोर धीमा पड़ता है, 'ज्वार' फिर 'भाटा' होने लगता है। यदि साधक तीक्ष्ण-संवेग (उत्कटता) वाला हो तो जिसे बचाने की वृत्ति नहीं वह सब तत्क्षण छूट जाता है 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुरुते'—यह घटित होता है। यदि साधक का पिण्ड मध्यम संवेग वाला हो तो इच्छा आदि धीरे-धीरे शान्त होने लगती हैं।

वह इच्छा जब तक पूरी तरह शान्त, विसर्जित न हो जाय तब तक क्या करें? आँखें खोलकर उसे देखते रहें; उसका मूल्याङ्कन (value-judgment) न करें, उसे 'अच्छा-बुरा' न कहें, जो प्रकट हो रहा है उसे दबाने या कुचलने का प्रयत्न करें। जो दीख रहा है वह अपनी असलियत है, उसका तिरस्कार करना उचित नहीं।

आप ने पूछा है कि उन इच्छा-आकांक्षाओं का क्या होता है? तो जो अबोध (अचेतन) मनमें पड़ी थीं वे सामने आती हैं, उन्हें देखते रहिये। वे दीख रही हैं तो उन्हें पहचानिये! वे अपने भीतर क्या कर रही हैं—अपने दैनन्दिन जीवन में क्या असर डाल रही हैं? इसे देखें-परखें। कौन-सी इच्छा या वासना उठने पर अपने शरीर में, नाड़ीतन्त्र पर, रसायन-तन्त्र पर क्या परिणाम होता है? उस प्रभावित दशा में हम जो व्यवहार करते हैं उसका साथ रहने-जीने वाले साथियों या अन्य लोगों पर क्या प्रभाव होता है? यह मनुष्य देख सकता है। यदि वह साधक हो तो उन इच्छा-आकांक्षाओं के प्रति ममत्व पिघल कर बह जाता है, या झड़ जाता है।

इच्छा-वासना-आकांक्षा व्याधि रूप में तब परिणत होती हैं जब हम उनके अपने में होने का स्वीकार नहीं करते 'मुझमें ये वासनायें हैं'—यह स्वीकार ही न हो, प्रबल 'अहं' उन्हें ढके ही रखना चाहता हो तो फिर वे फूट निकलती हैं। बहुत लोगों को यह हकीकत मंजूर नहीं होती कि मुझमें काम है, क्रोध है, ईर्ष्या है, धन का लोभ है—उनके नियन्त्रण में जीता हूँ, वे जैसा नचाते हैं वैसा नाचता हूँ। यह तथ्य ही मनुष्य स्वीकार नहीं करता। तथ्य स्वीकार करने के लिये धीर-गम्भीर-वीर वृत्ति चाहिये। हम तो खुद को ही झुठलाना-मनाना चाहते हैं कि "नहीं, हम ऐसे नहीं है, यह जो कुछ दीख रहा है असल में मैं वैसा नहीं हूँ। यह सब तो आनुवंशिक स्वभाव से चला आया है। इसमें मेरा कोई दोष नहीं। परिस्थितियों के कारण यह होता है। समाज के कारण होता है, मेरा दोष नहीं है।" ऐसा कहते हुए, जो दीखता है उसका समर्थन हम करने लगते हैं, अपना बचाव करते रहते हैं।

साधक मैं उसे मानती हूँ जो कभी भी अपने समर्थन या बचाव में नहीं उतरता। जिसे सत्य ही खोजना है, जो कुछ दिखता है उसकी अस-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लियत जाननी है उसे ऐसे अपने बचाव या समर्थन के झंझट में पड़ने की ज़रूरत नहीं महसूस होती। परन्तु यदि वैसा अपने मन में दिखते सब कुछ का सीधा-पूरा स्वीकार न हुआ हो तो भीतर वह कचोटता रहता है, चुभता रहता है। इस चुभन के कारण हीनताग्रन्थि पैदा होती है और वह मनुष्य अपने आप को समझाने का प्रयत्न करता है। अपनी प्रज्ञा को बुद्धि को धोखे में डालने लगता है कि "नहीं, ये वासनायें, ये विकार, ये दोष मुझमें नहीं हैं।" अपनने-आप को ही ठगने के जंजाल में मनुष्य फंस जाता है। जो साफ़ दिखता है उसे समर्थन और बचाव की दीवारों में छिपाने-ढहाने का उद्योग खड़ा करता है। भीतर गुनहगारपन महसूस होता है, बाहर उसे दबाये-छिपाये रखने के प्रयासों का धन्धा चलता है।

इस तरह दमन-पीड़न-पाखण्ड में मनुष्य पड़ा रहता है तब मनः शारीरिक (Psychosomatic) व्याधियाँ प्रकट होने लगती हैं। क्योंकि भीतर घमासान द्वंद्व मचा रहना है। 'मैं दोषी हूँ'—यह भान रहता है। 'दोष मुझमें है' इससे अहंकार घायल होता है। 'मैं दोषी हूँ—इसका पता किसी को नहीं लगना चाहिये' यह चोर वृत्ति बढ़ती है; अपने आप में दोष का अस्वीकार या लज्जा, फिर खुद से और बाहर सबसे उस दोष और दोषीपन के भान को छिपाने की खटपट—चलती रहती है।

इसी सब खटपट के जंजाल में से पहले असन्तुलन पैदा होता है, उससे भीतर अशुद्धि आती है एवं विष (Toxin) बनने लगता है। किसी भी प्रकार का असन्तुलन (आहार-विहार का हो या वृत्तियों का) यदि अधिक समय तक भीतर रहने दिया जाता है तो उसमें से आधि-व्याधि उत्पन्न होते हैं। असन्तुलन व्याधि का प्रारम्भ है। अपने विकारों-वासनाओं को छिपाने-दबाने की इच्छा, उन दोषों के कारण हीनता-बोध, अपराधी मनोवृत्ति, अपराधी होने का भाव बना रहना, उसे भी दूसरों से छिपा रखने के प्रयत्न—ये सब आधि-व्याधि के प्रारम्भिक लक्षण हैं। पर तब हम उन्हें व्याधि रूप से पहचानते नहीं। वे जब अधिक बढ़ जाते हैं, वश के बाहर हो जाते हैं, तब उन्हें 'व्याधि'—संज्ञा दी जाती है। यदि हम अपने उन विकारों-असन्तुलनों की ओर देखने लगें, उनका स्वीकार करें यानी 'ये वासनायें व विकार मुझमें हैं'—ऐसा समझ कर मान लें, खुली आँखों से स्पष्ट रूप से उनकी ओर देखने लगें और वास्तव में उन्हें बनाये रखना न चाहें, तो आधि-व्याधि उत्पन्न होना तो दूर रहा, हमारे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवन से विसङ्गत या विरोधी सभी इच्छा-आकांक्षाये विसर्जित होने लगती हैं। उनका नियमन, नियन्त्रण, निग्रह निरोध कुछ भी नहीं करना पड़ता। वस्तुत: जीवन क्या है? जीवन का लक्ष्य या प्रयोजन क्या है? इसका विचार करना पड़ता है और यदि जीवन से प्रेम हो, जीवन का दिव्यत्व हमें प्रतीत हुआ हो और जीने का कर्म ही सबसे बड़ा धर्म है यह बोध हुआ हो तो यह अवलोकन, इच्छा-आकांक्षाओं का विसर्जित होना घटित होने लगता है। चाहिये केवल जीवन के प्रति प्रेम। जीवित रहते हुए जीने की इच्छा, उत्कण्ठा।

प्रश्न—What happens to the suppressed energies of a Sādhaka, while doing Sādhanā ? Are there any methods to eliminate them ?

(साधना करते समय, साधक की दमित ऊर्जाओं का क्या होता है? क्या उन्हें मिटा देने की कोई प्रक्रिया-पद्धतियाँ हैं?)

उत्तर—You can not eliminate them sir ! they are you, you are they. Instead of asking—what happens to the suppressed energies, why not take one step further and ask the question—Why any energy should be suppressed ?

[भाई! दमित ऊर्जाओं को मिटाया नहीं जा सकता; वे आप का अपना आप या अङ्गभूत हैं। उन्हें मिटाने का उपाय पूछने की बजाय एक कदम आगे बढ़ कर पूछिये कि किसी भी ऊर्जा को दबाया क्यों जाय?]

जिज्ञासा आधे में रुकती नहीं है। अपने को सुविधा रहे बस उतनी ही दूरी तक प्रश्न नहीं पूछती वह। और जहाँ तक प्रश्नों के जवाब अपने अनुकूल हों, वहीं तक अपना मुकाम-मंजिल नहीं मानती है जिज्ञासा। जिज्ञासा अन्त तक ले जायेगी। जैसे प्रेम रुकना नहीं जानता, मोहब्बत रुकना नहीं जानती, वैसे जो सत्य समझना चाहता है उसकी जिज्ञासा भी अन्त तक रुकती नहीं है।

आपने पूछा है कि दबाई हुई या दबी पड़ी हुई ऊर्जाओं को हटाने-निकाल कर दूर कर देने का क्या कोई रास्ता है? आप मुझे बताइये कि अपने जीवन में से अज्ञान किस तरह निकाल डाला जाता है? क्या अज्ञान से लड़ना पड़ता है? सामान्य स्तर के अज्ञान को ही लीजिये; मानें कि हम गणित-भूगोल-इतिहास आदि नहीं जानते हैं, तो क्या करते हैं?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्यालय गये (या उस-उस विषय की पुस्तकें ले लीं, जानकार व्यक्तियों के पास गये) उस विषय को पढ़ा, पूछा, अध्ययन किया, तो उस विषय का अज्ञान दूर हुआ, गलतफ़हमी या ग़लत जानकारी दूर हुई। ग़लत जानना या न जानना गैरसमझ, अपसिद्धान्त भी तो एक ऊर्जा थी, वह निकल गई। यह कैसे हुआ ? जो नहीं जानते थे वह जान लिया तो 'नहीं जानना' (अज्ञान) दूर हो गया। ऐसे ही जो ऊर्जायें भीतर पड़ी हैं उनका उद्गम व स्रोत कहाँ है यह समझ लें। आप देखने लगेंगे तो पता चलेगा कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि नामों से जो जानी जाती हैं वे ऊर्जायें ही हैं। उनके अलग प्रवाहों (channels) के कारण अलग-अलग नाम दिये जाते हैं, वास्तव में वे हैं एक ही। वह ध्यान में आ जायेगा तो ये ऊर्जायें जो ग़लत दिशा में चली जाती हैं (misdirected) सो उधर नहीं जायेंगी। तब suppression या elimination का सवाल ही नहीं रहेगा। दिशा का प्रश्न है कि ऊर्जा को किस रास्ते से ले जाना है।

"माली जिधर ले गया। पानी उधर ही चल दिया।
उस पानी जैसा कर्म तेरा। हो अर्जुन ॥"

ऐसा जो ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है, तदनुसार इच्छा शक्ति (The Primary energy of desire) (माहेश्वरी, महाकाली, महासरस्वती, महालक्ष्मी) की सन्तान सब कामनायें, सब वृत्तियाँ जीवन की मूल सत्ता के साथ जुड़ जाँय। ये किस दिशा में जाने से हमारे जीवन की लक्ष्य दिशा में जाने की सहयोगी बनेंगी—यह जानने के बाद वे ग़लत दिशा में जाती नहीं हैं। क्योंकि जीवन का मूल स्रोत प्रज्ञा (Intelligence) है कोई अन्धी शक्ति (blind force) नहीं।

निरोध से जो अधिक उभरे, संयम जिसका सहाय बने
वह क्या स्वभाव को अपने, छोड़ेगा कभी ? (ज्ञा० ६/४१६)
तब बोले कृष्ण हाँ पार्थ, तू जो कहता वह सत्य।
स्वभाव से ही है चपल, वस्तुतः मन ॥ ४१८....
मन का एक भला गुण। जो भावे उसका व्यसन।
अतः कौतुक से आत्मसुख। चखायें इसे ॥ ४२०।....
जन्म से ही मन को कभी, युक्ति का स्पर्श हुआ नहीं।
तो कैसे निश्चल होगा कहीं, कहो तुम ही ! ४२२ ॥....

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—Whether a man having a very weak body and suffering from a chronic disease, will sustain the explosion of life energy ?

(क्या बहुत दुर्बल रुग्ण शरीर-वाला व्यक्ति जीवन-ऊर्जा के अचानक विशेष आविर्भाव या स्फोट को सह सकता है ?)

उत्तर—प्रश्न स्पष्ट नहीं है। किसी पुरानी लम्बी बीमारी से ग्रस्त और दुर्बल शरीर वाले व्यक्ति की चेतना में 'जीवन ऊर्जा' का अचानक प्रकटोकरण क्यों हुआ होगा—यह भी तो देखना पड़ेगा। वह यदि ज़बर्दस्ती कराया गया हो तो शरीर उसे सहन नहीं करेगा। लेकिन वह अपने आप यदि हुआ हो तो पथ्य से पाला जाता हुआ शरीर उसे धारण सहन कर भी सकता है, पर कुछ बीमारी शरीर में चलती रहेगी। वह सहसा प्राकट्य (sudden explosion of energy) होने से सभी बीमारियाँ एक-दम हट जायेंगी ऐसा होता नहीं है, जब तक कि योग-साधना या मौन की साधना न की हो। यदि योग-साधना की है और मौन में प्रतिष्ठित चित्त है, या ध्यानावस्था तक चले गये हैं तो यह हो सकता है कि सब व्याधियों का निराकरण हो जाय, व्याधियाँ शान्त हो जांय।

देखना पड़ेगा कि वह शक्ति का अचानक प्रकट होना या विस्फोट किस तरह हुआ ? क्या कृत्रिम रीति से कराया गया (provoked) है ? शक्तिपात कराया ? कोई चक्रभेदन-चक्रसञ्चालन कराया है ? या किन्हीं उन्मत्तावस्था में रहने वाले साधु-महात्मा के पास गये और उनको नज़र पड़ी—तब यह शक्ति-विस्फोट हुआ—ऐसा कुछ है ? यह (explosion) होना कोई बड़ी बात नहीं है, लेकिन शक्ति जागृत होने पर उसे आत्मसात् (assimilate) करने का सामर्थ्य शरीर में होना आवश्यक है, ताकि वह शक्ति-जागरण शरीर में किसी प्रकार असन्तुलन पैदा न करे और व्यक्तित्व निरामय रहे, अन्तर्बाह्य स्वास्थ्य बना रहे।

शक्तियाँ जागृत करने-कराने के अनेक रास्ते हैं। लेकिन शरीर से मन तक उनको धारण कर सकें, समाधि रूप में उस शक्ति को जीवन में प्रत्येक क्षण में जी सकें, व्यक्त कर सकें—यह मुश्किल होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—आप कहती है कि "जीवन जीने में ही जीवन की परिपूर्ति समायी हुई है", तो वह जीना क्या है ? उसमें कैसी परितृप्ति या कौन-सा समाधान (चैन, शान्ति, सन्तोष) है; इसे समझाया जा सकता है क्या ?

उत्तर—हाँ, भाई ! जीवन जीने में ही जीवन की परिपूर्ति समायी हुई है। जीवन जीने के लिए है। जीवन में गति और स्थिति-रूप दो अङ्ग हैं जो परस्पर पूरक एवं पोषक हैं। इन दोनों अङ्गों में जीवन विविध सम्बन्धों में व्यक्त होता है। जहाँ विभिन्न पदार्थों से, प्राणियों से, मनुष्य-व्यक्तियों से, निसर्ग के विविध रूपों से सम्बन्ध आता है, मनुष्य के बनाये हुए समाज से और विविध व्यवस्थाओं से सम्बन्ध आता है। इन सम्बन्धों में गति धारण करके जीना पड़ता है। शरीर के हलन-चलन में एक गति है। वाणी से बोलने में, विचार, चिन्तन करने में गति है। अन्याय हो रहा हो तो उसका प्रतिकार करने में गति है। इस तरह जहाँ-जहाँ आवश्यकता हो वहाँ गतिमान् होना या गति धारण करना जीवन है और जहाँ गति की आवश्यकता नहीं, वहाँ स्थिर रहा जा सके, यह भी दैनिक दैहिक जीवन का एक अंग है। यह स्थिर बठना, स्थित-स्थिर रहना आप हम सबके जीवन-स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है, केवल साधु-संन्यासी-महन्त आदि के लिये नहीं।

कभी पाँच-सात दिन पूरी तरह अकेले रहें, और किसी से बोलने की आवश्यकता न हो, तब मौन रहा जाय। बहुतों को ऐसे एकान्त में (जहाँ किसी से बोलने की गुंजाइश न हो) जीं घबराने लगता है, कैसा-कैसा लगता है। शब्द के बिना रहा नहीं जाता। स्थिर रहना नहीं आता। स्वयं शब्द बोलना और किसी के शब्द सुनना, बोलने की क्रिया-प्रतिक्रिया रूपी हलन-चलन करते रहना—इस गति के बिना रहा नहीं जाता। ऐसा हो तो समझना चाहिये कि जीवन के स्थिरता अंग को हम जो नहीं पाये। उतना जीवन अपूर्ण-एकांगी रह गया। जीवन जीने में ही जीवन की परिपूर्ति है—वह एकांगी जीवन में नहीं होती।

घर में कोई दूसरा नहीं है; अत्यन्त प्रिय व्यक्ति सदा के लिये बिछुड़ गया है, जीवन में एकाकीपन आ गया है, वह एकाकीपना भी जीना आना चाहिये। साथ था, वह साथ पूरा हो गया–समाप्त हो गया, इस परिस्थिति को भी जी लेना चाहिये। सम्बन्धों में भी जी सकें, एकान्त में एकाकीपन में भी वैसे ही शान्ति से जी सकें। शब्दों में खेल सकें वैसे ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मौन में भी विहार कर सकें। जीवन में परिपूर्त्ति तभी आती है जब गति और स्थिति, शब्द और मौन, सम्बन्ध और एकान्त इन दोनों अङ्गों का स्वीकार करते हुए जीवन जिया जाय। पर हम जीवन के उस दूसरे अङ्ग का स्वीकार नहीं करते। अकेले हों तो रेडियो, वीडिओ, टी० वी० या कैसेट् सुनना शुरू कर देंगे, वह न हो तो कोई पत्र-पत्रिकायें उलटने लगेंगे। जिसमें विचारों-भावनाओं को उत्तेजना मिले और प्रतिक्रियायें चलती रहें। इसी को हम 'जीना' मानते हैं। एकान्त या मौन सहज नहीं होता। यह परायत्त जीवन है। जीवन की परिपूर्त्ति जीने के कर्म में ही समायी हुई है।

जीने के कर्म का और एक लक्षण समझ लें। हमारा जो यह जीवन है इसे बस इन्द्रिय-मन-बुद्धि के सुख-दुःख कमाने और भोगने का एक साधन-मात्र न बना डालें; उस कमाई के लिये ही इसे व्यय न करें; इसे केवल उपयोग करने का यन्त्र-माध्यम-मात्र न मानें। सुख-दुःख तो जब जो आने हैं वे आयेंगे ही, वे भी जीवन के अंग हैं। पर उनमें से एक के पीछे जाकर दूसरे को टालने का प्रयत्न करते रहने में हम जीवन का अपमान करते हैं। सुख प्राप्त करने और दुःख टालने के लिये हम जीवन को एक व्यापार, सौदे की चीज़ बना डालते हैं। क्या करने से यह (अभीष्ट सुख) मिलेगा और क्या करने से वह (अनभीष्ट दुःख) टलेगा—इसी जोड़-तोड़ में शरीर-मन-बुद्धि को घिसते रहते हैं, इससे जीवन जीना साध्य न रहकर साधन बन जाता है। **It is not a means to an end. To live is itself an end. Life is divine, and the movement of living is the best worship of divine, it is the best acknowledgement of the divinity of life.**

इसलिये मैं कहती हूँ कि जीवन जीने के कर्म में ही जीवन की परिपूर्त्ति है। इसमें किस अर्थ में एवं किस परिपूर्त्ति का संकेत है यह आपके ध्यान में आया होगा। जीवन का हेतु जीवन के बाहर नहीं है। कहीं से कुछ पाने के लिये साधन-रूप यह जीवन नहीं है। किसी हेतु या प्रयोजन की पूर्त्ति के लिये जीवन नहीं है, बल्कि जीवन का होना ही अपने आपमें एक बड़ा बरदान है। जीवन-सत्ता का यह अनुग्रह हमें मिला हुआ हैं। यह शरीर मिला है, इसमें सुन्दर-समर्थ इन्द्रियाँ हैं, उन्हें अपने-अपने क्षेत्र में प्रवृत्त करने वाले मन-बुद्धि हैं, इनमें ऊर्जायें हैं। ऐसी यह जीवन सत्ता है, जीवन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का यह महान् वरदान हमें मिला है—यह यदि ध्यान में आ जाय तो मनुष्य अपनी आयु-भर जो भी करने में आये वह पूरी जागृति एवं सावधानता से करेगा। और कर्म करते समय यह भावना नहीं रहेगी कि "किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये यह कर रहा हूँ" या "इसमें जो सुख मिल रहा है या मिल सकता है उसे बचा रखना है भविष्य के लिये; उसे उपभोग्य मानकर कम से कम स्मृति व संस्कार रूप से इसे बनाये रखना है"—ऐसी इच्छा नहीं रहती। वह जानता है कि जीवन अनन्त है, इसमें ये सुख-दुःख आते ही रहेंगे। इसलिये वह कुछ संगृहीत कर रखने की इच्छा नहीं करता। वह सच्चे अर्थ में अपरिग्रही और निःसङ्ग बनता है।

"सत्सङ्गत्वे निःसङ्गत्वम्।"

इस निःसंगता का अभिप्राय बाहरी संग छोड़ने में नहीं, बाहरी निःसंगता अभिप्रेत नहीं। वृत्ति की निःसंगता कही गयी है; अनावश्यक कृति एवं वृत्तियों का संग तथा संग्रह वह मनुष्य नहीं करता—यही आशय है।

प्रश्न—"ॐ नमो जी आद्या। वेदप्रतिपाद्या।
जय जय स्वसंवेद्या। आत्मरूपा॥"—इसका थोड़ा अर्थ समझ में आया है। पर सर्वप्रथम ॐङ्कार को प्रणाम क्यों किया?

उत्तर—क्योंकि ॐङ्कार मंगलवाचक है, ब्रह्म का वाचक है, एकाक्षरी ब्रह्म है। ब्रह्म का, परमात्मा का स्मरण करना हो तो प्रणव (ॐ) का उच्चारण किया जाता है, उसी में समस्त देवी-देवताओं को नमन-प्रणाम-नमस्कार हो जाता है। इस उच्चारण में वाणी थम जाती है, विश्राम पाती है। ॐकार का नाद अनाहत नाद है, स्वयम्भू नाद है। वह स्वयं सिद्ध नाद सृष्टि में समाया हुआ है। सच कहें तो वह नाद परमात्म-सत्ता का परिमल है।

प्रश्न—स्वसंवेदन और ॐ में किस प्रकार का सम्बन्ध है?

उत्तर—प्रश्नकर्त्ता अपनी वाणी में ॐ कार को धारण करके देखें। वैखरी वाणी में उच्चस्वर से ॐकार का उच्चारण करते हुए स्वयं उसे सुन सकें—ऐसा अभ्यास करके देखें। फिर उसे कण्ठ से धारण करते हुए उपांशु जप करें, उसका शरीर पर क्या परिणाम या प्रभाव होता है यह देखें। शरीर में कैसी उष्णता, संवेदनशीलता की गुणवत्ता इन्द्रिय-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शक्तियों की तीक्ष्णता-वेधकता-उत्कटता एवं गुणवत्ता आदि बढ़ती है इसे स्वयं प्रयोग करके देखें, तो समझ में आ जायेगा कि स्वसंवेदन और ॐकार का कितना सम्बन्ध है।

यदि वास्तव में इसकी गहराई में उतरना हो तो नाद का मूल स्वरूप जो बिन्दु है, बावन मातृकाओं के रूप में विकसित (व्याकृत) होने से पहले जो निस्पन्द रूप नाद है––उसे देखें। स्पन्द से पहले की स्थिति है बिन्दु। स्पन्द उत्पन्न होने पर बिन्दु में से नाद की कलायें विस्तार पाती हैं, और बावन मातृकाओं का रूप धारण करती हैं। फिर स्वर-विस्तार होता है।

"चार ही वाचा श्रृंगार अविद्येचा" (चारों वाणियाँ अविद्या का ही श्रृङ्गार हैं)-–ऐसा जो ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है उसका अर्थ है कि शब्दात्मक ब्रह्म भी शबल ब्रह्म (ब्रह्म का अविद्या-सन्निध रूप) है, वह विशुद्ध स्वरूप नहीं, निष्कल रूप नहीं। (ज्ञानराय के ग्रन्थों में नाथ सम्प्रदाय के पारिभाषिक शब्दों का बहुत उपयोग है, उन्हींमें हैं ये सकल-अकल-निष्कल शब्द) बिन्दु निष्कल के निकट है। प्रणव में इस बिन्दु शब्द का भंग नहीं होता ऐसा स्पन्दशास्त्र का कहना है।

चेतना में आत्मसत्ता का स्पर्श होने पर प्रणव का एकान्त सध जाता है। वह नाद जैसे ब्रह्माण्ड में सतत चल रहा है वैसे अपने शरीर में भी चल ही रहा हैं। उस नाद का एकान्त (नित्य भान) सध जाता है। मधुराद्वैत की भाषा में कहें तो नाद और बिन्दु का सम्भोग घटित होता है, तब आत्मसत्ता की स्वसंवेद्यता का रहस्य खुलता है और जीवन में प्रकट होता है।

प्रश्न—केवल इन्द्रिय-संवेदन और 'स्वसंवेदन' में क्या फर्क (अन्तर) है ?

उत्तर—इन्द्रियों में संस्कारों की गति भरी हुई है। हमारे शरीर के सातों धातुओं (रक्त, मांस, मेद, अस्थि-मज्जा-रस-वीर्य) में कण-कण में मनुष्य जाति के आरम्भ से लेकर अब तक के गतानुगतिक परम्परागत वंशानुगत संस्कार भरे पड़े हैं। देश के रूप में वे संस्कार ही प्रकट हुए हैं। अतः, इन्द्रियों में पड़ी हुई जो परायत्त गति है, उसे हम (प्रचलित अर्थ में—) 'विकृति' न कह कर प्रकृति (वास्तविकता) ही कहें, पर वह जो हमारा हृदय है—वही देखता है, या हम उन संस्कारों में से ही देखते हैं। वे संस्कार और उन्हें देखने वाला कोई—ऐसा द्वैत वहाँ वास्त-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विक है, वस्तुगत है। परन्तु स्वसंवेद्यता में न तो किन्हीं इन्द्रियों का सम्बन्ध है न संस्कारों का, बुद्धि का भी सम्बन्ध नहीं, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ आदि का कोई सरोकार नहीं। 'इन्द्रियाँ नेणतां जाणिले। इन्द्रियाँ सोडूनि मेलिले।' इन्द्रियों को मालूम भी नहीं पड़ा; इन्द्रियों को अज्ञान ही रहा और स्वसंवेदन हो गया; ऐसो स्वसंवेद्यता ज्ञान है।

वहाँ द्वैत नहीं है। शब्द-प्रयोग करना पड़ता है कि 'मैंने स्वयं को जाना!' "मैं" 'स्वयं' और 'जानना' इनमें कोई भेद है—एक के द्वारा दूसरे के प्रति 'जानने क. क्रिया' हुई ऐसा भ्रम होता है। पर शब्द लंगड़े हैं, अपनी सीमा के परे वे जा नहीं सकते। स्वसंवेद्यता में वेदक-वेद्य-वेदन का अन्तर नहीं, क्रिया और कर्त्ता व कर्म अलग नहीं, एक ही हैं।

आप नदी या सागर के तट पर गये हों; जल में उठती तरंगें; प्रवाह या जल-स्थान से आगे बढ़कर तट पर धरती पर दौड़ी चली आती तरंगें देखी हों, और कभी मन में आये कि अञ्जलि भर ये तरंगें घर ले चलें, अञ्जलि में लहरें लेने गये तो पानी ही अञ्जलि में आयेगा न। लहर पानी के ऊपर हैं, धरती पर भी आती हैं, पर पानी से पृथक् कोई सत्त्व-अस्तित्व लहरों का नहीं है। पानी ने लहरी का स्वरूप धारण किया, उसी तरह सत्ता ने संवेदन का स्वरूप लिया। पर जानने वाला और जो जाना गया ऐसी दो हस्तियाँ (entities) वहाँ नहीं हैं; न जानने की क्रिया ही है। यही मूलभूत अन्तर है इन्द्रिय-संवेदन और स्वसंवेदन में।

प्रश्न—रसना को कितना ह मनायें, पर वह मानती नहीं। समझाने से समझती नहीं और इस मृण्मय साज में चिन्मय के सुर तो छेड़ने ही हैं। फिर इस रसना के साथ क्या किया जाय?

उत्तर—करने वाला कौन? और, 'इस मृण्मय साज पर चिन्मय के सुर छेड़ने ही हैं'—यह अहङ्कार का आग्रह है? यह महत्त्वाकांक्षा है? या कोई आनुषङ्गिक परिणाम है जीवन-शैली का? या फिर किसी पुरुषार्थ का बल इसका प्रेरक है?

Is it a consequence of an effort of the will? Or, is it a happening as a byproduct of the wholistic way of living!

'जिह्वा के साथ क्या करें?'—यह गलत प्रश्न है। उससे शुरू करें तो हाथ में कुछ नहीं आयेगा। करना ही हो तो दमन-निग्रह-निरोध आदि में उलझिये! वरना 'चिन्मय का सुर छेड़ना ही है'—इसी को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गहराई से छान-बीन कर जाँच-परख कर देखें। "दूसरों के जीवन में जो घटित हुआ वह मेरे जीवन में भी घटित होना ही चाहिये ? दूसरों में यह हो सका तो मुझसे क्यों नहीं हुआ ?'—ऐसी सूक्ष्म ईर्ष्या है क्या ? 'वह दशा प्राप्त करनी है''—ऐसा क्या सम्पत्ति बढ़ाने जैसा मोह है ? (अध्यात्म को भी सम्पत्ति की वस्तु माने बैंठे हैं ?)

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि वैसा कोईं आग्रह चित्त में पड़ा हो तो पहले वह आग्रह छूट जाना चाहिये। आग्रह से होने वाली साधना तामसी होती है। श्रीमद्भगवद्गीता के १७ वें अध्याय में श्रद्धा, तप और धृति आदि के तीन प्रकार—(सात्त्विकी-राजसी-तामसी) बताये हैं। हमारे ज्ञानराय ने तो भावार्थदीपिका में उन्हें खूब ही विस्तार में समझाया है। गीता में जो कहा है उनका अर्थ अपनी अनुपम शैली से ज्ञानराय ने विशद किया है। वहाँ भी कहा है कि आग्रह-पूर्वक जो कुछ भी किया जाता या घटित होता है वह तामसिक ही है। तमस् से ढका हुआ ही रजोगुण भी वहाँ रहता हैं। इसलिये—"अनाग्रहो नाम प्रथमं बुद्धि-लक्षणम्'—आग्रह न होना (सद्-) बुद्धि का पहला लक्षण है। अतः आग्रह के आवेश में नहीं, सहज रूप से ही मृण्मय साज पर चिन्मय की रागिनी बजने दें।

यह 'मृण्मय' और 'चिन्मय' ऐसा विभाजन भी क्या मनुष्य के मन का ही उपजाया हुआ नहीं ? जब "आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, उससे वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई"—यानी सृष्टि में जो कुछ है वह सब आत्मा का ही बिस्तार है, तो 'मृण्मय' और 'चिन्मय' का भेद कैसे ? इस मिट्टी के पेट में अनन्त रूप, रस, गन्ध समाये हुए हैं; बड़ा वैभव है मिट्टी में। इसलिये मृण्मय और चिन्मय में कोई भेद मानने का कारण मुझे दिखाई नहीं देता। यह सभी कुछ चिन्मय ही है। नहीं तो नन्हा सा बीज बोने पर धरती उसे विशाल वृक्ष बना पाती ? कण भर बीज से मन भर शस्य (अन्न) धरती में से उपजता ? केवल पानी सींचने से कहीं से भी कुछ भी पैदा आप नहीं कर सकते। अपने यहाँ तो पञ्चमहाभूत भी 'पञ्चीकृत' हैं। (प्रत्येक एक में बाकी चारों का अंश मिला है) प्रत्येक में अन्य सब समाये हुए हैं। इसलिये मृण्मय में चिन्मय समाया हुआ है। यहाँ भान हो तो Hierarchy (ऊँच-नीच का स्तरभेद) का भाव चित्त में नहीं रहता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हाँ, वह चिन्मयता हमारी मृण्मयता में से प्रकट हो, व्यवहृत हो, और हमारी उपस्थिति, हमारा जीवन ही चिन्मय हो रहे—इसके लिये जो, शोधन करना पड़े वह अवश्य किया जाय।

रसना का एक अर्थ है जिह्वा; लेकिन पूरी काया ही रसना नहीं है क्या ? जिस-जिस करण (साधन, माध्यम, इन्द्रिय) के द्वारा रस-ग्रहण किया जाता है वह रसना ही तो है ? इस विश्व में समाये हुए 'रस' का सभी इन्द्रियों से, सर्वाङ्ग से अपने समूचे व्यक्तित्व से-अस्तित्व से (इन्द्रिय मन-बुद्धि-प्राण-शरीर-सभी कुछ द्वारा) ग्रहण किया जाय। पदार्थों का सुख नहीं, पदार्थों में विद्यमान रस का सुख लिया जाय।

संगीत समझते हों तो मालूम होगा कि विभिन्न स्वरों (श्रुतियों) के मध्य के अन्तराल में स्वर-लय-ताल का लावण्य भरा होता है। उसी प्रकार इन शब्दों के पीछे जो शून्य है उसका भान शब्द सुनते समय हो; संगीत सुनते समय नाद के पार गूँजती शान्ति का भान हो। इसलिये मैंने कहा कि अध्यात्म एक जीवनशैली है। It is a style of living. Spirituality is a wholistic style of living, not a fragmented one.

उठते-बैठते, चलते, भोजन करते, पानी पीते, किसो से भी बात करते, कोई भी काम करते या व्यवहार करते समय यदि जीवन की समग्रता का, अखण्ड व्यापक दिव्य सत्ता का भान रहे, और उस समग्रता के अनुरूप संवादी व्यवहार जीवन के प्रतिपल में होता रहे तो केवल रसना ही क्यों समूचे शरीर का रग-रग, सभी इन्द्रियाँ भली-भाँति सब समझेंगी और पदार्थों के भीतर जो रस प्रकट हो रहा है उसका ग्रहण करेंगी।

प्रश्न—मन में पड़े हुए जन्म-जन्म के संस्कार मिटते नहीं। उन पुराने संस्कारों को कैसे हटाया जाय।

उत्तर—वे संस्कार आये कहाँ से ?—पहले यह मुझे बतायें। इन्हें हटाना है यानी क्या ? क्या किसो बाड़े से—क्षेत्र या सीमा से बाहर निकाल देना है ? जब यह समूचा देह ही संस्कारपुञ्ज या संस्कारराशि है तो इसे कहाँ डालेंगे ? फिर यह भी तो सोचिये कि संस्कारविहीन जीवन तो सर्वथा प्राकृत होगा केवल नैसर्गिक वृत्तियों से चालित (चिन्तन व स्वातन्त्र्य से रहित) होगा। क्या वैसा जीना मनुष्य को अच्छा लगेगा ? संस्कारों को बन्धन न बनने देना—यह अवश्य "योगः कर्मसु कौशलम्"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। पर संस्कारों से रहित संकेतों से रहित जीवन इष्ट नहीं होगा। चिन्तन-मनन करना चाहिये कि ये संस्कार क्या हैं? कहाँ से आये हैं? क्यों संस्कार किये गये? और प्राकृतता में से संस्कृतता की ओर जाना यह मनुष्य जीवन का ध्येय कैसे बना? संस्कार न होते तो मनुष्य-समाज का जीवन 'पशुओं जैसा होता'--कहने जा रही थी, लेकिन उससे पशुओं का अपमान होगा। क्योंकि उनकी अपनी एक गरिमा है; बहुत-कुछ सीखने लायक है उनसे। हाँ, संस्कारों के कारण कुछ मर्यादायें और बन्धन अवश्य आते हैं। समाज के घटक होने के नाते संस्कारों का प्रयोग विनियोग-व्यवहार करना पड़ता है। वह सीखना चाहिये। कहाँ किन संस्कारों के अनुसार बर्ताव किया जाय? विनय-विनम्रता कहाँ बरती जाय? साहस कहाँ प्रकट किया जाय? अन्याय का प्रतिकार करना हो तो मनुष्य में वीरता चाहिये, धैर्य चाहिये, तीव्रता-तीक्ष्णता-उत्कटता चाहिये। उसे आप आवेग-आवेश कहें, और अन्याय का प्रतिकार करने में राजसिकता आती है--ऐसा कहें--तो चूक जायेंगे। जीवन की आवश्यकता पहचान कर जीना आपको नहीं आया।

अतः संस्कारों का स्वरूप, प्रकार, विनियोग का ढंग, अवसर तथा उनकी मर्यादा परखना चाहिये, पर आग्रह नहीं रखना चाहिये कि "मेरे जो संस्कार हैं वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं, सबको उन्हीं के अनुसार व्यवहार करना चाहिये।" हठ का पागलपन नहीं चढ़ना चाहिये। संस्कारों का उन्माद हो जाय, सनक चढ़ जन्य तो वे बन्धन बन जाते हैं। वे संस्कार दूसरों पर लादने के लिये आप पद्धति-प्रक्रिया बनाने लगते हैं। इसी में से सम्प्रदाय खड़े होते हैं। पर अपने भीतर चले आये मनुष्य जाति के संस्कारों की मर्यादा समझते हुए उनके शुभ-अंश व शिक्षण के अनुसार जीवन जीना होता है। इसमें, अभिमान नहीं पैदा होता कि 'हम संस्कारों से मुक्त हो गये, 'सिद्ध' हो गये! मंजिल पर पहुँच गये! जीवन्मुक्त-विदेहमुक्त हो गये।" ऐसा अहङ्कार नहीं आता। हम पहचानते हैं कि यह शरीर ही संस्कारों से बना है, इसको मर्यादा में हमें जीना है। इस देह के माध्यम से जीना है, वाणी की मर्यादा में बोलना है। यह मर्यादा इस जीवन का ऐश्वर्य है और संस्कारों का भी स्वरों की भाँति समुचित विनियोग करना आ जाय तो जीवन में संगीत प्रकट होता है।

इसलिये कोई आग्रह न हो; हठधर्मिता न हो, आवेश-अभिनिवेश-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आवेग न हो; कोरी प्रक्रिया-प्रद्धतियों में उलझे न रह जायें। हमारे रास्ते में सहज रूप से जो भी आ जाय उस स्थिति व घटना को समग्रता से जीते चले जाँय। हम घर बनाते हैं तो उसमें प्रकाश एवं शुद्ध पवन के याता-यात के लिये दरवाजे-खिड़कियाँ-झरोखे रखते हैं, और उन्हें खुले रखते हैं। उसी तरह इस शरीर-भवन में विभिन्न इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि आदि जो खिड़कियाँ हैं उन्हें स्वच्छ तथा खुली रखें; जीवन की ताज़गी-तरी और रोशनी भीतर आने दें।

आखिरी मुद्दा; हमारे भीतर संस्कार हों, और उन संस्कारों के अनुसार ही व्यवहार होता हो तो भी उसमें यान्त्रिकता न आने दें। व्यवहार को आदतों का ढाँचा न बनने दें। तात्पर्य यह कि संस्कारों को फेंकने की बजाय, उनकी संगति में वैज्ञानिकता से जीयें, संस्कारों का विधायक एवं समुचित विनियोग करते हुए जीवन को समृद्ध बनायें। संस्कारों को शत्रु भी न मानें और उनको ही पकड़ बैठकर, अधीन होकर उनके गुलाम बनकर भी न जोयें। न तो संस्कारों की गुलामी हो, न स्वामित्व हो, कि "ये 'मेरे' 'मेरे वंश के' संस्कार हैं, इसलिये ये ही श्रेष्ठ हैं!"

जिन ज्ञानराय की वाणी आप सुनना चाहते हैं उनका यह सहज-योग है। इसे ही नाथ-पन्थ में सिद्धमार्ग, बीजमार्ग कहा जाता है।

प्रश्न—अहङ्कार का जीवन में क्या महत्त्व है? अहंभाव यदि निःशेष हो जाय तो जीवन क्या निस्तत्त्व, प्रयोजनहीन नहीं हो जायेगा?

उत्तर—अहंकार शब्द से वास्तव में क्या अर्थ आपको अभिप्रेत है—यह पहले देखना होगा। "I-consciousness" या 'मैं' क्या है? जीवन की सर्वव्यापक अखण्ड सत्ता से पृथक् स्वतन्त्र 'मैं' कोई व्यक्ति हूँ क्या? यदि वैसा मानते हों तो उसे हम 'अहं' कह सकते हैं। भूमिति-शास्त्र में जैसे 'मान लें कि एक बिन्दु है' ऐसे 'मान' कर (supposing) कागज पर एक बिन्दु अङ्कित करते हैं। बिन्दु (point) की व्याख्या परिभाषा देते हैं कि जिसमें न लम्बाई है न चौड़ाई है। जबकि अंकित किये जाने वाले बिन्दु में सूक्ष्म नाप से लम्बाई व चौड़ाई दोनों होती हैं। पर उस माने हुए लम्बाई-चौड़ाई-हीन बिन्दु पर सारा भूमिति-ज्यामिति शास्त्र अवलम्बित है, उसी पर वास्तु-शिल्प (इंजीनियरिंग्) आधारित है। बिन्दु का ही प्रस्तार करने से रेखा बनती है और रेखाओं द्वारा अलग-अलग बिन्दुओं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को जोड़ने में—आयत, वर्ग, त्रिकोण, तारक (पञ्चकोण) वृत्त, अर्धवृत्त, लम्ब, वर्तुल आदि सभी आकृतियाँ बनती हैं। यह सारा सुन्दर खेल उस 'माने हुए' बिन्दु से ही चलता है। ज्यामिति शास्त्र एवं उसके आनुषङ्गिक शिल्प आदि में जो स्थान बिन्दु का है, वही हमारे समाज, और पारिवारिक जीवन में 'अहं' का है।

१ से ९ तक के अङ्क हैं, उनका परस्पर का सम्बन्ध अपने पूर्वजों ने निर्धारित किया हुआ है। उस निर्धारण के पीछे आधार क्या था, क्या सोचकर वह निर्धारण किया होगा—यह मालूम नहीं, शायद कोई वराहमिहिर उसे जान सकें। इन १-९ अंकों तथा ० शून्य की धारणा (Conception) पर और इनके परस्पर (numerical relation) (गणनात्मक सम्बन्ध) पर सारा गणित खड़ा है, बीज-गणित और रेखागणित का भी आधार है वह। सारा नाप-तौल, योजना, अनुमान आदि करने में किसी न किसी प्रकार मापदण्ड बनते हैं ये अंक ही। गणित तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की व्यवस्था, योजना में प्रमुख सहायक बन चुका है। ये अंक वस्तुतः क्या हैं? मनुष्य ने ही तो इन संकेतों और इनके परस्पर सम्बन्धों व अनुपात आदि की कल्पना करके इन्हें प्रयोग में लाकर रूढ़ किया है न! तो मनुष्य जीवन में जो जैसा महत्त्व अंकों का है, वैसा ही उतना ही महत्त्व 'अहं' का है।

यह जो साढ़े तीन हाथ की काया है, इसकी एक हस्ती दिखाई देती है। आस-पास चहुँ ओर की सृष्टि व पदार्थों से यह पृथक् दिखती है, इसमें रूप-रंग-आकार-घनता-भार आदि हैं, इसे नाम भी दिये हुए हैं। अतः प्रतीत होता है कि यह अन्यों से पृथक् है। अब वस्तुतः यह नितान्त पृथक् है या नहीं, इसका स्वतन्त्र-निरुपाधिक पृथक् अस्तित्व है या नहीं? यह शास्त्रीय विषय है उसमें अभी उतर नहीं सकते। पर इतना तो है ही कि इस शरीर की संरचना के घटक पञ्चमहाभूतों में तथा बाह्य निखिल सृष्टि के संघटक पञ्चमहाभूतों में कोई विशेष गुणात्मक अन्तर नहीं है। उस दृष्टि से, इस शरीर को सम्पूर्ण सृष्टि से सर्वथा पृथक् नहीं कहा जा सकता और सर्वथा अभिन्न भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा यह अनिर्वचनीय सत्तावाला पदार्थ है शरीर। परन्तु जैसे 'बिन्दु' की पृथक्ता मानी वैसी इस शरीर की भी पृथक्-व्यक्तिता 'गृहीत' मान ली गयी है। मनुष्य के व्यवहार के लिये यह एक पूर्व-गृहीत रूढ़ मान्यता (presum-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ption) या (supposition) है; 'अहं' 'ego' 'मैं'—इसका अपना 'व्यक्तित्व' एवं हस्ती मान ली गई है।

इतनी बात ('मैं' का स्वरूप) स्पष्ट हुई हो तो हम आगे चलें कि इसका महत्त्व क्या है ? यह जो शरीर का अलगपना है, इसकी आवश्यकता है, खाना-पीना-सोना-नहाना-कपड़े पहनना, कहीं रहना, उठना-बैठना आदि इसकी जरूरतें हैं। इसकी ये ज़रूरतें पूरी करने के लिये चेतना के एक बिन्दु रूप 'अहं' की धारणा रूढ़ हुई; जैसे गणित में अंक-शून्य-बिन्दु की उपयोगात्मक हस्ती है, संगीत में बाइस श्रुतियों या सप्त स्वरों की तथा अन्तरालों के माप की व्यवस्था के लिये लय-ताल आदि की स्वीकृत रूढ़ि है, वैसे ही इस 'अहंकार' की पृथक्ता की जो हममें संक्रान्त की हुई जानकारी या भान है, उसी का उपयोग जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया जाता है। इस शरीर-मन-बुद्धि में जो शक्तियाँ निहित हैं उन शक्तियों का विकास किया जाता है। फिर जो सहज वृत्तियाँ भीतर पड़ी हैं उनके सम्यक् विनियोग एवं शान्ति के लिये घर बसाया जाता है, परिवार खड़ा किया व सम्भाला जाता हैं। उसके लिये आजीविका (स्वयं एवं परिवार की उपजीविका का साधन) कमाई जाती है। इन दैहिक व्यापारों में जो सम्बन्ध बनते हैं उनमें लेन-देन का व्यवहार होता है, उसमें भाषा की ज़रूरत पड़ती है। इस सबके लिये 'अहं' भान का उपयोग होता है। इस देह-मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार यानी आन्तरबाह्य या स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों का व्यवहार चलाने के लिये 'अहं' भान की आवश्यकता पड़ती है। यह है मनुष्य-निर्मित और काल्पनिक अस्तित्व; किन्तु देह में रहना है, मन-बुद्धि की मार्फत दैहिक मानसिक-बौद्धिक सृष्टि में सब व्यवहार चलाना है क्योंकि इन्हीं मन-बुद्धि द्वारा समाज की रचना होती है, विचार शक्ति द्वारा ही विभिन्न-विविध शास्त्रों एवं कलाओं का उद्भव तथा विकास होता है। छोटे-बच्चे जैसे 'घर-घर' खेलते हैं वैसा ही यह सारा जग-व्यवहार है। इसे चलाने के लिये 'अहं' भान के माध्यम से अपना अलगपना बनाये रखते हुए, अपने भीतर की सब शक्तियों, सम्भावनाओं का विकास करके, समाज को जो दिया जा सके वह दिया जाय, जो आवश्यकतायें सामने आयें उनकी पूर्ति की जाय, चुनौतियों का सामना किया जाय इतना ही इनका उपयोग है।

The movement of the thought-structure and the ima-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ginary center of that movement as 'I' or 'me' has a relevance and tremendous utility in the material and psychological world. इसलिये इस 'अहं'-भान का पूर्ण विकास करना चाहिये; उसकी मर्यादायें पहचानें, वह कैसे बना है यह जानें और उसका सम्यक् उपयोग-विनियोग सुन्दर सुरुचिपूर्ण रीति से करें। लेकिन जिस क्षण जिज्ञासा जागे कि यह जो कुछ हम देखते-सुनते-छूते-चखते-सूँघते हैं—इसके आगे, इसके पीछे, इससे परे भी कुछ है क्या? वह खोज करनी हो तो, जैसे और सब कुछ एक तरफ़ सरका कर इनके पीछे झाँकना होता है, वैसे ही 'अपना-आप' माने जाते हुए इसके संघटक मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार आदि को भी हटा सरका कर इनके पीछे जो है उसे खुलने-प्रकट होने का अवसर देना होता है।

अहङ्कार नष्ट नहीं होता। पदार्थों का भी नाश नहीं होता, रूपान्तर होता है। कपड़ा जला दें तो राख बनती है, धरती में मिल कर वह मिट्टी हो जाती है, मिट्टी में से बीजों को पोषण मिलता है, वनस्पति उगते-बढ़ते हैं। "सब कुछ अनित्य है" का अर्थ यही है कि सब परिवर्तनशील है, रूपान्तर होता है, नामान्तर होता है। इसलिये अपनी 'अलग हस्ती' को पसन्द आये हुए किसी एक रूप—एक नाम को पकड़े-चिपके न बैठ रहें! ऐसा सयाने लोग कहते हैं। इस अनित्य के पार जो नित्य है उसका परिचय पाने की जिज्ञासा हो तो इस 'अहं'-भान को भी पहने वस्त्र की तरह उतार कर चैतन्य को मुक्त होने देना होता है, तभी वह विश्रब्धता सम्भव है जो सब कुछ के आधार-अधिष्ठान अखण्ड व्यापक सत्तामात्र चित् तत्त्व का बोध होने के लिये अपेक्षित है।

'अहं'-प्रतीति को अनादि काल से दोहराये जाने के कारण एक घनता का आभास मिला है, उसे प्रशिक्षण मिला है प्रत्येक संवेदन को कुछ नाम देने, नाप-तौल कर मूल्याङ्कन करने, पहले के एवं वर्तमान अन्य संवेदनों से उसकी तुलना करने या सम्बन्ध जोड़ने का। यही उसे आदत पड़ी है। फिर 'इसमें से मुझे क्या मिलेगा?'—इसका हिसाब लगाता है। अब सब कुछ के परे क्या है? इस जिज्ञासा की गति में—अभियान में—इस 'अहं' को तो कुछ मिलने वाला नहीं। क्योंकि सीखना कुछ कमाने वाली क्रिया नहीं है। Learning is not an aquisitive movement. Learning can only result in understanding, which is not an aquisition of the brain, which can be assimilated in your totality only.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जानकारी या ज्ञान का अर्जन किया जा सकता है, लेकिन बोध अर्जित नहीं होता। बोध कमाया नहीं जा सकता। इसलिये परमात्मा क्या है ? सत्य क्या है ? जीवन की अन्तिम सत्ता वस्तुतः क्या है ? इसकी खोज करनी हो तो इन सब मनोवेष्टित-बुद्धिगत संस्कार-राशि में से निकल कर सामने आने वाली जो जानकारी है, उसकी हलचल काम नहीं आती, इसलिये उसे एक तरफ सरका देना होता है। वह नष्ट नहीं हो जाता। और जब यह अहंकार शान्त होकर बैठ जाता है तब अन्तःप्रज्ञा जागृत होती है। वह प्रज्ञा यह पार्थिव ऊर्जा नहीं है, चैतन्य का स्वभाव है। वह प्रज्ञा जागृत होने पर आप निःसत्त्व क्यों हो जायेंगे ? प्रज्ञा जागृत हुई रहने पर भी व्यक्ति दैनिक जीवन में दैहिक-मानसिक स्तर के व्यवहार में, खाने-पीने-बोलने-उठने-बैठने-आजीविका का कार्य करने आदि में अपने इन्द्रिय मन-बुद्धि का उपयोग करता ही है, उसमें अहंभान का उपयोग भी रहेगा ही। बल्कि प्रज्ञा-जागृति से सभी इन्द्रिय-मन-बुद्धि के व्यवहार और शोभन-शालीन हो जाते हैं। किन्तु अहंकार का स्वामित्व नहीं रहता। प्रज्ञा जागृत न होने तक 'अहं' का स्वामित्व-प्रभुत्व रहता है। उदाहरणार्थ—कुछ अप्रिय घटना हो जाती है तो चित्त में उद्वेग, क्षोभ होता है। हम कहते हैं 'मैं' बहुत उद्विग्न हूँ, चिन्तित हूँ। अर्थात् भीतर के समस्त करणों में जिसे हम "अपना-आपा" समझते हैं उस समूची हस्ती में दुःख, विषाद, उद्विग्नता, चिन्ता भरी है या सन्ताप है, चिढ़ मची है। उस समय सारे शरीर की अवस्था भी अलग तरह की होती है। दृष्टि बदल जाती है। सारे शरीर में और नजर में तनाव रहता है, भार महसूस होता है। तब जिस ओर भी आप देखते हैं—आप नहीं देख रहे होते, आप के भीतर छाई वह उद्विग्नता ही देखती है। अहं-प्रतोति की उस अप्रिय घटना के प्रति उठी प्रतिक्रिया ही इन्द्रियों द्वारा देखती-सुनती-व्यवहार करती है। अहं-प्रतीति के साथ जुड़े विकार, विचार, ध्येयों के आग्रह, रुचियों के आग्रह आदि ही देखते हैं। उनसे अलग स्वयं आपकी कुछ नहीं चलती। अर्थात् इस अहं-प्रतीति और इसी के घेरे का प्रभुत्व आप पर रहता है। **The wholeness of psycho-physical structure is victimised by the emergence of reaction.**

मौन के अभ्यास में यह सब देखा हुआ होने के कारण इसका प्रभुत्व क्षीण हो जाता है, प्रायः नहीं-सा रहता है। अहंकार नष्ट नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि नष्ट होने लायक कोई सत्त्व उसमें है ही नहीं। It has no factual content, so it can not be destroyed. मिथ्या का मिथ्यात्व पहचानने को ही आप 'नाश' कहना चाहें तो भले कहें। 'अहं' सापेक्ष सत् है यह समझ लिया, उसे निरपेक्ष सत्य नहीं माना, निरपेक्ष-सत्यता उस पर आरोपित नहीं की—बस इतना ही तो होना है। बुद्धि का उपयोग होगा, मन-बुद्धि में भरे हुए संस्कारों का उपयोग होगा। और वह उपयोग होगा सहजीवन के लिये। साथ रहते, साथ जीते हुए मनुष्य परस्पर किसी का, किसी प्रकार का शोषण न करें, सख्यमय सहयोग करते हुए मैत्रीपूर्ण जीवन जीयें इसमें संस्कारों का, जानकारियों का विनियोग हो सकता है। वह कैसे किया जाय—यही परीक्षा है। अभी तक मनुष्य जाति को वह सधा नहीं है, क्योंकि मन स्वामी बना बैठा है, हम उसके दास हैं। उस मन के आग्रहों का इतना अधिक महत्त्व हमारे अन्तर्बाह्य जीवन पर छाया हुआ है कि उसके सामने मानवता का विवेक भी दब जाता है। पैगम्बर मोहम्मद साहब के बारे में अन्यधर्मी कुछ लिखे, वह भले ही अतीव सुन्दर साहित्य हो, पर उस लेखक को मार डालेंगे, वह दुनिया के किसी भी कोने में हो, उसे मारने की भारी बख्शीश देंगे। यहाँ तक धार्मिक सिद्धान्तवाद या राजनीतिक मतवाद की कट्टरता और हठधर्मिता पहुँचती है। यह क्या वैज्ञानिक युग है? कुटुम्ब-परिवार में व्यक्तिगत हटधर्मितायें चलती हैं, उसी के आग्रह-आवेश-आवेगों में से कलह, द्वेष, हिंसा, संघर्ष चलते हैं। यही तो सब जागतिक समस्यायें हैं?

जब तक मन का स्वामित्व हटता नहीं, अहंकार की मर्यादा पहचानी नहीं जाती, मन-बुद्धि-अहं की मर्यादायें पहचान कर उनकी शक्तियों का उन्हीं के क्षेत्र में सम्यक् विनियोग करने की कला सधती नहीं, तब तक मानव जाति की समस्यायें सुलझ नहीं सकतीं क्योंकि उपाय बाहर नहीं हैं। समस्या भीतर की हैं, उपाय भी भीतर से ही सम्भव है। The crisis is in the consciousness, individual is the expression of the collective consciousness. जब अन्तःकरण की मर्यादायें पहचान ली जाती हैं अहंकार शान्त होकर अपने ही क्षेत्र में काम करने लगता है, बड़ी जिम्मेंवारी से करता है; और जहाँ उसका अपना क्षेत्र नहीं वहाँ वह मौन रहता है। ऐसा होने पर, अन्तः प्रज्ञा के प्रगतिशील होने पर, तो जीवन में तेज व ओज बढ़ता है, निःसत्त्व क्यों होगा भला?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—मौन में, या मन के पार गये हुए व्यक्ति में मस्तिष्क काम करता है या नहीं ? जब सभी संस्कार और उनकी गतियाँ शान्त होने पर मौन प्रारम्भ होता है, तो मस्तिष्क का तब क्या होता होगा ? क्या मौन की एवं निद्रा की अवस्था एक जैसी होगी ? मौन में और निःस्वप्न निद्रा में क्या अन्तर है ?

उत्तर—दोनों अवस्थाओं में एक साम्य यह अवश्य है कि मौन में और गहरी निद्रा में भी अहं-भान शान्त रहता है। गहरी नींद में से अचानक हिलाकर जगाये जाने पर एक आधे क्षण तक कभी मनुष्य को यह भी भान नहीं होता कि वह कहाँ पर है। "कहाँ हूँ" ? यह सवाल उठता है। अर्थात् गहरी नींद में अहं-प्रतीति नहीं रहती। वह शान्त, लीन हुई रहती है। (Merged into something) संस्कारित अहं-भाव संस्कारमुक्त या संस्कारातीत चैतन्यमें संलीन रहने के कारण ही, गहरी नींद से जागने पर हमें ताज़गी महसूस होती है, उत्साह व स्फूर्ति का अनुभव होता है। इससे अधिक विशेष क्या होता है मौन के आयाम या मौन-दशा में ? एक तो यह कि मौन की दशा चौबीसों घण्टे रह सकती है—आप के चलने-फिरने, बोलने, यथाप्राप्त कार्य करने से भी भीतरी मौन टूटता नहीं; जबकि नींद की दशा में समझ-पूर्वक यह सब नहीं हो सकता। (मानसिक रोग वाली विशेष प्रकार की नींद में कभी वह होता भी हो तो उस व्यक्ति की स्मृति में वह नहीं रहता) स्वस्थ व सामान्य नींद के लिये शरीर को क्रियायें समेट कर एक स्थान पर चुपचाप लेटना या बैठना होता है; मौन-आयाम में स्थिति हो जाने पर वह आवश्यक नहीं। और आप जाग्रत् रहते हैं; 'मैं—पन' या 'अहं'-भान नहीं है, किन्तु आप जगे हुए हैं। जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति से अलग ही यह चौथी (तुरीया, तुर्या) जागृति है जो मौन में बनी रहती है। मौन-आयाम में चेतना की स्थिति हो जाने पर शरीर को एक स्थान पर बाँध रखना नहीं पड़ता, शरीर व बुद्धि के भी सब यथाप्राप्त व्यवहार चल सकते हैं। रसोई बनाते खिलाते खाते बच्चों व परिवार की देखभाल करते, कार्यालय जाने परि-स्थिति के अनुरूप सभी कार्य करने में मौन को कोई धक्का नहीं लगता। यह बड़ा फ़र्क है।

उस दशा में मस्तिष्क का क्या होता है ? पूछा गया है। विशेषज्ञ लोग परीक्षणों के परिणामों का अध्ययन करके बताते हैं कि सम्पूर्ण मस्तिष्क का उपयोग तो आज भी मनुष्य नहीं कर पा रहे हैं। मस्तिष्क

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का एक बड़ा हिस्सा ऐसा पड़ा रहता है जिसका उपयोग मनुष्य जाति ने नहीं किया है, (unexplored, unutilised) पड़ा है। मनुष्य का मस्तिष्क सृष्टि का एक महान् चमत्कार है। इसमें जो अगणित ऊर्जायें भरी हुई, समाई हुई पड़ी हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। जितना-सा हिस्सा काम में लिया जा पाया है वह भी तो कैसा आश्चर्यजनक है ? संवेदन-ग्रहण, मस्तिष्क में वह संवेदन पहुँचना, उसका अर्थ होना, अर्थ का बोध होते ही उस पर प्रतिक्रिया उठकर वह व्यक्त हो जाना—यह सारा क्षण के सौवें भाग में हो जाता है। विलक्षण गति है। किन्तु यह सब ज्ञात का क्षेत्र व ऊर्जायें हैं। इनसे सर्वथा स्वतंत्र अलग कुछ अज्ञात है जो इस ज्ञात की अपेक्षा वहुत विशाल है। (unknown, unconditioned energies) बहुत हैं, उनका कोई रेखाङ्कन या अता-पता-खाका नहीं है।

ऐसी 'मैं'–पन के भान से सर्वथा मुक्त, किसी भी ढाँचे खाके या अनुमानित रेखांकन से मुक्त, भूतकाल व संस्कारों से मुक्त वह ऊर्जा मौन में काम करने लगती है। वह आपकी बुद्धि का, ज्ञान का, विकसित क्षमताओं का उपयोग करती है। शरीर-इन्द्रियों का उपयोग करती है। उसका अपना गतिविज्ञान (dynamism) है। यह सब तो नींद में नहीं है।

पूछा गया है कि मौन-ध्यान के समय या उस दशा में स्मृति-संग्रह संस्कार-संग्रह होता है या नहीं ? बात ऐसी है कि मौन अनुभूति न रहकर अवस्था बनता है। अवस्था स्थिर होने पर आयाम बनता है, पहले-पहले तो मौन की झलक अनुभूति के रूप में आती है कि "अहा, इतने समय तक मेरे सामने कुछ भी नहीं था, मैं एकदम शान्त था। केवल शून्यता थी।" किन्तु भाई ! 'केवल शून्यता' का अनुभव करने वाले आप थे न वहीं कोने में बैठे हुए ? इस अनुभूति में दो-तीन घण्टे नियमित प्रतिदिन रहने लगें तो वह अनुभूति आप की अवस्था बन जाती है। अर्थात् वह मौन दिनभर बना रहने लगता है। तब दैनिक सब व्यवहार करते समय भी भूतकाल सताता नहीं, राग-द्वेष उभरते नहीं। अनुकूल परिस्थिति में जो टिके, प्रतिकूल अवस्था में न टिक सके, डाँवाडोल हो जाय—ऐसी अनुभूति अवस्था है। यदि यह अवस्था आगे बढ़कर शील-स्वभाव बन जाय, परिस्थिति की अनुकूलता प्रतिकूलता से प्रभावित न होकर सर्वदा एक-सी स्थिर रहने लगे, यश-अपयश का कोई परिणाम उस पर न हो, मान-अपमान में समान रहे, कभी टूटे नहीं, च्युत न हो तो फिर वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवस्था से बढ़कर आयाम हो गया समझिये। पहले अनुभूति (experience) फिर अवस्था (state) और फिर आयाम (dimension) ऐसे तीन स्तर होते हैं।

मौन या ध्यान जब चेतना का आयाम बनता है तब जागृति के सभी क्रिया-कलाप व्यवहारों में वह अनुस्यूत रहती है। गंगा-यमुना के साथ जैसे सरस्वती रहती है वैसे उसका आयाम अदृश्य, अव्यक्त (subcurrent, undercurrent) अन्तः प्रवाह चालू रहता है। तब जीवन के सभी व्यवहारों में उठने-बैठने, बोलने, कार्य करने में, प्रत्येक सम्बन्ध में मौन आयाम की स्निग्धता एक अनूठी आभा व स्वाद देने लगती है, जीवन तो सम्बन्धों में ही है। मनुष्य समाज में रहता है, कुछ न कुछ करता है। जो कुछ भी वह करता है जिस ढंग से करता व रहता है उसमें उसकी भीतरी दशा का परिणाम दिखाई देता है। उसमें से होनेवाले सुख-दुःख यानी अनुकूल संवेदन या प्रतिकूल संवेदन भी होते हैं। इन संवेदनों के परिणाम से ही अन्तर व्यक्त होता है मन के स्तर पर जीनेवाले व्यक्ति और ध्यान-आयाम में जीनेवाले व्यक्ति का। मन के स्तर पर जीनेवाले लोग सुखद-दुःखद संवेदनों के साथ प्रियता-अप्रियता जोड़ देते हैं। "यह मेरे लिये अनुकूल है, इससे मुझे सुख होता है, इसलिये यह मुझे प्रिय है, रुचता है।"—मन के स्तर पर रहने वाले लोग यही करते हैं। और ध्यान के आयाम में जीने वाले लोग इस प्रियता-अप्रियता की ओर मुड़ते ही नहीं। सुख हुआ, दुःख हुआ, उसी क्षण उसे जी लिया; दूसरों के दुःख देखकर आँखों में आँसू भी आते हैं, लेकिन यह नहीं कि "यह मुझसे सहा नहीं जाता" इसलिये उससे बचते फिरें। सुख-दुःख के लिये प्रियता-अप्रियता नहीं बनती चित्त में। इसीलिये राग-द्वेष नहीं आते और इसी कारण अनुभूतियों की गाँठ नहीं बनती। केवल सुख-दुःख होने भर से ग्रन्थि नहीं बनते; हम उनके साथ प्रियता-अप्रियता जोड़कर ग्रंथि बना लेते हैं। राग-द्वेष की गाँठें बाँधते रहते हैं, इन गाँठों से हमारे वस्त्र भर जाते हैं। ध्यानावस्था में जीनेवाले व्यक्ति ऐसा नहीं करते। सुख-दुःख उनके लिये घटना-मात्र होते हैं, जो घटित होते समय जी लिये जाते हैं, फिर उनकी स्मृति या चाह से उनकी गाँठें नहीं बाँधी जाती। They are seen just as biological events, they are not registered as good or bad, as desirable or undesirable. सुख-दुःख उपजाने वाली घटनायें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घटित होती हैं तब पूरी सभानता-सहृदयता-संवेदना-पूर्वक उन्हें जिया जाता है, उनकी उपेक्षा नहीं की जाती, सिद्धान्तों के लबादों से उन्हें ढका नहीं जाता; ऐसी समग्रता व उत्साह से जिया जाता है कि आगामी क्षण तक कुछ बचता ही नहीं, तो स्मृति कैसे बने? उस पर प्रियता-अप्रियता लादी नहीं, "मुझे यह अच्छा लगता है, वह बुरा लगता है"—ऐसा सम्बन्ध यदि घटनाओं से जोड़ा नहीं गया तो "यह मेरी अनुभूति है, मेरा दुःख है, मेरे जैसा दुःख किसी को मिला ही नहीं" ऐसे मेरे-पन की भाषा नहीं बनती। इसीलिये दुःख के क्षण में शरीर पर उसका परिणाम होने पर भी, फिर उसकी स्मृति नहीं बनती।

बड़ी महत्त्व की बात है। ध्यान-आयाम में जीने वाला व्यक्ति अतिशय जनसम्पर्क में रहे, विराट् कार्य-भार सम्हाले हुए हो, अनेकों बड़े-बड़े कार्य चला रहा तो भी भीतर उनके भार से दबा नहीं होता। ध्यान का आयाम चिर-तरुण चिर युवा होता है, उसमें सर्वदा ताज़गी रहती है। क्योंकि वहाँ भूतकाल बनता नहीं, भविष्य की कल्पना नहीं रहती। सदा वर्तमान रहता है, या तो काल के भार से मुक्त रहता है। इसीलिये मस्तिष्क हमेशा तरोताज़ा बना रहता है। दिमाग़ थकता नहीं। ध्यान की अवस्था का तारुण्य, लावण्य 'अनादि अगम्य परमतत्त्व से अनुस्यूत प्रज्ञा से समृद्ध रहता है।

प्रश्न—रोज के व्यवहार में ऐसा बहुत सारा समय रहता है, जब प्रभुसत्ता का स्मरण नहीं हो पाता। वह स्मरण हमेशा कायम रहे इसके लिये क्या किया जाय?

उत्तर—रोज के जीवन में, प्रयत्न-प्रयास-आयाम किये बिना किन चीज़ों या बातों का स्मरण रहता है—इसे ज़रा देखिये। वह स्मरण क्यों रहता है? इसकी खोज करें जिसमें रस होता है उसका अनुसन्धान अपने आप रहता है। और जिसमें भीतर से रस नहीं है अपने ऊपर थोपी हुई मान्यता या क्रिया है,—'सन्तों ने ग्रन्थों ने कहा इसलिये करना चाहिये'—ऐसे अपने ऊपर लादी हुई वस्तु को स्मरण रखने में प्रयास की आवश्यकता होती है। रस हो तो अनायास ध्यान रहता है तुकाराम कहते हैं—

"उठताँ विट्ठल! वैसतां विट्ठल!
हसतां विट्ठल! जगतां विठ्ठल! विट्ठल! विट्ठल।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी में युक्ति बता दी—'नाम को पकड़ो' कह दिया। नाम दिया, रूप दिया, पद्धति बना दी प्रभु का सतत अनुसन्धान रखने की। इस साधनों का उपयोग कीजिये। किन्तु यह समझे रहिये कि यदि यदि इन नाम-रूपादि का अनुसन्धान रखने में भी प्रयास करना पड़ता हो, मन भटकता ही हो तो प्रभु के प्रतिरस जागा नहीं है। जब तक उसमें आन्तरिक रुचि-रस न हो तब तक जो भक्ति के नाम पर किया जाता है वह केवल सदाचार है, उसमें जो आनन्द आना चाहिये, आपके पूरे व्यक्तित्व पर आनन्द-आहार की जो सन्तृप्ति की आभा खिलनी चाहिये—वह नहीं हो पाती।

"राम-नाम सब कोई कहे ठग, ठाकुर अरु चोर।
जिस नाम से ध्रुव-प्रहलाद तरे वह नाम है कुछ और!"

प्रभुसत्ता का अनुसन्धान बनाये रखने के लिये आपको जो अनुकूल पड़े वही कीजियेगा। मेरे पास तो कोई पद्धति नहीं; मैं तो इतना ही कह सकती हूँ कि रस हो तो अनायास स्मरण-अनुसन्धान रहता है; रस न हो तो प्रयास करना होता है। प्रयास में पुरुषार्थ है, उसमें से आनन्द निष्पन्न होगा या नहीं—यह कहना मुश्किल है।

प्रश्न—जब आप जैसों के सत्संग में होते हैं तब पाप या दुराचार से दूर रहने का भाव पैदा होता है। वापस घर जाने पर दुनिया के व्यवहार की गिरफ़्त में आ जाते हैं।

उत्तर—भाई, सत्सङ्ग में दुराचार का मौका नहीं मिलता। भाव पैदा होने की बात तभी कही जा सकती है जब अवसर होने पर भी दुराचार चित्त में न उठे। सत्संग में तो मनुष्य का जो कुछ उत्तम गुण-सत्त्व है वही ऊपर उठ कर स्पन्दित होने लगता है, वही आपको अभिभूत करता है। आप का जो उत्कृष्ट तत्त्व है (श्रद्धा) वह प्रधान-प्रबल बनता है, वह आपकी चेतना को ओतप्रोत कर देता है। समाज जिसे पाप-दुराचार कहता है वह और कुछ नहीं बस 'सत्य' 'सत्ता' के साथ सम्यक् सम्बन्ध न होना ही है। जीवन की यथार्थता के साथ संवादी सम्बन्ध बना कर जीना नहीं आया। उसे आप 'पाप' 'अनैतिकता' की भाषा में न बाँधिये, नही तो दम्भ-पाखण्ड में उतरेंगे। "पाप" का भय भी पाखण्ड करवाता है।

यदि आप के चित्त में दुराचार की बात उठती हो तो सोचें कि आप जीवन में जो करना चाहते हैं उसके साथ आप के शरीर-मन के आवेगों-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दुर्बलता आदि का मेल किस तरह बैठायेंगे ? जीवन की समग्रता के साथ आपके व्यक्ति-जीवन का संवादी सम्बन्ध कैसे बने इस पर कभी बैठकर सोचें, रास्ता निकालें। अपना जीवन का लक्ष्य पहचानें, अपने शरीर-मन की वृत्तियों-विचारों-विकारों को पहचानें। 'विकार' शब्द से ही उनके प्रति घृणा की भावना पैदा हो तो आप उन आवेगों को दबाने-छिपाने-आत्मवञ्चना करने में पड़ जायेंगे। वह उचित नहीं। शब्द के बोझ के नीचे न दब जायें। "पुण्य" शब्द का भार भी अहंकार को प्रवृत्त करेगा। अतः शब्दों और उनके सहचारी अर्थों के चक्कर में न पड़ें। अपने जीवन की यथार्थता पहचानें। उसमें आपके ध्यान में आये कि जो कुछ आप वस्तुतः करना चाहते हैं उसमें आपके शरीर-मन की कुछ वृत्तियाँ विरोधी-विसंगत हैं, तो उस समझ को लेकर उन वृत्तियों की ओर देखें, अपने आप से संवाद करें। डर या घृणा न रख कर, खुली आँख से, पूरी आँख भर अपनी वासनाओं को देखें, उनके कारण आपके भीतर जो अधीरता-असन्तुलन पैदा होता है उसे देखें। आवेग में से उठने वाली वह अवशता वाञ्छनीय नहीं, यह जीने का रास्ता या तरीका नहीं है—ऐसा यदि स्वयं आपको लगता है, तो इस समझ की आँख से ही उसे देखते रहें, without condemning, without denying, without trying to eliminate it. उसकी निन्दा न करें, उसे ढकने दबाने या हटा फेंकने की कोशिश न करें, प्रतिकार न करें। उस आवेग-आवेश को देखें, साथ रहें, समझें कि वह है क्या ? क्यों हैं ?

आपका यह शान्ति से देखना ही काम करेगा उस आवेग पर। आप जिसे अवाञ्छित समझते है—उसे देखने-समझने के बावज़ूद क्या वह आप पर चढ़ता है ? इसे देखें। मुझे लगता है कि ज़िन्दगी के प्रारम्भ के दिनों में ही सोच लेना चाहिए कि मुझे अपने जीवन में क्या करना है ? अपना समय-शक्ति-धन आदि किस दिशा में लगाने हैं ? मेरी समझ में क्या वाञ्छनीय है ? क्या सत् है ? क्या आनन्ददायक है ? और मैं किसे बुरा—अवाञ्छनीय-अशुभ समझता हूँ ? क्या भला है क्या बुरा है ? और क्यों ? इसे समझने के लिये स्वयं अपनी आँख से देखें, समझ के साथ बैठें। आपके युग-सन्दर्भ में पहली (शास्त्र-परम्परागत) बनी-बनाई पगडण्डियाँ छूट गयी हैं; अब आपको पुरुषार्थ करना पड़ेगा चिन्तन का। उससे भागियेगा नहीं, उससे डरियेगा नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—वेदान्त में कहा जाता है—"साधक को अहङ्कार छोड़ना चाहिये" इसका क्या अर्थ है ?—अभिमान छोड़कर लाचार जीना ?

उत्तर—नहीं, नहीं भाई ! वेदान्त और लाचारी ! अहंकार का अर्थ 'Pride and Vanity'—में सीमित अभिमान नहीं लेना चाहिये। यह संस्कृति का तकाज़ा है। जिस मनुष्य में रूप-बल-धन-ज्ञान के दर्प की दुर्गन्ध आती हो, वह सुसंस्कृत-सभ्य व्यक्ति नहीं। दर्प, अभिमान, अहंमन्यता नहीं होनी चाहिये। यह तो सामान्य संस्कृति एवं सामाजिकता का भी तकाज़ा है। आप जिसे 'अभिमान' कह रहे हैं उसमें आपको अभिप्रेत आशय है—आत्मसम्मान (self respect)। वह तो प्रत्येक में होना ही चाहिये। मैं मनुष्य हूँ, मुझमें मनन-चिन्तन करने की शक्ति है। भला-बुरा पहचानने की, पृथक्करण की शक्ति (विवेक) है, सोचने-समझने-चुनने की शक्ति है, उसका उपयोग करके मैं जिऊँगा-जिऊँगी; किसी के कहने-भर से क्यों ? मेरी दौलत तो मेरी समझ है। उसी के बल पर मैं जीने वाला हूँ। अपनी समझ को न छोड़ना—यह आत्मसम्मान है, उसे छोड़ना किसी भी प्रकार उचित नहीं। उसे छोड़ने की सलाह वेदान्त कभी नहीं दे सकता, कोई भी नहीं दे सकता। वेदान्त जो निरहंकार होने की बात कहता है वह देह के साथ चेतना के तादात्म्य से होने वाले ग्रन्थि को छोड़ना अभिप्रेत है। देह के खूंटे से चेतना बँधी न रहे; अनादिकाल के मनुष्य जाति के विविध संस्कारों-विकारों का पुंज यह देह है, इस देह को ही अपना सत्त्व न मान बैठें, देह के सम्बन्धियों को ही 'मेरे' न मानें। इस खूंटे और परिधि में आप स्वयं को मर्यादित, बन्दी न बनायें—यह कहता है वेदान्त।

"मैं स्वयं ज्योतिरूप हूँ, ज्ञान मेरा स्वभाव है,"—यह पहचान मनुष्य को वेदान्त करा देता है, कि विश्व में ओतप्रोत जो प्रज्ञा है वह चैतन्य है। आत्मा कहो, परमात्मा कहो, (Cosmic-Universal-Supramental Intelligence) कहो; आप जिन शब्दों में कहना चाहें कहिये, शब्दों की लड़ाई में हम न पड़ें। उनमें जो अर्थ का संकेत है उसे पकड़ लें। तब हम वादों से ऊपर उठेंगे और मत-मतान्तरों के कोलाहल से मुक्त रहेंगे। हमारा मतलब है अर्थ को पकड़ने; उस अर्थ के भाव से हृदय को समृद्ध बनाने, अर्थ-भाव ऐश्वर्य लिये जीते चले जाने से। हमें तो जीना है न ! क्या पड़ा है तराज़ू हाथ में लेकर बैठने और हर समय तौलते रहने में कि किसने क्या कहा ? कौन ठीक कहता है कौन गलत करता है ? समाज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्या कहता है ? किसने क्या कमाया ? क्या खोया ? इसका हिसाब लगाने हम क्यों बैठें ? प्रत्येक शब्द में जो अर्थ की ज्योति है उसे पकड़कर उसके आलोक में जीना है।

वेदान्त कहता है एकमात्र ब्रह्म सत्य है, जगत् को अपनी अलग कोई सत्ता नहीं। जीव भी वस्तुतः ब्रह्म ही है कोई दूसरा नहीं। जिसे हम जीव मान रहे हैं वह आवृत शिव ही है। गगन के प्रावरण में अनन्त सजा हुआ है, या तो वह अनन्त सत्य ब्रह्म इस गगन का भी प्रावरण है जिसमें यह गगन समाया है। ऐसी अपार विराट् शाश्वत अपनी सत्ता रहते, इस छोटे से देह से ही स्वयं को सीमित करके देहाहङ्कार क्यों पालना ? देह या देह के सम्बन्धियों (पदार्थों-व्यक्तियों-देश-क्षेत्र आदि) तक ही अपने को सीमित क्यों रखना ? अपने स्वरूप को इतना छोटा मानने के भ्रम में से हम मुक्त हो जायें। निरहङ्कारिता और कुछ नहीं, केवल भ्रममुक्ति है। क्योंकि अहंकार की अपनी कोई सत्ता नहीं, आत्मा से अलग सत्ता नहीं। The ego, the self, is a psychological myth; the I-ness introduced into human consciousness is a contrivance necessory for the business.

'अहं,-भाव 'अस्मि'-ता मानसिक कल्पित वस्तु है, समस्त व्यवहार चलाने के लिये मनुष्य चेतना में इसकी कल्पना को गई है। उसका उपयोग किया जाय—जैसे आप अपने बाह्य कारणों-उपकरण-साधनों का उपयोग करते हैं। जैसे साइकिल, स्कूटर, मोटरकार का उपयोग करते हैं, अब रॉकेट्स् का उपयोग करते हैं। (Hi-technology का, electronics का उपयोग करते हैं, वैसे हो चेतना-क्षेत्र में सब व्यवहार चलाने के लिये 'मैं' 'तू' 'मेरा'-'तेरा'-'उसका'—इत्यादि का उपयोग करना पड़ता है। लेकिन समझे रहें कि ये कोई पृथक् सत्ता नहीं हैं। ये जिन पृथक्-पृथक् पदार्थों का संकेत कर रहे हैं वह सामाजिक जीवन के लिये अनिवार्य है। स्थूल स्तर पर रहना होता है, वाणी के द्वारा सब व्यवहार होता है। लेन-देन होता है इस अर्थ में वेदान्त कहता है—स्वरूप को पहचानो ! सत्ता एकमात्र सत्य-ज्ञान-आनन्दात्मक तत्त्व या ब्रह्म की ही है; विविध नामरूप केवल व्यावहारिक हैं, यही इनका मिथ्या-पन है। स्वयं को तत्त्व से पृथक् मानना भ्रम है, इस भ्रम या अज्ञान-अविद्या से मुक्त होना मोक्ष है जो मनुष्य जीवन का लक्ष्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—'हृदयाकाश' और 'चिदाकाश' क्या हैं ? ये भीतर कब प्रकट होते हैं ? कभी अनायास चिदाकाश में सूर्यबिम्ब का दर्शन होना, और अपने संस्कारों में से कोई एक विचार-विकार उठने से उस बिम्ब का लुप्त होना—ऐसा क्यों होता है ? उस बिम्ब के साथ रहना हो सकता है क्या ? परमहंस रामकृष्ण समाधि में 'जाते' और 'आते' भी थे, तो 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते'—यह दशा कौन-सी है ?

उत्तर—हमारे देखे 'हृदयाकाश' और 'चिदाकाश' एक ही वस्तु है। इस आकाश को 'प्रकट' नहीं होना पड़ता। वह तो स्वयम्भू है, स्वयंसिद्ध है; आकाश का अवकाश प्रतीत होता है, जब साधक अन्तर्मुख होकर अन्तर्दृष्टि से देखता है। चर्मचक्षु से—आँख नाम की इन्द्रिय से वह दिखाई नहीं देगा। तत्त्व केवल बुद्धि से देखा जाता है। बुद्धि भी एक प्रकार से चक्षु है। संवेदनशीलता (sensitivity) एक प्रकार की दृष्टि है। उसी आँख और दृष्टि से तत्त्व को जाना या देखा जाता है। संवेदनशीलता से प्रतीति होना ही देखना है जैसे कानों से सुनते हैं, वह सुनना कानों द्वारा देखना है। आकाश प्रकट नहीं होता, वह तो हमेशा है ही है। उस निर्मल-निराकार-निरालम्ब-निरामय-निष्कलङ्क अवकाश का हमें भान नहीं होता; उस अवकाश (emptiness) में समायी हुई दिव्यता-आलोक का, स्पर्श भी नहीं होता। क्योंकि हम अपने विचारों-विकारों-कल्पनाओं-स्मृतियों में उलझे हुए रहते हैं। ये विचार-विकारादि अपने अन्तर्बाह्य शरीर में सदियों से भरे पड़े संकारों का पुनः गतिमान् होकर उभरना (playback) है। उन संस्कारों की उभरने की, पुनरुज्जीवित होकर नृत्य करने की, खेलने की यह चेष्टा हमारे लिये इतनी आकर्षक है, विचारों-विकारों के संवेदनों से होने वाले सुख-दुःख को भोगने में हम इतने व्यस्त रहते हैं कि इन विचारों-विकारों-संस्कारों से पैदा होने वाले तनाव-दबाव शान्त होने पर जो हमारा स्वरूपभूत निरामय निर्मल आकाश है उसकी प्रतीति हमें नहीं होती। यदि आप उसकी प्रतोति पाना चाहते हैं तो गतियों के किनारे छोड़ देने होते हैं। शब्दों को जाने दीजिये। नाम-रूप के किनारे छूट जाने दीजिये। तब उस आकाश का स्पर्श होगा।

आप कह रहे हैं कि अनायास चिदाकाश में सूर्यबिम्ब का दर्शन होता है। पता नहीं 'सूर्य-बिम्ब' से क्या अभिप्राय है प्रश्नकर्त्ता का। 'अंगुष्ठ-मात्र ज्योति' का दर्शन होता है ? 'निर्धूतकल्मष (जिनके चित्त में से,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शरीर में से भी, सब प्रकार के कषाय-कल्मष धो डाले गये हैं) व्यक्तियों को अपने भीतर के प्रकाश का दर्शन हो सकता है, क्योंकि वह प्रकाश वहाँ है ही। हमारे देखने से या देखने के लिये वह पैदा नहीं हुआ; चित्सूर्य रूप में चित्सत्ता की एक झाँकी हो जाती है—जैसे वृन्दावन में 'बाँके बिहारी' की झाँकी होती है—पलभर के लिये, दर्शन हुए न हुए कि फिर पट बन्द हो जाता है। चित्त के परे जो शून्यावस्था है उसकी गहराई हमें सहन नहीं होती। जिसे हमेशा प्रक्षुब्ध (disturbed, distracted, upset-excited) रहने का अभ्यास है, उसे शून्य की प्रशान्त, निश्चल, साम्यमयी अवस्था की उत्कटता सहन नहीं होती। क्षोभ या हलन चलन बिना चैन नहीं पड़ती। विचार-विकार-संस्कारों की शान्तता, वृत्तिसाम्य, धातुसाम्य सहन होना कठिन है, उसके लिये नाड़ीतन्त्र में, रक्त-मज्जा में ताक़त, दम, कस होना चाहिये, तभी वह सहन होता है।

वह न हो तो क्षणिक झाँकी होकर वह लुप्त हो जाता है—कोई न कोई विचार का बादल उस सूर्यबिम्ब को ढक देता है। यह स्वाभाविक है। विचार का उत्पन्न होना गति-क्षोभ-दबाव का सूचक है। विचार ने नाद-शब्द पहन लिया, सगुण-साकार होकर चित्त में विचरने लगा तो नाड़ीतन्त्र में श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया पर उस स्पन्दन का दबाव पड़ेगा ही। निर्विचार-निर्विकार अवस्था में श्वासोच्छ्वास अनायास लयबद्ध संगीत की भाँति चलता है; अन्यथा वह धक्कों में चलता है, रक्तचाप के धक्के, आवेग-संवेग-विचारादि के धक्के बने ही रहते हैं जो श्वासोच्छ्वास को प्रभावित करते हैं। हमें इन धक्कों से ही जीने की आदत है। विचार उठना नदी-जल में कंकड़ फेंकने जैसा है जो जल में लहरियों का क्षोभ लाता है, उस क्षुब्ध जल में प्रतिबिम्ब नहीं दीखता। प्रशान्त निष्पङ्क-निष्कम्प जल में आत्मदर्शन होता है। वसे ही प्रशान्त-निर्विचार-निर्विकार चित्त में चित्सत्ता की सूर्यबिम्ब जैसी प्रतीति आपको होती है। लेकिन वह भी एक सूक्ष्म अनुभूति है। इस दिखने के सुख के भी परे जब आप जायेंगे तब वह दीखेगा नहीं, बल्कि आप वह बनेंगे, आप ही हैं ऐसा बोध होगा।

बोध के मुकाम पर पहुँचना होता है जहाँ सब अनुभूतियों का अस्त होता है। अनुभूतियों का अस्त होना अध्यात्म की परिपक्व अवस्था है।

श्री रामकृष्ण परमहंस के बारे में हम क्या बोलें? कैसे बोलें? सौ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्ष पहले वे इस धरती पर अध्यात्म जी गये। आपने-हमने प्रत्यक्ष तो उन्हें देखा नहीं, वर्णन पढ़ा है। श्रीरामकृष्ण-लीलामृतं में जब-जब उनके 'समाधि में जाने और आने' का उल्लेख है तब-तब उसे 'भावसमाधि' कहा है कि ठाकुर भावसमाधि (Trans) में गये, और कुछ समय बाद वह भाव-समाधि शान्त हुई। समाधि शब्द का उपयोग साधना की शाखाओं-उपशाखाओं के सापेक्ष हुआ है। भक्ति-योग में भाव-काया, भाव-समाधि, भावावेश, इन सब का उदय शान्त होना, सहजावस्था में भक्ति की परिणति होना—ऐसी परिभाषा आती हैं। हठयोग में जड़ समाधि, सचल समाधि, अचल समाधि, निर्बीज-सबीज समाधि, सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि आदि शब्दों का प्रयोग होगा। काश्मीर-शैव-पद्धति में (सिद्धमार्ग, बीजमार्ग-सहजमार्ग) में सहज समाधि की बात आती है जो कभी अस्त नहीं होती, चढ़ती-उतरती नहीं। वह जीवन का, चेतना का आयाम (dimension and dynamics of living) बनती है। 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम'—यह जो कहा गया है वह बोध-जगत् की भाषा है, कि एक बार परमात्मा के सर्वाकार, विश्वाकार स्वरूप को जिसने समझ लिया है उसकी बुद्धि वापस लौटती नहीं है देहाहङ्कार में, किसी प्रकार की सङ्कीर्णता-संकुचितता में, देहगत, वंशगत, जातिगत, धर्मगत, समुदायगत संकीर्णताओं से घिरी चेतना में वह बुद्धि लौटती नहीं, दृष्टि-वृत्ति वैश्विक बनती है, उसका दर्शन वैश्विक बनता है, उसका प्रत्येक कर्म विश्व-हित में होता है। विश्व के हित के लिये जिसका व्यवहार होगा उसका अपना हित अनायास उसी में हो ही जायेगा, क्योंकि विश्व से पृथक् कोई अपना आप वहाँ बचा हो नहीं है, वह विश्व का ही एक अङ्ग-मात्र है।

The I-consciousness at the center gets completely wiped out with the quantumjump of the I-consciousness into Cosmic-Consciousness. अहं-चेतना का केन्द्रबिन्दु ही मिट जाता है ज्यों ही उसका वैश्विक चेतना में ऊर्ध्वारोहण या उत्क्रान्ति होती है।

वहाँ बिन्दु नहीं, परिधि नहीं, सर्वथा संसारमुक्त चेतना है। संस्कार युक्त धरती पर खड़े होकर संस्कारमुक्त चेतना में वह जीवन जीता है। वह अवकाश की शून्यता न हो तो केवल धरती पर जीना सम्भव नहीं, संस्कारयुक्त चेतना जो पिण्ड में पड़ी है, वह व्यवहार अभिव्यक्ति करने का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माध्यम साधन, करण बन जाती है। लेकिन निवास रहता है संस्कारमुक्त चेतना में (Unconditioned, consciousness unpolluted by the touch of a word, not polluted by thought)।

इसलिये 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते.....' का सम्बन्ध किसी जड़, कृत्रिम, देश-काल-अहं के स्तर की समाधि से न जोड़िये। वैसी मनःशारीरिक दशाओं में जाने-आने की भी प्रक्रियायें अवश्य हैं, निरन्तर किसी नाम-रूप का निदिध्यास रखते हुए भावकाया निर्माण करके भावावेग-भावावेश जगाने-उतारने, भावसमाधि में कुछ समय जाने-आने की भी पद्धतियाँ हैं, लेकिन वस्तुतः समाधि में किसी आवेग-आवेश का असन्तुलन रहता नहीं, परिपक्व अवस्था रहती है। वह परिपक्वता 'ठाकुर' रामकृष्ण देव में सर्वदा विद्यमान थी। भावसमाधि दशा में भूत-भविष्य-वर्तमान के व्यापक दर्शन होते भी थे, पर सन्तुलन कभी छूटता नहीं था। पहली नजर में ही नरेन्द्र का सब पीछे-आगे का जीवन देख लिया गया था, इसीलिये जब वे निर्विकल्प समाधि के लिये हठ करने लगे तो ठाकुर ने कहा कि "माँ तो तुझसे बहुत बड़ा विश्वहित-कार्य कराने वाली हैं क्यों तू अकेले अपने लिये यह समाधि की भीख माँगता है?" नाराज़-से होकर बोले—"अरे! तू इतना क्षुद्र पामर-निकला! विश्व में कितना दुःख है? माँ तुझसे सबके हित के लिये अपना काम कराना चाहती है और तू अपना सुख माँगता है?...." भावसमाधि की निरुपाधिक संवेदनशीलता द्वारा रामकृष्णदेव ने देख लिया था।

भावसमाधि व्यक्तिसापेक्ष, विषयसापेक्ष है। सहज समाधि में चेतना का प्रवेश होने पर फिर वह वापस नहीं लौटती। जैसे युवा होने पर आप वापस बालक नहीं हो सकते शरीर से, वृद्ध होने पर वापस युवा नहीं होते। वैसे वैश्विक चेतना में उत्क्रान्त होने पर वापस देह आदि में केन्द्रित व्यक्तिचेतना में लौटना नहीं होता। यही अर्थ 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते' का मेरी समझ में आता है।

प्रश्न १. ईश्वर एक , फिर अपने यहाँ उन्हें अनेक रूपों में पूजा गया है जैसे गणपति, शिव, देवी, सूर्य, विष्णु आदि। विशिष्ट प्रकृति के व्यक्ति द्वारा विशिष्ट देव रूप की पूजा किये जाने से ही वह उपासना फलवती होगी अन्यथा नहीं—यह कहे जाने में कितना तथ्य है?

प्रश्न २. श्रीमद्भगवद्गीता के अठ्ठारहवें अध्याय में यज्ञ-दान-तप का महत्त्व विशद किया हुआ है। इनमें से दान का महत्त्व समझना तो कठिन नहीं, किन्तु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यज्ञ और तप की संकल्पना के बारे में, आज के समाज की परिस्थिति के सन्दर्भ में विवृत मार्गदर्शन कीजियेगा अपने सामने प्राप्त और विहित कर्म ईश्वरार्पण-बुद्धि से करना यह यज्ञ है, और यम-नियम पालने का पूरी सावधानता-सतर्कता से प्रयत्न करना यही तप है—यही अर्थ मैंने अपने लिये किया हुआ है, तो इतना ही समझना काफी है या और भी कुछ व्यक्ति द्वारा साधा जाना अभिप्रेत है ?

प्रश्न ३. हम मौन में बैठते हों, तब भगवान् का जो नाम या मन्त्र हम पहले स्मरण व जप करते रहे हों वही नाम चित्त में जागृत हो तो उससे मौन में कोई बाधा होती है क्या ? सन्तों ने नाम-महिमा गायी है । आपका इस विषय में क्या कहना है ?

उत्तर—जिस देश में हमारा जन्म हुआ है, उसका सांस्कृतिक इतिहास हजारों वर्षों का है । इन हजारों वर्षों के इतिहास में किसने कितने युद्ध किये, कौन जीता, कौन हारा ? इसका उतना महत्त्व नहीं जितना इस भारत भूमि पर जीवन का रहस्य और जीवन का अर्थ खोजने के प्रयोगों का है । इस देश में रहने वालों को धुन लगी थी यह जानने-समझने की कि इस सृष्टि के पीछे क्या रहस्य है ? किसलिए बनी है यह दुनिया ? किसने बनाई ? कैसे बनाई ? कैसे बनाई ? हम कौन हैं ? इस दुनिया से हमारा क्या सम्बन्ध है ? यह सब समझ लेना चाहते थे हमारे पूर्वज ।

इसी में से वेद-उपनिषद्-षड्दर्शन-विविध शास्त्र विभिन्न आगम (तन्त्र) उद्भूत हुए, उनके द्वारा असंख्यों प्रयोग मानव जीवन को प्रयोगशाला बना कर किये गये और वे प्रयोग कभी थमे नहीं, समाप्त नहीं हो गये । जितने व्यक्ति, उतने ही प्रकार की उनकी प्रकृति और मनोवृत्ति होती है यह तथ्य देखा गया । ऐसे 'प्रतिमुण्ड भिन्न-भिन्न मति वाले' मनुष्यों को असत्य से सत्य की ओर कैसे लाया जाय ? अविद्या के अन्धकार में से आत्मा के आलोक की ओर कैसे लाया ? विचार-विकार-वृत्ति-जन्म-मरण के चक्करों में से समाधि के अमृततत्त्व की ओर कैसे आया जाय ? इसी के चिन्तन में से विभिन्न शास्त्रों का निर्माण हुआ । जो भावनाप्रधान हैं वे कहाँ से प्रारम्भ करें ? जो रजोगुण-प्रधान हैं वे क्या करें ? जो बुद्धिप्रधान हैं वे किस तरह चलें ? जिनके मन पंगु हैं उन्हें अवलम्ब-आधार कहाँ से मिले ? जिनका अहंकार प्रबल है वे उसका शमन कैसे करें ? ऐसे अलग-अलग मार्ग और युक्तियाँ विभिन्न शास्त्रों ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बताई हैं। साध्य की एकता और साधनों की अनेकता यह भारतीय संस्कृति का वैभव है। साध्य एक ही है—"योगी भव !" । वह योगावस्था अपने जीवन में सिद्ध करने के लिए अनेकों साधन हमें दिखा दिये हैं। उसमें एक मार्ग है उपासना, जो भक्ति की ओर ले जाता है।

उपासना का एक शास्त्र है। इसमें अध्यास या अध्यारोप की युक्ति-पूर्वक मदद ली जाती है। वह आरोप क्या है इसे सरल भाषा में समझ लें। श्रुति-माता ने कहा, या बुद्धि के ध्यान में आया कि परम सत्ता निर्विकार है, निराकार है, सर्वाकार भी है, किन्तु उस सूक्ष्मता से हमारा अनुबन्ध-अनुसन्धान रह नहीं पाता इतने सारे स्थूल एवं असंख्याकार, चित्र-विचित्र रूप-गुण-आकार-शब्द-रस-स्पर्श-गन्ध आदि से भरे विश्व और समाज में रहने के कारण, सबमें अनुस्यूत एक की वस्तुतः निराकारता व एकता का ध्यान नहीं रह पाता। इसलिए पूर्वजों ने युक्ति निकाली कि उस एकता, निराकार होते हुए सर्वाकारता के प्रतीक बनायें प्रतिमा रूप में। देव-प्रतिमा बनाने का भी सुविस्तीर्ण शास्त्र बनाया गया कि किस प्रकार देवप्रतिमा अव्यङ्ग बने और उपासना का विग्रह (जहाँ तत्त्व का विशेष ग्रहण हो) होने योग्य बने। उस प्रतिमा में फिर विधिवत् प्राण-प्रतिष्ठा करके उपासना का आलम्बन बनाया जाता है। वह सगुण प्रतिनिधित्व करता है निर्गुण निराकार का। सन्त कहते हैं

"तुझे सगुण कहूँ या निर्गुण रे !
सगुण-निर्गुण दोनों से विलक्षण—
देह में परब्रह्म ईंट पर खड़े !

(पाण्डुरङ्ग विट्ठलरूप)

भक्त की भावना है समीप बैठने (उप-आसन उपवास) की (शब्दों की ओर खुली दृष्टि से देखें, वे स्वयं अर्थ खोल कर कहते हैं।) उसके प्रति अपना हृदय उँडेलने की। इसीलिये उस नन्हीं-सी प्रतिमा को अध्यारोप शक्ति द्वारा सर्वव्यापी परमात्मा का प्रतीक बना लेते हैं। फिर अपनी सम्पूर्ण भावनायें उसके प्रति व्यक्त करते हुए उसे प्राण-धन प्रेमास्पद बनाये हुए उस रूप में सर्वव्यापी-घट-घटवासी अन्तर्यामी एक अखण्ड-सर्वशक्तिमान-सर्व सौन्दर्यागार-आनन्द स्रोत या रसस्वरूप—से सम्बन्ध को जीने का आनन्द अनुभव करते हैं। लैला का सौन्दर्य देखने के लिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसे मजनू का हृदय चाहिये वैसे प्रतिमा में परमात्मा को देखने के लिये उपासक का चित्त चाहिये।

अब, जो अलग-अलग स्वरूप-प्रतिमायें बनायी गयीं—सूर्य-गणपति-देवी-शिव-विष्णु इत्यादि, उनकी उपासना के लिए उन-उन रूपों से संबन्धित शास्त्र देखने होंगे। यह सही है कि सकाम या निष्काम रूप से उपासना के लिये प्रतिमा रूप अपनी-अपनी प्रकृति-संस्कार-रुचि के अनुसार चुना जाता है। निष्काम उपासना में तो किसी विशिष्ट विधि-पद्धति की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वहाँ अपने लिए तो कुछ माँगना नहीं कुछ भी पाने की अपेक्षा नहीं, प्रभु से माँगते हैं तो स्वयं प्रभु की ही उपासना का प्रेरक हैं विशुद्ध प्रेम। किन्तु यदि सकाम उपासना हो तो उसके लिए शास्त्रानुसार विधि-निषेध का पालन करना आवश्यक होता है। उपासना करने की प्रेरणा में ही अपना अहोभाग्य प्रतीत नहीं होता। अर्चन-पूजन करने, भजन गाने, हरिनाम-संकीर्तन करने में ही कृतकृत्यता प्रतीत न होती हो, बल्कि इन्हें साधन बना कर कुछ स्थूल अन्य साध्य पाने की अभिलाषा हो तो फिर उसके अनुरूप यम-नियमादि पालने होते हैं। तभी वह उपासना (आपके प्रश्नानुसार–) 'फलवती' होती है। 'फल' का संबंध वैधी सकाम भक्ति या उपासना से ही है। पूर्वबंगाल के वे गदाधर जो कलकत्ता में दक्षिणेश्वर मन्दिर में 'काली' माँ के पुजारी हुए, उन्होंने कब कहाँ कोई भी शास्त्र पढ़ा था ? किससे सीखी थी पूजा-उपासना-पद्धति ? निरक्षर थे। उनके सर्वाङ्ग जीवन में व्याप्त थी रागानुगा (अवैधी) समग्र भक्ति, विशुद्ध प्रेम। उन्हें देवी से कुछ भी नहीं चाहिए था, केवल माँ का स्वरूप देखना था, माँ को ही पाना था।

वैधी या सकाम भाव से उपासना के इच्छुक व्यक्तियों को, अनुभवीजन उनकी प्रकृति के अनुरूप देवस्वरूप का ध्यान और मन्त्र दिया करते हैं। जैसे उग्र स्वभाव या क्रोधी व्यक्ति को 'ॐ नमः शिवाय' रजोगुण-प्रधान और शक्तियों के अभीप्सु व्यक्ति को देवी (शक्ति) की उपासना बताई जाती है; जो शान्तिप्रिय स्वभाव का है उसे 'श्रीराम-जय राम जय-राम' मन्त्र व रामस्वरूप की उपासना दी जाती है; सौन्दर्यप्रेमी-कलाप्रेमी जीवनरसिक व्यक्ति को व्रजवल्लभ गोपाल कृष्ण की भक्ति सुझाई जाती है। किन्तु कोई भी उपासना यदि सकामभाव से प्रेरित है तो उसमें शास्त्र-विहित यम-नियम-पूजापद्धति आदि आवश्यक होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसी 'रूपध्यान'-युक्त उपासनाओं के अतिरिक्त एक नादोपासना भी होती है। नाद में स्थित ऊर्जा का उपयोग विनियोग उपासना के लिये किया जाता है। प्रकाश और नाद को पृथक् नहीं किया जा सकता। नाद की ऊर्जा के सम्यक् उपयोग और उपासना में विनियौग को जिन्होंने तत्त्वतः समझा उन्होंने जपशास्त्र बनाया, मन्त्रों के भी सूक्ष्म सघन रूप बीजमन्त्र बनाये। विविध (हरि-)नामस्मरण भी जप का ही एक प्रकार है। क्योंकि नामस्मरण करते समय 'नामी' (जिसका वह नाम है, या नाम द्वारा जिसे स्मरण किया जा रहा है उस) के स्वरूप का 'भावन' (सघन चिन्तन) करना होता है। "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (यागसूत्र)

"रमते हृदये स रामः" "आकर्षति इति कृष्णः"

हृदय में जो तत्त्व रमण करता है वह राम है। सब ओर से सब वृत्तियों को जो अपनी ओर खींच लेता है वह कृष्ण है, भक्त के चित्त का हरण करते हैं वे 'हरि' या 'हर' हैं। सभी प्रकार से शुभ या कल्याण करते हैं वे 'शिव' है, शान्ति देते हैं वे 'शंकर' हैं।....ऐसे प्रत्येक नाम में अर्थ भरा है। प्रत्येक अक्षर के अपने विशिष्ट ध्वनि-स्पन्दन हैं। प्रमुख ५२ अक्षरों को बावन मातृकायें कहा गया। जहाँ तक नाद का स्पन्दन जाता है, वहाँ तक उसका प्रकाश भी जाता है। इस प्रकार जप रूप में नादशक्ति का आधार है चित्त के लिये; और बड़ा सरल है, उठते-बैठते-सोते-जागते, चलते, खाते-पीते, जब चाहे तब हरिनाम-स्मरण किया जा सकता है।

"विट्ठल मंजीरा ! विट्ठल ढोल ! विट्ठल है ध्वज वही रथ
जिधर भी देखें जो भी दिखता सब में विट्ठल ध्यान धरो।"

तब दिन-भर काम करते हुए भी चित्त में तत्त्व का अर्थभावन करते हुए मुख में व्यक्त या मन ही मन नाम लेते रहें—यह संसार में रहते परमात्मा से सतत अनुसन्धान बनाये रखने का बड़ा सरल और मधुर उपाय है। परिवार में, समाज में, सब सम्बन्धों के बीच रहते और सब काम करते हुए नामस्मरण चलता रहे तो कोई भी दुष्ट विचार या व्यर्थ की कल्पना-जल्पना की बजाय उस नाम के अर्थ का चिन्तन होने से विविध 'व्यवसायों' में व्यग्र होने वाली बुद्धि को कहीं एक में स्थिर होने का स्थान मिलता है। साथ ही नाद में एक शुद्धि-शक्ति भी है; (sound has a purifying force in it.) आहत-नाद में वह शक्ति मर्यादित है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनाहत में अमर्याद है। इसीलिये सर्वश्रेष्ठ नाम-स्मरण 'ॐ' का कहा गया है। प्रणव-ॐ-को एकाक्षर ब्रह्म कहा गया, उसे स्वयम्भू-स्वयंसिद्ध अनाहत नाद का प्रतिनिधि माना गया है।

उपासना के लिये भी भारतीय संस्कृति ने हमें बहुत बड़ी विरासत दी हुई है। (It is an exceptionally rich heritage) उसकी ओर कोई देखता नहीं, इस खजाने की गहराई में उतरता नहीं; बस इधर-उधर से ऊपर-ऊपर से कुछ सीपी-घुँघची बटोर लेते हैं। उससे कुछ बनता नहीं। नाम-जप के थोड़े से प्रयास से ही नादशक्ति के कुछ प्रभाव के कारण यदि कुछ दिखाई-सुनाई देने लगा कि मान बैठते हैं "सिद्ध" हो गये। उससे आगे बढ़ते नहीं। वस्तुतः ये नादयोग-मन्त्रजप-लययोग या सच्ची विग्रहोपासना भी चेतना-उत्क्रान्ति के माध्यम बन सकते हैं, किन्तु वहाँ तक लोग चलते नहीं।

"पलभर भी जो नहीं विभक्त। वही कहलाये भक्त।"

क्षणार्ध भी जिसका प्रभु-अनुसन्धान छूटता नहीं, वही भक्त है।

प्रश्नकर्ता पूछते हैं कि—"आप तो केवल मौन-ध्यान की बात कहती हैं"—तो भाई, उपासना और नाम-जप आदि की बात तो देश भर में भलीभाँति पूरे विस्तार-विवरण-साहित्यपूर्वक सहस्रों वर्षों से कही जाती रही है, और मेरा वह मार्ग नहीं है, अतः उस विषय में नहीं उतरती। आपको यदि शान्त बैठने पर अपने आप नामस्मरण होने लगता है तो होने दीजिये! मुख से भी जप होने लगता है या नाम बोला जाता है तो वह भी होने दीजिये उसे देखते रहिये। पर इतना चित्त में स्पष्ट रहे कि जप उपांशु होने पर भी वास्तव में वह मानसिक क्रिया ही है। उससे पूरे नाड़ीतन्त्र में हलचल होती है. धातुसाम्य व वृत्तिसाम्य में सूक्ष्म क्षोभ उत्पन्न होता है। इस क्षोभ का नाम ही अनुभूति है। सम्पूर्ण साम्य में वह बाधक हो सकता है। क्योंकि अनुभूतियों और शक्तियों में फिर चित्त फँसने लगता है, उनसे मिलने वाले सुख में चित्त लुब्ध होता है, आगे नहीं जाता।

मैं इस प्रकार के शिबिर इसलिये लेती हूँ, या अन्यत्र भी मौन-ध्यान की बात इसलिये करती हूँ कि मुझे दिखता है कि—मानव का मन अहङ्कार नाम के एक कल्पित केन्द्र को चिपक कर बैठा है, इसे उसका मोह (obsession) हो गया है—**Egomania** या **Intellectomania**।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनुष्य को लगता है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व-भाव से चिपके हुए मन द्वारा ही दुनिया के सारे सवालों का हल निकाला जा सकता है। आज समाज का जीवन किस स्तर तक उतर चुका है यह हम सब देख ही रहे हैं। ऐसा तो नहीं कि आज मन्दिरों में जप, कीर्तन, स्तोत्र-पाठ आदि नहीं होते, या सामुदायिक-सामूहिक रूप में ग्रन्थ-पारायण और सत्कथा-श्रवण आदि नहीं होते हैं। सुन्दर-अतिसुन्दर मन्दिर हैं, विग्रह हैं, विभिन्न धार्मिक श्रद्धा-वन्दन के स्थान हैं और वहाँ पूजा आदि चलती भी हैं, लाखों, करोड़ों लोग सत्कथा-श्रवण, भजन, पूजन, दर्शन आदि करते हैं। फिर भी देश और समाज की यह दुर्दशा क्यों है?

दो कारण हैं। एक तो इन उपासनाओं का अनुबन्ध दैनिक जीवन-चर्या और प्रतिपल के जीवन जीने के कार्य के साथ जोड़ा नहीं गया है। दूसरे, धर्म-अध्यात्म-विषयक भी ज्ञान, अनुभव, शक्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति मान लिया गया है, और जहाँ दाँव लगे वहाँ उस सम्पत्ति का प्रयोग कुछ कमाने के लिये किया जाता है। इसलिये हरिनाम रटने वाले लोगों के भी चित्त में काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-मात्सर्य-दम्भ-पाखण्ड भरे रहते हैं। मेरा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि नामस्मरण न करें, या उससे कुछ होता-जाता नहीं। नहीं, अध्यात्म में किसी भी सत्कर्म का निषेध कदापि नहीं होता। मेरा कहना यही है कि चेतना में गुणात्मक परिवर्तन की जो महती आवश्यकता है वह कोरे नामस्मरण से पूरी नहीं होती। पूर्वजों ने या सन्तों ने यह तो नहीं कहा है कि इस दहलीज़ पर ही बैठे रहना, आगे कदम बढ़ा कर घर के भीतर मत आना। भक्ति में से ही तो सन्त एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, जनाबाई, वेणाबाई, गंगासती, मीराबाई जैसे सन्त हुए हैं, उनका नाम-स्मरण जीवन-परिवर्तन में परिणत हुआ।

नामस्मरण के पथ से भी चलें तो आखिर इस अहं नामक केन्द्र का उच्चाटण (समूल उखड़ना) होने तक चलना ही होगा, बीच में आने वाली अनुभूतियों या शक्तिजागरण के सुख या लोभ में मोहित होकर अटकने से काम बिगड़ जायेगा। क्योंकि जब तक अहंकेन्द्र में पड़े रहेंगे तब तक भूतकाल छोड़ेगा नहीं। विचारों की विधायें और संस्कार-पद्धतियाँ कितनी भी बदलते जाये आप, चेतना जब तक अहंकेन्द्रित है, तब तक मानवीय समस्यायें हल हो सकेंगी नहीं, ऐसा मुझे लगता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसीलिये मौन-ध्यान की बात कहती हूँ। इसीलिये कि पहले आरोप-अध्यास करना, नादशक्ति का उपयोग करना, सुप्त शक्तियाँ जागृत होने देना, फिर उनको समेटने का प्रयास करके अध्यास में से आगे बढ़ कर योग की ओर जाना—इस लम्बी पद्धति की अपेक्षा यह मौन-मार्ग सीधा-सरल जान पड़ता है। जो मन की पकड़ में नहीं आ सकता, शब्दों और बुद्धि की जहाँ पहुँच नहीं, उस तत्त्व को पकड़ने के लिये मन-बुद्धि की वृत्तियों, क्रियाओं और शब्दों को शान्त होने दें। मन की गति शान्त हो जाय तो साथ ही 'अहं' नामक केन्द्र की गति शान्त हो जाती है। अज्ञात, संस्कारमुक्त चेतना जागृत होकर इस मन के अन्तर्गत संस्काराधीन चेतना को काम में लगाने लगे तभी सम्भावना है नये प्रकार का मनुष्य खड़ा होने की। इसीलिये उपासना मार्गों का महत्त्व जानती हुई भी मैं इन्हें प्राथमिक अवस्था में मदद करने वाले ही मानती हूँ। अतः कहती हूँ कि मनुष्य इसी में अटका न बैठा रहे। नाद व प्रकाश से दूर या परे मन के परली पार भी जाया जा सकता है—आत्मा की पहली विभूति है आकाश। उसका सूक्ष्म व शुद्ध स्वरूप है चिदाकाश। वहाँ पहुँचना होता है। शब्दसागर से बहुत दूर जो शून्याकार अवकाश या आकाश की अवस्था है, वहाँ उस सत्ता का स्पर्श मिलता है। इसके विपरीत, यदि अहं-मन-बुद्धि और इनके विषयों में अटके हों तो तब तक अपनी ही बनाई दुनिया में हम भ्रमित रहेंगे। भावनाओं का उदात्तीकरण (sublimation) भले किया हुआ हो, पर अन्त में तो अपने स्वरूप की सत्ता (होनापन) का आकलन या बोध ही भक्ति का मर्म है। कर्ता-भोक्ता-द्रष्टा-साक्षी-पर्यन्त सभी भावों का विलोपन होकर शुद्ध सत्ता-मात्र रहना यह भक्ति का मर्म है।

ऐसे नवीन मनुष्य का उद्भव हो, चेतना के नवीन आयाम का उद्घाटन हो, तब शोषणमुक्त, समतायुक्त, भ्रातृत्व-सम्पन्न मानवीय सामाजिक सम्बन्ध बनें—इसके लिये आन्तरिक क्रान्ति की बात आपके सामने रखती हूँ।

प्रश्न में आपने कहा है कि गीता के सत्रहवें अध्याय में यज्ञ-दान-तप का महत्त्व कहा गया है उसमें से दान का महत्त्व तो समझ में आता है, यज्ञ-तप का अर्थ विशद किया जाय। मैं नहीं जानती कि दान शब्द का भी क्या अर्थ आप ले रहे होंगे? 'दान देने से पुण्य होता है' 'योग्य पात्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देखकर दान देना चाहिये'—यह आप जानते हैं या कि दान परिग्रह का प्रायश्चित्त है—यह समझते हैं ! ब्रह्मचर्याश्रम (आज की परिस्थिति में, मोटे तौर पर, विद्यार्थी-जीवन) में तो विशेष परिग्रह की आवश्यकता नहीं होती, लेकिन गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर परिवार सम्हालने और सामाजिक व्यवहार निभाने के लिये कुछ परिग्रह आवश्यक होता है। परिग्रह के लिये अर्थोपार्जन यथासम्भव धर्म व न्याय पूर्वक ही किया जाना चाहिये, फिर भी कभी जाने-अनजाने भूल से या व्यग्रता से किसी के प्रति अन्याय हो सकता है। इसलिये गृहस्थ व्यक्ति को उस परिग्रह और उसके लिये धर्म-न्याय के पालन में हुई त्रुटियों के प्रायश्चित रूप में, सामाजिक-व्यवस्था सुषम बनाये रखमे के लिये भी 'दान द्वारा संविभाग' करने की व्यवस्था की गयी। जहाँ अधिक है बहाँ से जहाँ कमी है वहाँ दिये जाते रहने से धन (जीवन की आवश्यकतापूर्त्ति के साधन) का संविभाजन होता रहे तो समाज में स्वास्थ्य बना रहेगा। शरीर में जैसे रक्त का प्रवाहित होते रहना स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है, कहीं एक जगह रक्त-मांस का अटकना-बढ़ना रोग उपजाता है, वैसे ही समाज में जीवन साधनों व धन-सम्पदा का प्रवाहित रहना अर्थतन्त्र को स्वस्थ रखता है। अतिशय परिग्रही लोग अर्थतन्त्र की रुग्ण ग्रन्थियों (clots) जैसे हैं। इस तरह दान का मूल अर्थ वस्तुतः परिग्रह का प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त को 'सज़ा' या दण्ड नहीं समझना चाहिये। प्रायश्चित्त से चित्त शुद्ध होता है। दान देते समय देने वाला लेने वाले के पाँव छूकर, उसकी पूजा करके देता था—यह संकेत था प्रायश्चित्त का कि "परिग्रह मुझे करना पड़ा है, और मैं निर्दोष व्यक्ति नहीं हूँ, अवश्य कुछ न कुछ भूलें अन्याय, अधर्म मुझ से होते होंगे, उन दोषों के लिये मैं समाज से और जिनके प्रति अन्याय हुआ हो उन सबसे क्षमा माँगता हूँ", इस क्षमा-याचना का प्रतीक है विनम्र भाव से दान। "लेने वाले सज्जन अनुग्रह कर रहे हैं कि यह दान स्वीकार करते हैं।"

आज का जैसा चन्दा या (रिश्वत के रूप में) स्वार्थ-सिद्धि के लिये donation देना दान नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता के शब्दों पर आपका प्रश्न है। वह समस्त उपनिषदों का दोहन करके निकाला हुआ सारामृत है। गीता का प्रत्येक शब्द वेदार्थपरक हैं। गीता ही नहीं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारत के प्रत्येक आध्यात्मिक एवं धार्मिक, नैतिक पर्यन्त वाङ्मय के शब्दों के अर्थ का मूल स्रोत वेद ही हैं।

चित्तशुद्धि के लिये दान होने पर मन कृतज्ञ होता है। तब यह नहीं कहा जाता कि अमुक सार्वजनिक कार्य या भवन, मन्दिर आदि के लिये मैंने इतना दान किया है वह संगमरमर पर लिख कर लगाया जाय। उस स्थान पर देने से ही हम किसी भार से मुक्त हो गये यह नहीं प्रतीत होता, बल्कि उस दान के बदले में सबसे प्रशंसा-सराहना यश-प्रतिष्ठा चाहते हैं। तो वह दान नहीं है, सौदा है।

आगे चलें। तप क्या है? यज्ञ क्या है? तपस् शब्द से जो अर्थ मैं समझती हूँ वह कहती हूँ। हमें जिस क्षण जो सत्य समझ में आया, जँच गया, भीतर पैठ गया, उसका तुरन्त आचरण करने लगना यही तपस् है। इसमें तप्त होना—तपना पड़ता है, क्योंकि समाज-रचना अभी सत्या-धारित-न्याय व धर्म पर आधारित नहीं है। इसलिये सत्याचरणी व्यक्ति को बहुत-कुछ सहन करना पड़ता है। सुकरात को विष पीना पड़ा, वैज्ञानिक गैलीलियो को आजन्म अतिशय कष्ट व अपमान सहने पड़े, महात्मा गांधी को गोली खानी पड़ी। लोग उपेक्षा करते हैं, 'सनकी' 'पागल' कहते हैं, 'बुद्धू है, मूर्ख है, इसे व्यवहारज्ञान नहीं है' कहते हैं। असत्य को चुभता है सत्य। इसलिये समाज में रहते हुए सत्याचरण करना तप है। एकान्त में, विजनवास में सत्याचरण अपने आपके लिये धर्म भले हो तप नहीं है, क्योंकि निपट एकान्त में किसी चुनौती और रोकटोक या प्रतिरोध का सवाल नहीं होता। केवल शारीरिक अस्तित्व बने रहना जीवन जीना नहीं। सम्बन्धों में जीते समय, चुनौतियों का सामना करते समय संवादिता की शालीनता को जीना ही जीवन है। यह तप है। किन्तु वह हम नहीं करते। जानते हैं कि मृत्यु अटल है, और कभी भी किसी को भी वर्तमान दुनिया व देह से विदा लेनी पड़ सकती है; तब भी उसके लिये तैयार नहीं रहते। सत्याचरण-धर्माचरण-अध्यात्मानुरूप जीवन-परिवर्तन को टालते रहते हैं कि साठ-सत्तर वर्ष के बाद वह देखा जायेगा, अभी तो जिसमें सुख-सुविधा प्रतीत हो वही करते रहें। मृत्यु की उपस्थिति का अनुभव करते हुए, समझ में आये हुए सत्य को जीने का पुरुषार्थ तत्काल करना तप है। श्री जे कृष्णमूर्त्ति जी ने अन्तिम दिनों मे कहा था अपने सन्देश के रूप में :—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Live the truth you understand instantaneously, otherwise you will get destructed by the truth.

समझे हुए सत्य को तत्काल जीवन में न उतारा जाय तो सत्य व्यक्ति को छिन्न-विच्छिन्न कर देगा। व्यक्ति त्रिशंकु जैसा हो जायेगा, इधर का न उधर का। बोलेगा परमार्थ की बातें, रहेगा संसारी की भाँति। दिमाग में परमार्थ की बातें भरी होने के कारण संसार में मन नहीं लगता और संसार छोड़ने का साहस नहीं होता।

दूसरी ओर यदि राई के दाने जितना भी समझा हुआ सत्य हम जीने लगते हैं तो वह समाज का रोष दिखा कर हमें तपाते हुए भी वास्तव में शुद्ध करता चलता है, और धरती में पड़े बीज की तरह उस जीवन-कर्म की ऊष्मा व सिञ्चन पाकर अंकुरित होकर बढ़ने लगता है। इस प्रकार, दान की तरह तप से भी जीवन की शुद्धि होती है।

यज्ञ क्या है? केवल क्रियात्मक यज्ञ का शास्त्रीय स्वरूप समझना हो तो महाभारत और स्मृति-ग्रन्थ देखें। इक्कीस प्रकार के यज्ञ हैं। उसका विवरण ग्रन्थों में मिलता है। किन्तु यज्ञ शब्द से वास्तव में भारतीय संस्कृति को अभिप्रेत है अपने आपको लुटाना। यह सम्पूर्ण जीवन ही यज्ञ है। आत्मोत्सर्ग ही यज्ञ है। प्रतिक्षण जीवन में जो कुछ भी सामने आये (सुख, दुःख, चुनौती, कर्तव्य कर्म, सम्बन्ध) उसके प्रतिसाद में अपना समग्र सत्त्व ढाल दो। **Live with the wholeness and the totality of your being, pour your whole being, into your action.**

प्रतिसाद में अपना जीवन पूरी तरह उँडेलने में कोई भय लज्जा-संकोच-कुण्ठा न रखें। जो भी कर्म या व्यक्ति सामने उपस्थित हो उसमें सम्पूर्ण मनुष्य-जाति सघन रूप से उपस्थित हैं, ऐसा समझें। सर्वाङ्ग को श्रवण (कान) बनाकर उसकी बात सुनें, उसे देखें; उस देखने-सुनने में अपनी पसन्दगी-नापसन्दगी को आड़े न आने दें, या मिला न दें। इतना धैर्य रखें कि उसकी बात पूरी सुनी जा सके। अपनी पसन्द-नापसन्द मिला कर प्रत्यक्ष को खण्डित दूषित न करें। प्रत्यक्षीकरण के क्षण में ही प्रदूषण दृष्टि में घुला रहे तो असन्तुलन ही उत्पन्न होता है। इसीलिये प्रदूषित देखने-सुनने का जो भी प्रतिसाद हम देने चलते हैं वह हमारी समग्रता में से नहीं आता। सम्बन्धों के मौकों पर हम सौदा करने लगते हैं कि किसे कैसा कितना सा प्रतिसाद देने से बदले में हमें क्या मिलेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि दुकान में भी आप कुछ लेने जायें तो खरीदने की वस्तु को जाँचें-परखें नहीं, या उसका भाव-तौल न करें। जीवन यज्ञ है, यानी अपनी ओर से हमें जो भी करना है वह उत्तम प्रकार से करें। पूजा के लिये फूल चुनते हैं तो टूटे-बासी-गन्दी जगह से उठाये हुए नहीं लेते। सड़ा-गला फल नहीं लेते, दूसरों द्वारा चखा हुआ सूँघा हुआ बासी नैवेद्य नहीं चढ़ाते। हमारा जो उत्कृष्ट हो वही यज्ञ-कर्म में लेते हैं। इसी प्रकार हमारा जो भी जीवन कर्म है उसमें अपनी कायिक-वाचिक-मानसिक-बौद्धिक क्षमता पूरी तरह उँडेल कर वह कर्म करें। वह यज्ञ का पूर्वाङ्ग है।

जीवन-यज्ञ का उत्तरांग है कि यह कर्म करने का अवसर मिला इसी आनन्द एवं कृतार्थता का अनुभव करना। **To be alive is a benediction.** ऐसी वृत्ति रहे तो "हम जो कर रहे हैं उसका हमारे अभीष्ट-प्रकार का फल मिलना चाहिये"—ऐसा चित्त में नहीं आता, कर्म करने में ही इतनी कृतकृत्यता प्रतीत होती है कि फल की याद ही नहीं आती।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

[कर्म करने का ही तुझे अधिकार है, पूरी कुशलता से कर्म किये जाओ। फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं। यह न सोचो कि इस कर्म का यह फल मुझे मिलना ही चाहिये। फल को हेतु (प्रयोजन) बना कर कर्म न करो; और फल से निराश होकर कर्म छोड़ो भी नहीं—अकर्म में न जाओ, अकर्म का भी संग न करो]

भारतीय संस्कृति में कर्म रूपी जीवनयज्ञ को इतना महत्त्व दिया गया है कि जीवन की प्रत्येक हलन-चलन को शुद्धतम सुसंस्कृत बनाने के लिये शास्त्र रचे गये। बोलना है तो प्रत्येक अक्षर का—प्रत्येक ध्वनि का उच्चारण कैसे करना, कैसे शब्दों का प्रयोग करना, पूरा शास्त्र है वाग्यज्ञ का। भोजन करना है तो अन्न कब कैसे बोयें—कैसे सींचें—कैसे काटें—कैसे स्वच्छ करें—कैसे रसोई करें—कैसे परोसें—कैसे कब क्या आहार लें—सभी कुछ का शास्त्र है। भोजन भी यज्ञ है। पति-पत्नी का सम्बन्ध और अपत्य को जन्म देना-पालना-पोसना-शिक्षित करना यह भी यज्ञ है। सहवास के क्षण से संस्कार (गर्भाधान) प्रारम्भ होकर देह अग्नि में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समर्पित करने (अन्त्येष्टि) तक सोलह संस्कार शरीर-मन-बुद्धि को दिये जाते रहे। परमावधि थी जीवन-रसिकता की। अब तो सब भुला दिया गया।

विश्वात्मक देव के सम्मुख, सम्बन्धों की वेदी पर आत्मोत्सर्ग-रूपी जीवन-यज्ञ जो कृतकृत्य भाव से आनन्दपूर्वक करता चला जाता है उसका जीवन बहुत समृद्ध होता है। जैसे धरती में कण (बीज) डालने पर वह मन भर अन्न आदि देती है, उसी प्रकार यह जो विश्वात्मक तत्त्व है वह अपरम्पार प्रतिसाद देता है तुम्हारे थोड़े से भी आत्मोत्सर्ग का।

बाह्य रूप से आप हवन करें या न करें यह आपकी रुचि और परि-स्थिति पर निर्भर है, उसमें मुझे कुछ कहना नहीं है। जानकारी के लिये बताती हूँ कि अक्कलकोट (महाराष्ट्र) के श्री वसन्त परांजपे ने पूरे योरोप-अमेरिका में हवन-शास्त्र का सुन्दर प्रसार किया है, समझाया है उसका महत्त्व। मुझे चिली-अर्जेण्टीना (दक्षिण अमेरिका) में उनके भक्त लोग मिलते हैं। पहली बार वहाँ गई तो स्वागत ही इस प्रकार हुआ कि दंग रह गयी। कक्ष में प्रवेश करते ही देखा कि १५-२० सज्जन (स्त्री-पुरुष) श्वेत रंग के भारतीय ढंग के सूती वस्त्र पहने हुए हैं; मध्य में ताँबे का बड़ा हवन कुण्ड है, हवन की पूरी तैयारी करके बैठे हैं। हमारे प्रवेश करते ही शुद्ध उच्चारण में मन्त्रों के घोष सहित हवन प्रारम्भ हो गया। पोलेन्ड में भी ऐसे लोग मिले।

ये हवन, यज्ञ आदि भी उपयोगी ही है, किन्तु मेरा जोर हैं आन्तरिक दिव्यता को प्रकट करने पर। **The divinity in man should manifest itself. Education is helping the child to manifest the divinity of its being.**

इस विश्व में भरा हुआ जो दिव्यता का रस है वह चखना आना चाहिये मनुष्य को और स्वयं उसके भीतर जो दिव्यता है वह सम्बन्धों में प्रकट करना आना चाहिये। तब जीवन-यज्ञ अनुष्ठित होगा। मैं आपके हरिनामस्मरण, जप, पूजन, भजन, दान, तप, हवन, यज्ञ आदि का निरादर नहीं करती, सुन्दर कर्म हैं सब, जिसे रुचि हो वह अवश्य करे। मेरा कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जीवन से अनुबन्धित किये बिना यदि ये सब ऊपरी स्तर पर और केवल एक अलग प्रकार के मनोरंजन आदि के लिये किये जाते हैं तो हित से विपरीत भी परिणाम लाते हैं; इतिहास और वर्त-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मान समाज भी इसका प्रमाण है। लोकैषणा, वित्तैषणा, कामैषणा के प्रबल वेग में बहता है जीवन। तब किसी को यज्ञ-तप-उपासना या शास्त्रों की परवाह नहीं रहती। मुफ्त की कमाई मिलती हो तो भगवान् या धर्म याद नहीं आते। तब कहते हैं "यह तो व्यवहार है, इसमें व्यावहारिक होना ही चाहिये।" तो क्या धर्म और भक्ति मन्दिर में बैठकर एक-दो घण्टे में ही करने की 'क्रिया' है ? एक अतिरिक्त मानसिक सम्पत्ति है वह ? भक्ति से तो मनुष्य का समग्र सत्त्व बदलना चाहिये।

The immensity of the potential is the divinity.

भीतर की दिव्यता का ओघ प्रकट होना चाहिये। मुँह से बड़े बड़े नाम लें भगवान् के और सन्तों के तो जीवन में ऐसा आन्तरिक दारिद्रय क्यों बनाये रखें ? यह पाखण्ड, भीरुता, कदर्थता कैसे ? यह सज्जनों की निष्क्रियता और असहायता कैसी ? प्रत्यक्ष जीवन जीने की घड़ी में धर्म-अध्यात्म कहाँ चला जाता है ?

इस देश को ज़रूरत है सच्ची मानवता की। मनुष्य खड़े होने चाहिये। भारत को जरूरत है Man–making and character–building mission की।

छत्रपति शिवाजी को भक्ति में, भजन-कीर्तन-सत्संग में बहुत रस था, चाहते थे शान्ति से सत्संग में रहना। इसीलिये एक बार अपने गुरुदेव की झोली में उन्होंने एक रुक्का (कागज का पुर्जा) लिखकर डाल दिया कि "सम्पूर्ण राज्य आपका है। मुझे एक शिष्य की तरह आपके पास रख लीजिये।" वह देख कर "समर्थ" ने कहा —"ठीक है, राज्य मुझे दे दिया तो अब मेरी ओर से तू इसे सँभाल। इसके प्रतीक रूप से राज्य की ध्वजा भगवाँ रंग की कर दे। तेरी भक्ति, तेरा अध्यात्म राष्ट्र-सेवा में प्रकट होने दे।"

मित्रो, मानवीय चेतना में गुणात्मक परिवर्तन और मानवीय सम्बन्धों के आधार बदलना, यह यदि तुम्हारे ज्ञान-कर्म-भक्ति द्वारा साधा नहीं गया तो सारा अध्यात्म इतिहास की पेटी में जमा होकर रह जायेगा। सब अप्रासङ्गिक रहेगा। जीवन-कर्म में आत्मबल प्रकट होना चाहिये। आज समाज में जिन (असत्) शक्तियों का बोलबाला है उनसे संघर्ष कर पाने के लिये दूसरी (सत्) शक्ति को ही प्रकट क्रियान्वित करने की आवश्यकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब समय नहीं है—भक्ति-शरणागति के नाम से दीनता-हीनता-असमर्थता-निष्क्रियता में पड़े रहने का। जनता पराक्रम-पराङ्मुख नहीं रहनी चाहिये। भगवान् का नाम-संकीर्तन बड़े आनन्द से कीजिये, उस आनन्द की मनाही नहीं, किन्तु उसमें से वह आत्मबल प्रकट होना चाहिये जो असत् वृत्ति को गला दे। गौड़ प्रदेश (बंगाल) में नाम-संकीर्तन का बल प्रकट किया था चैतन्यमहाप्रभु ने, जिसके आगे यवनों की क्रूरता परास्त होगयी थी। इसी जमाने में भी सत्य-अहिंसा के ही अस्त्र से इतनी प्रचण्ड ब्रिटिश सल्तनत को हार माननी पड़ी थी। अभी कुछ वर्ष पहले ही तो गांधीपथ और हरिनामधुन का ही बल प्रकट किया था आसाम की जनता ने, तब इतनी विरोधी परिस्थिति को भी एक बार तो पलटना ही पड़ा था।

विचार-शक्ति, शस्त्र-शक्ति, धन-शक्ति से जो घटित नहीं हुआ वह अध्यात्म शक्ति से ही साधा जा सकेगा; हमें अपने भीतर सुप्त आत्मबल जागृत करना होगा। इसीलिये मैं ध्यान-मौन की बात जिज्ञासु समुदाय के सामने रखा करती हूँ।

प्रश्न—"मनुष्य को वास्तविकता को समझ लेना चाहिये, और परम सत्ता का अनुसंधान रखते हुए अपनी समझ के प्रति प्रामाणिक रहते हुए जीवन जीते जाना चाहिये"—ऐसा आप कहती हैं। इस धारणा का हमारी आध्यात्मिक सद्‌गुरु-परम्परा से सन्मवय किस प्रकार समझें। सद्‌गुरु तो व्यक्ति ही होते हैं, उनके प्रति सम्पूर्ण भाव से समर्पित होना यानी अपनी समझ की स्वाधीनता गँवाना होगा। 'मेरी समझ' यह भाव कायम रख कर तो शरणागति होगी ही नहीं। हमारे सन्त सद्‌गुरुमहिमा गाते हैं। 'अपनी समझ का प्रामाण्य' और 'सद्‌गुरु का प्रामाण्य'—इनमें विरोध दिखाई देता है। कृपया यह उलझन दूर करें।

उत्तर—शायद यह उलझन दूर नहीं होगी। यह दूर हो सकती है यदि 'समझ' के अर्थ में प्रश्नकर्ता की वक्ता से सहमति हो सके तो। शरीर को हम 'अपना' 'मेरा' मानते हैं, लेकिन उसमें जो जीवन-सत्ता है वह 'मेरी' नहीं। वह एक सार्वभौम सत्ता है। जिसका विशिष्टीकरण नहीं होता। उसी प्रकार 'बुद्धि' नामक अन्तःकरण में शब्दों के विनियोग से, दृष्टि-निक्षेपण से, स्पर्श आदि से, जो अर्थबोध होता है, समझ प्रकट होती है, वह किसी एक विशिष्ट व्यक्ति की नहीं होती, वह न आपकी है न मेरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। समझ की घटना वैश्विक है, व्यक्तिगत नहीं।The event of understanding has a universal content, not personal.

काया, इन्द्रियाँ, भीतरी करण, मन-बुद्धि आदि पृथक्-पृथक् विशिष्ट दिखाई देती हैं, पृथक्-पृथक् संस्कारपुञ्जों से बनी होने के नाते भिन्न हैं भी, लेकिन उनके माध्यम से होने वाले संवेदन-ग्रहणों से फलित जो दर्शन है, दुद्धि एवं हृदय में स्फुट-स्फीत-स्थित होने वाला जो बोध या दर्शन है, वह व्यक्ति मं अवतरित या प्रकट होने पर भी व्यक्ति की मालकियत की वस्तु नहीं। इसलिये यदि कोई गुरु-परम्परा में है, सद्गुरु का संग प्राप्त है, तो वह सत्य को समझने के लिये ही है न ! चरम सत्य की समझ अपने जोवन में अनुबन्धित हो, अपने व्यवहार में गूँथी जाय, इसके लिये है न !

व्यक्ति के लिये व्यक्ति का संग संसार में होता है। लेकिन सद्गुरु के पास यदि आत्मजिज्ञासा-धर्मजिज्ञासा-ब्रह्मजिज्ञासा के लिये कोई मुमुक्षु श्रेयार्थी-आत्मार्थी-जिज्ञासु जाता है, तो उसका लक्ष्य-महत्त्व व्यक्ति पर नहीं होता, न अपने व्यक्ति-त्व पर न गुरु के व्यक्ति-त्व पर। लक्ष्य भार होता है तत्त्व पर, तत्त्व के उद्घाटन पर, बोध के जागरण पर, जीवन के आमूल समग्र परिवर्तन पर। इसलिये 'गुरु की समझ' और 'मेरी समझ' ऐसा अन्तर वहाँ वास्तव में नहीं होना चाहिये। गुरु की वाणी को अधिकृत, प्रामाणिक (authentic) समझना यह समर्पण का आशय हो सकता है, लेकिन उसका verification (प्रामाण्य-निश्चय) आत्मप्रतीति से होता है।

मैं जो कह रही हूँ उससे आप सहमत हों ऐसी न अपेक्षा है न आग्रह है। यह सख्यसंवाद है। किसी व्यक्ति के वचन में प्रामाणिकता, सच्चाई, यथार्थता लगती है तो उसके वचन को ग्रहण करके हम अपने जीवन में प्रयोग करते हैं, दैनिक जीवन में उसे अनुबन्धित करते हैं, आत्मप्रतीति के बाद ही वह शक्ति बनती है, जीवन का सत्त्व बनता है। लेकिन, परम्परा का यदि बाह्यांग ही देखना हो, उन शब्दों के अर्थ-रूपी शिवतत्त्व को ग्रहण धारण न करके केवल अक्षरक्रम-शब्द रूपी शव को ही पकड़ना हो, स्थूल शब्द-कलेवर ही पकड़ना हो तो अनर्थ होगा। तभी यह मानेंगे कि "परम्परा में अपनी बुद्धि नहीं चलानी है। गुरु जो कहेंगे वही करना है, गुरु को यदि देहस्थ व्यक्ति में ही सीमित माना हो तो—(देहगत संस्कारों के साथ कुछ मर्यादायें और त्रुटियाँ रह ही जाती हैं) उनकी प्रकृतिगत मर्यादाओं को भी हम प्रमाण मानेंगे। यह सम्प्रदायों-परम्पराओं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में होता आया है। इसलिये परम्पराओं का जो अन्तरंग सत्त्व है, जो निगूढ़ प्रयोगपूत आशय है, उसका हम ग्रहण करें, केवल बाह्यांग में फँसे हुए न रहें। यह अहिंसात्मक मार्ग है।

आपके पास जो व्यक्ति यह बात कह रही है—वह किसी भी परम्परा या सम्प्रदाय में पली नहीं है। जीवन ही उसका सद्गुरु रहा है; सत्संग प्रभूत (वहुत) हुआ है। सन्तों से बहुत सीखा गया, लेकिन समर्पितता रही जीवन को, सत्य की समझ को, और सत्य की जो समझ सन्तों एवं ग्रन्थों की मदद से हृदय में अवतरित हुई उस समझ पर श्रद्धा रही। वह सयझ परम्परागत नहीं है। शब्द कुछ परम्परागत हो सकते हैं, क्रियाओं की पद्धतियाँ परम्परागत हो सकती हैं, समझ तो प्रेम के समान परम्परा-मर्यादाओं को लाँघ कर स्वयं प्रकट होने वाला दिव्यतत्त्व है।

गुजरात में अभी थोड़े ही वर्ष पहले श्रीमद्‌राजचन्द्र (रायचन्द भाई) नाम से एक महान् व्यक्ति हो गये हैं, जिनमे परम्परा-सम्प्रदायादि से मुक्त स्वयम्भू समझ प्रकट हुई थी और वे उसी पर चलते रहे। उन्होंने अपने आत्मसिद्धिशास्त्र में कहा है—

"कोइ क्रियाजड़ हो रहा, शुष्क ज्ञान में कोइ।
मारग माने मोक्ष का, करुणा उपजे देखि॥

शब्दों के कलेवरों को चिपकने से शुष्क ज्ञान में परिणति होती है और कर्म-क्रियाओं के बाह्यांग को ही पकड़ बैठने से एक जड़ता आ जाती है। अध्यात्म मे नितान्त आवश्यकता है जड़ता के अभाव की दक्षता-कुशलता सावधानता की, और शब्द ज्ञान के स्थूल पसारे की नहीं, बल्कि अर्थबोध की चपलता की।

प्रश्न—हमें 'मृत्यु' से 'शरीर छोड़ना' यह ख्याल नहीं आता, हमारे मन में मृत्यु का अर्थ है कष्ट, भय, इस जीवन का समाप्त होना। क्या मृत्यु का दूसरा भी कोई अर्थ है? 'जीते जी मरना'—यानी क्या? समाधिस्थ व्यक्ति की मृत्यु और सामान्य व्यक्ति की मृत्यु—इनमें मूलभूत अन्तर क्या होता है?

उत्तर—हमें सामान्यजनों को श्वासोच्छ्वास का अनुभव है न! प्राण-वायु का भीतर आना और बाहर जाना निरन्तर चलता रहता है, उसे कभी देखा है? उच्छ्वास क्या है? जो वायु आप ने भीतर खींची थी, जिसमें से प्राणन-सञ्जीवन तत्त्व का शरीर ने ग्रहण कर लिया और वह परिबर्तित होकर जली हुई 'कार्बन डायॅक्साइड' बन गई, उसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाहर निकालना होता है न ! भीतर गया हुआ प्राणतत्त्व भीतर के सब विषैले दूषित वायु को बाहर निकालने का रास्ता खोल देता है। वह बाहर जाना (उच्छ्‌वास) नहीं होगा तो दुबारा श्वास नहीं ले सकेंगे।

मृत्यु एक बड़ा उच्छ्‌वास है। 'अस्मिता'—''मैं हूँ''—''देह मैं हूँ, मेरा परिवार मैं हूँ, मेरा कमाया हुआ, अर्जन और संग्रह किया हुआ धन आदि मैं हूँ''—आदि दूषित वायु के बाहर निकल जाने का रास्ता है वह। (मृत्यु स्वाभाविक हो तो) जितना अर्जन हुआ उसके मल-अंश का उच्छ्‌वास जैसे शरीर के स्तर पर सब अपान-क्रियाओं (विसर्जन) में होता है वैसे भीतरी क्लेशों (अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश) और उनके उपकरणों-निमित्तों आदि का विसर्जन-अवसर है मृत्यु।

भूदान-आन्दोलन में प्रारम्भ में ही जब हम १०-१५ लड़के-लड़कियाँ तभी-तभी (महाविद्यालय-विश्वविद्यालयों से निकले हुए) विनोबा जी के पास इकट्ठे हुए थे, पदयात्रा में साथ चलना प्रारम्भ हुआ था, तभी एक दिन विनोबाजी ने हम सबको बुलाया कहा कि ''आज से मरने का अभ्यास शुरू करते हैं।''.....''निद्रा एक प्रकार की मृत्यु है। सुबह तुम-हम उठेंगे ही इसकी कोई गारण्टी न तुम्हारे पास है, न मेरे पास है। इसलिये रात को सोने से पहले दिनभर जो कुछ किया वह हिसाब चुकता कर डालो। चित्त में जो कुछ पड़ा हो—''मैंने यह किया, उसने वह किया। किसने अच्छा कहा–बुरा कहा.....''इत्यादि सबका विसर्जन कर डालो। चित्त को सबसे मुक्त कर लेना। ऐसा मृत्यु का रिहर्सल रोज करना। नहीं तो फिर महानिद्रा के समय बड़ी तकलीफ़ होगी।'' विनोबा बड़े विनोदी सन्त थे, खूब हँसाते थे। कहते भी थे कि ''अगर कोई हमेशा मुँह लम्बा किये गुम-सुम बैठता हो तो समझ लेना कि वह सन्त नहीं है, उसके पास नहीं जाना ! जो आनन्द में रहता हो, मानवीय सम्बन्धों में हँसता-खेलता-किलोल करता हो, तो वहाँ कुछ न कुछ सन्तत्व ज़रूर है ऐसा मान लेना....जप-तप शरीर की वृत्तियों को सुखाने के लिये नहीं, आनन्द का विकास करने के लिए होता है।.....''

आप ने पूछा है कि समाधिस्थ मृत्यु में और सामान्य मृत्यु में क्या फ़र्क है ? इसी के उत्तर के लिये यह प्रसङ्ग कहा। समाधिस्थ व्यक्ति आनन्दपूर्वक मृत्यु का वरण करता है, सामान्य व्यक्ति मारा जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काल तो निश्चित है। रोज-रोज एक-एक ग्रास भरता है। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च।" मृत्यु अटल है। जो उत्पन्न हुआ—जन्म पाया, उसकी मृत्यु होगी ही, और जो मृत हो गया उसका जन्म भी होगा। इसका शाब्दिक रटन करने से क्या होगा ? सामान्य व्यक्ति मृत्यु को तथ्य रूप में स्वीकार नहीं कर पाता; तैयार नहीं रहता। अर्जन, संग्रह और उन (व्यक्ति या पदार्थों) में आसक्त होते समय मनुष्य को स्मरण नहीं रहता कि 'एक दिन यह सब छोड़कर जाना है। अभी जीवन के उपयोग के लिये इस सबकी आवश्यकता है।' समाधि-आयाम में यह स्मरण बना रहता है। वह व्यक्ति जीवन में सब प्राप्त कर्म करता है, आवश्यकतानुसार अर्जन-संग्रह-सम्बन्ध-स्थापन आदि सब करता है, यथा-परिस्थिति प्रतिसाद देता है, जो प्राप्त है उसका समुचित उपयोग भी करता है, किन्तु उसमें आसक्त नहीं होता। अपने ही कमाये एवं खड़े किये हुए धन, परिवार, विविध सम्बन्धों को अपने लिये ऐसा दलदल क्यों बना लेना कि चित्त उसमें फँस जाय, निकल न सके !

सामान्य मनुष्य मृत्यु को भूलता है, उससे डरता है। इसलिये जब वह घड़ी आती है अन्तिम अलविदा की, तब उसे 'प्राण-प्रयाण का उत्सव' नहीं बना पाता। वह रोने का समय हो जाता है। क्योंकि प्राण निकलना चाहते हैं और व्यक्ति उसे पकड़ रखना चाहते हैं। इस तरह मृत्यु के साथ एक अर्थहीन संघर्ष सामान्य व्यक्ति के चित्त में चलता है। चित्त में वह संघर्ष न हो तो शरीर का जैसे जन्म, वृद्धि और क्षय है वैसे मृत्यु में से भी गुज़रना सहज हो जायेगा। १९८४-८५ की ही बात है, सौराष्ट्र के एक गाँव में एक वृद्ध दम्पति रहते थे। एक दिन वे वृद्ध सज्जन पत्नी से कहने लगे कि "शरीर की मिट्टी भारी पड़ गयी है, अब जाने की इच्छा है, तैयारी कर दो।" पत्नी ने कहा 'मैं भी साथ चलूँगी।' बस, अपने सम्बन्धियों को बुला लिया। जैसे घर में कोई ब्याह की तैयारी हो ऐसे उत्साह से तैयारियाँ चलने लगीं। आनन्द भरे स्वर में भजन-कीर्तन होने लगा। गाँव का भण्डारा किया, प्रसाद-वितरण हुआ; इसी बीच अच्छा-सा गड्ढा धरती में खोदकर तैयार किया गया। सबसे खुशी-खुशी मिल कर वृद्ध-दम्पती भगवान् का स्मरण करते हुए उसमें जाकर बैठे; सबने मिलकर कीर्तन-भजन करते हुए मिट्टी डाली और आनन्दपूर्वक समाधि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूरी हुई। (इसी भारत में आज भी घूमते-घूमते मुझे सत्ययुग-त्रेता-द्वापर के भी दर्शन होते हैं, शायद यह मेरी आँखों का अपराध है) यह मृत्यु का वरण है। यह वरण सबके वश की बात नहीं, माना, लेकिन, जिसे टाला नहीं जा सकता उसका कम से कम स्वीकार तो हो!

पूछा गया है कि जीतेजी मरना क्या होता है? जीवन की सत्ता से पृथक्, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र ऐसी अपनी कोई हस्ती या अस्तित्व है—ऐसा मानने को ही पतञ्जलि ने प्रथम क्लेश, और सब क्लेशों-अनर्थों की जड़-अविद्या कहा है। **The nature of life, the content of divinity is the interrelatedness of each and every expression of life.**

Deep ecologist और पर्यावरण वाले क्या बात करेंगे? भारतीय संस्कृति के मूल अध्यात्म त्रिज्ञान ने तो सभी कुछ (घास के तिनके-रेती के कण से लेकर निखिल ब्रह्माण्ड के उपादान तत्त्व पञ्चतन्मात्रा से भी आगे बढ़कर मूल प्रकृति के भी एकमात्र अधिष्ठान सच्चिदानन्द परम-तत्त्व) की एकात्मता देखी है। मनुष्य के बनाये यन्त्र व वस्तुओं में अवयवों की परस्पर संयुक्तता (interrelatedness) है, पर सभी कुछ की परस्पर सम्बद्धता (interrelatedness) जीवन का धर्म है। जीवन के घटक सब परस्पर ऐसे गुन्थे हुए हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्यकृत वस्तुओं के तो अवयवों को आप जोड़ (assemble) सकते हैं, अलग भी कर सकते हैं। आप और हम ब्रह्माण्ड के टुकड़े या भाग नहीं हैं खण्ड नहीं हैं, एकमात्र अद्वितीय अखण्ड सत्ता के उन्मेष हैं। "जीवो ब्रह्मैव नापरः"

इस मूल अखण्ड एकता एवं उसकी विविध अभिव्यक्तियों की परस्पर सम्बन्धितता की उपेक्षा करके अपने को अलग कुछ मान लेना—फिर उस सीमित अपने के लिये किसी भी तरह अधिक से अधिक कमा कर जुटा कर संग्रह करके रखने की इच्छा, उस इच्छा-वासना की पूर्ति के लिये दूसरों के अहित और कष्ट की परवाह न करना—यह आज हमारे जीने की यथार्थता-actuality हो गई है। उस 'अपने आप' की हस्ती को वर्ग या जाति या कौम, धर्म-सम्प्रदाय या देश के नाम पर भी फैला लिया जाता है, पर वह inflated ego, वह सम्पूर्ण-अखिल-अखण्ड एक से खण्डित करके अपने को पृथक् (isolated) करने की प्रक्रिया है। यह व्याप्ति नहीं खण्डन-प्रक्रिया का फैलना है। फिर दूसरे खण्डों में भी वही प्रक्रिया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चलती है और ये अलग-अलग खण्डित अहं आपस में टकराते हैं। इसी टकराव में से संघर्ष, हिंसा, युद्ध आते हैं।

जहाँ यह isolatory process of identification ('यह मैं हूँ'—भावना की अलगाव की प्रक्रिया)—either with the body or with the community or with the ideals (शरीर, या समुदाय या वर्ग, या सिद्धान्तों-मतवादों के नाम पर ही हो—) रहेगी उससे exclusiveness (अलग-अलग अन्तिम छोरों पर खड़ा होना, अपने-अपने पृथक् दायरे बँधना) आयेगा, उन पृथक्ता में कड़ी पड़ गयीं अस्मिताओं में टकराव होगा, जमातें टकरायेंगी आदर्श टकरायेंगे, हिंसा की ओर ले जायेंगे। यही होता है। ऐसे में युद्ध-बिना का विश्व कैसे आयेगा ?

अब आप के प्रश्न ('जीतेजी मरना') पर आयें; तो जीतेजी मरने का अर्थ है ऐसी अवस्था में जीना जहाँ कहीं-किसी भी खूँटे से अस्मिता बँधी न हो। जीवन का जो होनेपना-सत्ता, है। उसका शील है स्वयं को प्रकट (reveal) करते रहना। क्योंकि वह प्रज्ञास्वरूप है। जीवन की उस स्वयंप्रकाश दिव्यता-प्रज्ञास्वरूपता को प्रकट होने में कोई बाधा-प्रत्यवाय अपनी क्षुद्र अस्मिता द्वारा, अहं-भाव-जन्य चैतन्य-संकोच द्वारा, खड़ा न किया जाना ही जीते जी मरना है। जीवन समग्र रूप से स्वयं जियेगा यदि हमारी क्षुद्रता—देह आदि—से तादात्म्य द्वारा खड़े किये गये घेरे या बाड़े न हों। "मैं-मेरा" रूपों में जो आज हम स्वयं की पृथक ज़िन्दगी मान रहे हैं, वह समाप्त हो—(यही मरना है). और जीवन सत्ता, प्रज्ञामय चेतन्य सत्ता अबाध रूप से इन्हीं देह-मन-बुद्धि-वाणी द्वारा स्वयं की दिव्यता अधिकाधिक सुन्दर रूप में अभिव्यक्त कर सके—यही जीते जी मरना है। वहाँ आप की आज की भाषा में सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक या तथाकथित धार्मिक रीति से 'कुछ बनने' (beconing) को कोई अवकाश नहीं। चित्त में से ही यह 'बनने' की चाह व प्रक्रिया निकल जाना, मिट जाना जीते जी मरना है। जीवन जीने के कर्म में ही कृतार्थता, आत्मसन्तोष प्रतीत होने लगे। और वह जीवन-कर्म सहज ही, अनायास, समग्रता में होने लगे—वह जोतेजी मरना है। ऐसे व्यक्तियों को मृत्यु क्या मारेगी ?

मेरे जीवन में बचपन से ही जिन से सम्पर्क आया ऐसे महात्मा सन्त तुकड़ोजी महाराज का एक प्रसंग याद आता है। जीवन की सन्ध्या में उन्हें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कैन्सर हुआ था। भीतर ही भीतर इतना फैल चुका था कि कुछ किया नहीं जा सकता था, अपने आश्रम में (महाराष्ट्र में—अमरावती जिला-मोझरी गाँव में) शय्यागत थे। अन्तिम दिन चल रहे थे। मैं उस समय नार्वे में थी। उन्होंने अपने परिचित सत्संगी मित्र (महाराष्ट्र के गवर्नर) से कह कर पता लगवाया और नार्वे में मेरे पास सूचना भेज कर मुझे बुलवा लिया। मैं मोझरी पहुँची। उस समय बहुत ही खराब हालत चल रही थी, खून की उल्टियाँ होती थीं, हमसे देखा नहीं जाता था। लेकिन महाराज बड़े प्रसन्न थे। बोले—"विमल ! इस शरीर में कैन्सर ने ऐसी कॉन्फरेन्स लगा रखी है जो खत्म ही नहीं होती; शरीर को ही ख़त्म कर देगी। बहुत सारे अवयवों में यह परिषद् चल रही है। अब मुझे जाना है। ज़रा अमरावती जाओ, वहाँ कुछ जमीन ली हुई है इस लम्बी चौड़ी काया को रखने के लिये; उसे देख आओ, तैयारी करवा दो। देखना ! कि उसको काँटे वाली तार से घेरा न जाय, बच्चे खेलते हैं कहीं किसी को चुभ न जाय ! और जहाँ यह शरीर रखा जायेगा उस पर इसकी कोई मूर्ति न रखें ये भक्त लोग ! अन्तिम संस्कार वहीं करना—आश्रम से बाहर।........"

वे ऐसी तैयारी करवा रहे थे मानो किसी यात्रा पर जा रहे हों। उसी समय मुझे काग़ज़ कलम लेकर बैठने को कहा—एक भजन लिखवाया (जो उनका अन्तिम भजन हुआ)

"तू है शहंशाह दुनिया का,
तुझ बिन कौन सुनेगा मेरी।
....
तुकड्यादास दास रह जाये,
अन्त निभे यह मेरी फकीरी ॥"

उन्हें अन्दाज़ था कि अमुक तारीख को जाना है, तभी गये। उस दर्दनाक़ हालत में भी शय्या पर सुबह चार बजे उठ बैठते। पानी, गीला गमछा मँगवा कर हाथ-मुँह पोंछ कर, छोटे से दर्पण में देख कर बड़े मनोयोग से ललाट पर 'नाम' (तिलक) अंकित करते। एक बार मैंने पूछ ही लिया "महाराज, इतनी अधिक दुर्बलता और कष्ट है, तिलक किसी से लगवा लिया होता।" तब बोले "अरे, जब तक जीवित हैं तब तक पूरा-पूरा जीयेंगे न ! ....इतने वर्षों तक जीवन-जीना दिखाया है, अब यह भी तो दिखा दें कि मृत्यु का स्वागत कैसे किया जाता है !"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अल्मोड़ा के पास 'उत्तरवृन्दावन' आश्रम बनाकर रहते थे गौड़ीय वैष्णव रीति के साधक महात्मा स्वामी श्री कृष्णप्रेम (मूलतः अंग्रेज श्री रोनाल्ड निक्सन)। उन्होंने अन्तसमय में साथ के व्यक्तियों से कहा था— "I am sailing" (मैं जा रहा हूँ)। और गये। कोई व्यथा नहीं चित्त में। यह अन्तर होता है संसारी के मरने और समाधिस्थ के प्रयाणोत्सव में। संसारी को तो जीने में भी क्लेश है, मरने में भी। कुछ करना पड़े तो क्लेश है, कुछ भी करने को न मिले तो क्लेश है, सम्बन्धों को जीने में क्लेश है, और एकाकी रहना पड़े तो क्लेश है। क्लेश से हमारी मैत्री इतनी है कि जीवन और मरण के सभी क्षणों में उन (जीवन या मरण) के व हमारे बीच यह क्लेश ही खड़ा रहता है। इस क्लेश और उसकी उपजाई हुई क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से मुक्त होना ही कैवल्य है।

"क्लेशकर्मनिवृत्तिः कैवल्यम्"

कष्ट और क्लेश को एक न मानियेगा, **Do not confuse, don't mix up.** शरीर है तो कष्ट होंगे; आधि-व्याधि सहने होंगे, कोई अपमानजनक शब्द बोलता है, अन्याय करता है, तो कष्ट होता है जरूर। पर उस क्षणभर के कष्ट को आप लम्बाते हैं तो वह क्लेश बनता है। क्लेश याने **suffering**, वह हमेशा मनुष्य खुद उपजाता और बढ़ाता है। मित्रो! धर्म या अध्यात्म है उस मानसिक क्लेश का मिटना (**ending of psychological suffering**) जीवन जीते समय क्लेशमुक्त चित्त से जियें, तो विदा की घड़ी आने पर क्लेश-मुक्त विदाई भी होगी। वही होगा समाधिस्थ जीवन, समाधिस्थ मृत्यु। समाधि है जीवन का वह आयाम जिसमें आपका सन्तुलन (**spontaneous equipoise**) ढलता नहीं है। यह नहीं कि कष्ट हुआ तो आँसू नहीं आयेंगे। लेकिन उस घटना में से ग्रन्थि बनाना क्लेश का बीज बोना है—"मेरे साथ उसने ऐसा क्यों किया ?" वह ग्रन्थि (गाँठ) काँटा बनकर चुभती रहती है। घटना तो आकर चली जाती है, वह कहाँ रुकेगी ? जीवन की धारा में रुकने के लिये अवकाश नहीं है।

"मुझे तो आदत है घर बदलते रहने की,
मौत बदनाम हुई जाती है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—श्री अरविन्द द्वारा अवतरित अतिमनस् चेतना में प्रतिष्ठित न हो जायें तब तक आज की जैसी सभी समस्यायें—आप जैसी अनेकों विभूतियाँ इस पृथ्वी पर जी गई हैं, वर्तमान हैं, भविष्य में होंगी भी, तो भी—निराकृत हो नहीं सकेंगी। अज्ञानाधारित मानसिक चेतना ज्ञानाधारित चेतना में रूपान्तरित हो, अथवा मानव जाति उस स्तर तक पहुँचे–इसके लिये वैज्ञानिक आध्यात्मिक प्रयत्न क्या आवश्यक-अनिवार्य प्रतीत नहीं होता ?

उत्तर—यह प्रश्न नहीं, इसमें मन्तव्य है उस व्यक्ति का। इसमें कोई मतभेद होने की शक्यता नहीं दिखती। फिर भी, प्रश्न के पूर्वार्ध को देखें, इस दुनिया में, इतिहास एवं वर्तमान में, इतनी सारी आध्यात्मिक विभूतियाँ हो गईं, फिर भी यह मानव जाति इतर प्राणियों जैसी दशा में क्यों है ? खास कर अपने देश में इतनी बुराइयाँ क्यों हैं ? यह प्रश्न का मर्म है।

इतने सन्त महात्मा इस धरती पर हो गये फिर क्यों यह अवनत दशा है ?—क्योंकि (१) हमने संसार को मिथ्या, माया माना; (२) सिद्धान्तों की पूजा की और क्षण-क्षण में जो जीवन है, जिन्दगी की हर दम की जो तफ़सीलें हैं—उनकी उपेक्षा की है—The details of life have been neglected. जीवन तो प्रतिक्षण के तथ्यों में है। व्यवहार और परमार्थ को अलग रखकर वस्तुतः जीवन जिया नहीं जा सकता, किन्तु प्रकट सृष्टि को मिथ्या-माया कहकर फिर उसकी तात्त्विक व्याख्या के लिये समझौते में पड़कर व्यावहारिक और पारमार्थिक दो सत्ताओं की कल्पना कर ली; इसी से नैतिक और भौतिक जीवन को अलग रखने को रास्ता मिल गया। जीवन तो है एक अखण्ड सत्ता। उसे हम ने खुद ही खण्डित कर लिया और अपनी सुविधा के लिये ही आँख पर पट्टी बाँधकर भ्रम की नींव पर जो जीवन-पद्धत्ति निर्मित की, वह अवनति की ओर भटकाकर विनाश की ओर क्यों न ले जाती ?

हम ने ही तो भौतिक व्यावहारिक जीवन के अलग नियम व आचार संहितायें बनाई और आध्यात्मिक साधना के लिये सर्वथा अलग नियम व जीवन शैली बनाई। दैनिक सामाजिक जीवन में से अध्यात्म का बहिष्कार ही कर दिया। भौतिक जीवन में धनसंग्रह अनिवार्य माना; धनसंग्रह के लिये 'मुनाफ़े' को ही प्रेरक लक्ष्य (incentive) माना; जहाँ कोई 'मुनाफ़ा' न 'कमाया' जा सके वह करने के लिये मनुष्य प्रवृत्त ही क्यों होगा ?—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह माना। फिर वह 'कमाई' जिस-किसी भी तरीके से क्यों न हो ? 'कमाई' पर अपना निजी स्वामित्व न हो तो मनुष्य परिश्रम क्यों करेगा ? इस तरह अर्थनीति के नाम पर अपने-अपने लिये सुविधाजनक नियम-कानून बना लिये। तुलना-स्पर्धा को सामाजिक प्रगति के लिये मूल्य-मान्यता दी गई। स्पर्धा पर आधारित समाज (Comparative society) बनाया। जिसमें हमेशा के लिये तुलनात्मक-स्पर्धात्मक मनोवृत्ति बनी रहे। वह चैन नहीं पड़ने देती मनुष्य को।

ऐसा आन्तर-विरोध हम ने जीवन में खड़ा कर लिया कि एक ओर तो—"यह सब मिथ्या, माया है, सब यहीं छोड़कर अकेले ही जाना होगा, इस सपने की दुनिया की क्या परवाह करना ?"—यह कहते हैं, दूसरी ओर—"मेरी हस्ती, मेरी कमाई, मेरा कुटुम्ब, मेरी प्रतिष्ठा, मेरी सम्पत्ति, मेरी सुख-सुविधा-विलास की सामग्री" के लिये जैसे-तैसे धन-संग्रह करने में पागल हुए घूमना। एक ओर "सर्वान्तर्यामी परमात्मा है, परमात्मा ही सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है।" रटना और दूसरी ओर राजनीति के नाम पर सत्ता हथियाने के लिये और सबको द्वेष की नज़र से देखना, अपने आप का नीलाम करना, या हिंसा, लूट-खसोट, गुण्डा-गीरी—कुछ भी अनर्थ करने में आगा-पीछा न देखना। **Every motivation becomes justified in Politics.**

इस तरह यदि समाज समर्थन देता चले अर्थनीति-राजनीति के नाम पर, तो मानवीय सम्बन्ध रुग्ण, असन्तुलित, शोषणपरायण बने रहेंगे। नींव में ही जीवन को खण्डित कर दिया गया, एक-एक टुकड़े के लिये अलग आचार संहिता अलग मूल्य निर्धारित बना लिये जो परस्पर विरोधी हैं, जो एक-साथ चल ही नहीं सकते। एक ही आदमी इतने सारे विरोधों को एक ज़िन्दगी में कैसे जिये ? इतने आन्तर विरोध दिल-दिमाग और शरीर में लिये हुए जीने वाले व्यक्तियों एवं समाज की अवनति नहीं होगी तो क्या होगा ? सन्तों-महात्माओं-भगवद्‌विभूतियों का अपराध नहीं है, उनके साथ दैनिक जीवन का अनुबन्ध नहीं बाँधा है। पाश्चात्य ईसाई देशों में ईसामसीह का **'Sermon on the Mount'** समझ लेते तो उनका इतिहास कुछ और होता, और भारतीय संस्कृति का सार जो सन्त-वाणी में व्यक्त होता रहा उसे जन जीवन में अपनाया गया होता तो मनुष्य जाति सर्वत्र समदृष्टि, समभाव समवर्तन जी रही होती। तब जातियों-वर्णों-वर्गों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि के नाम से ऊँच-नीच वाला भेदभाव नहीं आता, उसके साथ शोषण के रास्ते नहीं खुलते। लाखों मन्दिर-मस्जिद-गुरुद्वारे खड़े रहने से क्या बनेगा? वे तो केवल चेतना के दिखावटी मुखौटे और गहने बन जाते हैं।

श्रीअरविन्द द्वारा कही गई अतिमनस् और दिव्य जीवन में उत्क्रमण की बातें तो अपने स्थान पर सत्य हैं ही, पर पहले तो आवश्यक है कि जीवन अखण्ड बने, खण्डितता के अभिशाप से मुक्त हो। सम्पूर्ण जीवन-दर्शन अखण्डितता पर स्थित हो। समाज व्यवस्था के ढाँचों में पड़े मूल्यों-मूल्यांकनों-अग्रिमताओं के परस्पर विरोधों का निराकरण हो। विशिष्टताओं का जतन हो, तब कहीं भ्रष्टाचार और धोखाघड़ी मिटना सम्भव है। केवल कथा-परायण-सत्संग शिविर-धार्मिक प्रवचन आदि से काम नहीं बनेगा। ज्ञान का, सिद्धान्तों का अनुबन्ध जब तक दैनिक जीवन और समाज व्यवस्था में नहीं होता तब तक अवनति बनी रहेगी। 'अतिमनस्' में सब का आरोहण हो या न हो, किन्तु वह भी जीवन की एक दशा सम्भव है उस ओर ध्यान तो जाय! दिव्यता प्रज्ञा को जीने की शक्तियाँ मानव-चेतना में पड़ी हुई हैं इसका भान तो जागे! तभी शिक्षा-शिक्षण को दिशा उस ओर जायेगी। केवल पदवी, नौकरी मिलना ही शिक्षण का उद्देश्य न रहे, आजीविका-उपार्जन शिक्षण का आनुषङ्गिक परिणाम (byproduct) बने। अखण्ड जीवनलक्षी दृष्टि-वृत्ति हो तो शिक्षा-व्यवस्था बदलेगी, समाज, अर्थ-शासन की व्यवस्थायें बदलेंगी, तब कहीं जाकर अतिमनस् में उत्थित होने की प्रेरणा मनुष्य को मिलेगी।

आज चहुँओर अतिशय, उद्वेगों की, दौड़ धूप की भीड़ और परेशानी व दवाव-तनाव में पिचते हुए से मध्यम वर्ग, कुछ उच्चमध्यम वर्ग के भी लोग कुछ राहत की सांस लेने, जरा विश्राम पाने, थोड़ी सांत्वना पाने के लिए कथा-पारायण-सत्संग शिविर आदि में जा बैठते हैं, थोड़ा-सा समय उदात्त-भाव लेने में सांस लेने के लिए वहाँ जाते हैं, पर अपनी रोज की जिन्दगी में उस राहत को ला नहीं पाते, क्योंकि आसपास का माहौल मदद करने की बजाय उलटा ही असर करता है। खास तौर पर धार्मिक कहलाने वाले इस भारत देश में और भी विडम्बना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—आपकी किताबें मैंने पढ़ीं; उसमें से समझ में आया कि स्वयं अपनी प्रकृति व समझ के अनुसार साधना का पथ-निर्णय करना चाहिये, सो साल भर घूम कर देख-समझ कर मुझे विपश्यना मार्ग अच्छा लगा, वही मैं कर रही हूँ। इससे पूजा-पाठ-कर्मकाण्ड से अपने आप छुटकरा हुआ। लेकिन यह ठीक हुआ या ग़लत यह नहीं समझ पा रही हूँ। विपश्यना में पूरी प्रगति हो पायेगी या नहीं इसमें शंका है, और पूजा-अर्चना-प्रभुकृपा आदि जो पहले आधार थे वे छूट गये हैं। अब मुझे क्या करना चाहिये ?

प्रभुकृपा से मैंने जीवन में सब सुख पाये हैं, संसार की सब जिम्मेवारियाँ पूरी हो चुकी हैं, अब बचा हुआ समय सामाजिक कार्यों में बिताती हूँ; फिर भी ऐसा लगता है कि जीवन अब यहीं समाप्त हो जाय तो ठीक—यह विचार ग़लत है ? या सही ? कृपया बतायें।

उत्तर—किसी की भी किताब पढ़िये—(अर्वाचीन हो, प्राचीन हो, प्रिय व्यक्ति की हो या अप्रिय अथवा अपरिचित किसी की भी हो) वह पढ़ने के बाद जो समझ में आता है वह अपना हो गया। फिर चित्त में यह नहीं रहना चाहिये कि "अमुक ग्रन्थकर्ता या वक्ता मनीषी ने कहा इसलिये हम कर रहे हैं।" यदि वह कहा-सुना-पढ़ा हुआ मुझे ठीक लगा, योग्य (उचित) लगा, तो वह मेरी अपनी समझ हो गयी। मैं मेरी समझ पर चलूँ। इस रीति से, विपश्यना-पद्धति अपनायी और क्रिया-काण्ड से छुटकारा हुआ, तो 'विवश्यना से पूरी प्रगति हो सकेगी या नहीं ?'—यह शंका क्यों उठी ? क्या विपश्यना-प्रक्रिया के युक्तिगत अन्तिम छोर (logical end) तक जाकर देखना हुआ है ? उसमें जो करना अभिप्रेत है या करके देखा जाता है वह मैंने करके देखा ? उसके अन्त में पहुँच कर पाया कि प्रगति नहीं होती है ! अपनी अभिरुचि एवं अपनी समझ के अनुसार जब कोई मार्ग हम पकड़ते हैं तो उसके अन्त तक जाकर देखें परखें कि (जो कमी हम उसमें महसूस कर रहे हैं) वह क्या उस प्रक्रिया पद्धति की मर्यादा है ? या अपना मन ही बीच में उससे ऊब कर हट गया है ? अपनी कोई मर्यादा है ? इसे पहले देख लेना चाहिए। नहीं तो, जो प्रक्रियायें या साधना-पद्धतियाँ हैं वे बिना कारण बदनाम भी हो सकती हैं। किसी व्यक्ति या प्रक्रिया, पद्धति के साथ हमें अन्याय नहीं करना है। स्वयं पूरी शक्ति लगाकर उसे करके देख लेना है। फिर वह अनुकूल न पड़े या उसमें अधूरापन लगे तो वह छूट जाय, यह एक बात है। जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रियाकाण्ड छूट गया, वैसे विपश्यना या सुपश्यना की प्रक्रिया भी भले छूट जाय, लेकिन यदि किसी कारण से वह प्रक्रिया करने में ही बाधा आ रही हो तो उस कारण को दूर हटाना जरूरी है। पूरी तरह से करके देखना चाहिए, शंका नहीं रखनी चाहिए। हाथ कंगन को आरसी क्या ?

आप पशोपेश में हैं कि यह सही हुआ या गलत ?····ऐसा है कि आप कोई भी रास्ता पकड़ें उसे सही कहने वाले भी निकलेंगे, गलत कहने वाले भी। परिवार में, मित्रमण्डली में लोग बहुत तरह की बातें कह सकते हैं। उन प्रतिक्रियाओं का परिणाम तो आपके चित्त पर नहीं हुआ है ? यह देखिए। अन्य व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं से अलग रहकर स्वयं आपको भीतर से जो ठीक लगा हो वह बेधडक करते जाइये। उसके कोई अनिष्ट परिणाम शरीर पर होते हों—श्वास चढ़ता हो, भूख न लगती हो, नींद न आती हो—तो उसका छूट जाना उचित ही है। किसी के कहने के प्रभाव से छोड़ देना गलत है, अपनी समझ के आधार पर छूट जाना सही है।

छोड़ने का अर्थ है कि भीतर तो उसमें रस है, बाहर उसे छोड़ रहे हैं किसी निमित्त से, किसी खास कारण से, किसी की देखादेखी, या किसी के टोकने से। छोड़ना बाहर से होता है, भीतर उसकी पकड़ कायम रहती है। भीतर से छूट जाय तो बाहर का अपने आप झड़ जाता है। पतझड़ में जैसे पेड़ों के पत्ते झड़ते हैं वैसे, भीतरी समझ से, जरूरत न रहने पर क्रियाकाण्ड, शब्द, विचार आदि भी झड़ जाते हैं। उन्हें झड़ने दीजिये, छूटने दजिये।

दूसरी बात यह कहनी है कि किसी की प्रतिक्रिया के कारण अपने चित्त पर परिणाम न होने दीजिए। आपके मन में ही शक आता हो कि "इसमें तो मुझे रस नहीं आ रहा है, पहले मैं करती थी वही ठीक था" तो लौट जाइये, वही कीजिये जिसमें भीतर से आपको रस हो, समाधान हो; किसी के कहने में आकर कुछ न कीजिए। 'प्रभु-परमात्मा-ईश्वर' आपके 'करने' 'न करने' का भूखा नहीं हैं, वह तो देखता है आपके चित्त की दशा (quality of consciousness) क्या है ? 'भावग्राही जनार्दनः' 'हरि तो भूखे भाव के', आपके चित्त में समता, सन्तुलन रहता है या नहीं ? वहाँ प्रसन्नता रहती है या नहीं ? करना, न करना गौण है, लेकिन करने न करने के पीछे जो चेतना की दशा है वह महत्त्व की है। उसे देखा जाय।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब, परिवार की जिम्मेवारियाँ पूरी हुई हैं, सामाजिक कार्य में समय देती हैं, यहाँ तक तो ठीक, पर 'जीवन यहीं समाप्त हो'—इस इच्छा का अर्थ क्या ? जीवन तो अपने आप समाप्त होने ही वाला है, वह तो आप के चाहने से भी रुकेगा नहीं। देह छूटने का क्षण तो अपने समय से आने ही वाला है, उसके लिए जल्दबाजी क्यों ? आसक्ति जितनी अमंगल है, उतनी ही जीवन के प्रति उपेक्षा भी अभद्र-अमंगल है।

यह इच्छा या वृत्ति उठने का अर्थ है कि प्रश्नकर्त्री का मन कहीं लगता नहीं है, जीवन में कहीं रस नहीं आ रहा है। उस व्यक्ति से मैं कहूँगी कि विपश्यना या पूजा-जप आदि करे-न करें—इस बात को अलग रख कर ज़रा कुछ दिन अपने आप से संवाद साधें, स्वयं से ही पूछें कि यह 'अरस क्यों है ?'····फ्रॉयड के मनोविज्ञान का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य में एक मरणेच्छा (deathwish) रहती है; सब कुछ अपने मन-रुचि के अनुकूल चले तो वह दबी रहती है, जहाँ प्रतिकूल होने लगे तो मरणेच्छा उभर आती है कि 'ऐसे जीने से तो मरना भला'।

इसलिये वह 'जीवन यहीं समाप्त हो जाय !'—यह कोई स्वतन्त्र स्वाधीन इच्छा नहीं प्रतीत होती, बल्कि किसी बात की प्रतिक्रिया है जिसे सीधे प्रश्न में व्यक्त नहीं किया जा सका है। इस प्रश्न में जितना कहा हुआ है, उससे अनकहा बहुत ज्यादा है। जो अनकहा है उसे भी पढ़ तो सकती हूँ, लेकिन वह किसी का घूँघट उठाकर देखने जैसा होगा। उसमें भद्रता नहीं, अतः रहने दें।

प्रश्न—भोग (Indulgence) और त्याग (repression-रूप) और रसास्वाद करना—इनका अर्थ क्या है ? तटस्थता और मध्यस्थता में क्या फर्क है ?

उत्तर—नदी के तट (किनारे) होते हैं न ! 'तटस्थ' याने जो तट पर खड़ा है; नदी के प्रवाह में नहीं आया। साक्षीभाव है, तटस्थता है। अर्थात्, समाज का जो जीवन-प्रवाह चल रहा है, या घटनाओं का प्रवाह चल रहा है उसमें वह अपने को सहभागी नहीं बनाता। उसके प्रति अपना दायित्व नहीं मानता। बहुत लोग मुझे कहते हैं कि आप अध्यात्म-साधना करते हैं तो इन सामाजिक-राजनैतिक विषयों पर क्यों बोलते हैं ? क्योंकि उनकी दृष्टि से अध्यात्म-साधना, उपासना करने में अन्य कोई दायित्व नहीं आता। मेरे देखे अध्यात्म वह है जो सम्पूर्ण जीवन को अपने आश्लेष में लेता है। सम्पूर्ण जीवन जीने की एक नई दृष्टि प्रदान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करता है, नयी जीवन-शैली का विकास करता है वह अध्यात्म है। इस देश में 'कोरी' तटस्थता का बड़ा गौरव रहा है कि "हम तो किसी के लेने-देने में नहीं, हम तटस्थ व्यक्ति हैं।"....मेरे देखे वह सफ़ेद पोश पलायनवाद है।

मध्यस्थता है—जीवन की मध्यधारा में रहते हुए उसके मूल स्रोत की ओर तैरना। जीवन के आघात-प्रत्याघात के बीच, सुकृति-विकृतियों के बीच, सज्जनों, दुर्जनों के बीच बैठे हैं, जो सामने आये उसे जीते हुए, न सज्जनों के प्रति आसक्त होते हैं, न दुर्जनों से वितृष्णा होती है। सुख हो–दुःख हो, सन्मान हो, अपमान हो। इनके बीच में से जीवन का रास्ता बना हुआ है, वह द्वैत-द्वन्द्व के बीच से होकर गुज़रता है। न कहीं अटकता है न भटकता है, न कहीं रुकता है, न ठिठकता है, कहीं पल्ला न फँसाते हुए सबके बीच से शान से गुज़रता जाता है, वह मध्यस्थ है।

Indulgence–भोग क्या है? अपने सामने जो जीवन है, जो विश्व है, उसमें और अपने में एक सहज सम्बन्ध है। Wholeness and interrelatedness is the essence of life. समग्रता और परस्परानुबन्धितता जीवन का सार है। जीवन किन्हीं अवयवों का जोड़ (totality of parts) नहीं है। जीवन एक अखण्ड एकरस सघन सत्ता है; अनेक रूपों में वह सत्ता व्यक्त होती है। उसी में हम भी उसकी एक अभिव्यक्ति हैं। फल-फूल-साग-सब्जी-अनाज आदि दूसरी अभिव्यक्ति हैं। देह-धारणा के लिये, शरीर और चित्त के समाधान के लिये इन्द्रियो में विषयों के प्रति प्रवृत्त होने की ऊर्जा प्रभु ने रखी है। इन्द्रियों को निर्वीर्य, स्तब्ध नहीं बनाया। There is not a curse of impotency on the senses that decorate the body. ऊर्जस्वती इन्द्रियों से सुसज्जित है शरीर। इसलिये आँखें रूप का सेवन करेंगी। वह रूप-संवेदन शरीर के मस्तिष्क में, नाड़ी-तन्त्र में, रसायन-तन्त्र में अङ्कित (register) होगा। ऐसे ही कान-नाक-रसना-त्वचा द्वारा भी जो कुछ सुन्दर-असुन्दर संवेदन आयेंगे वे भीतर अंकित होंगे।

यह संवेदन-ग्रहण और उनके प्रति ध्यान जाना, भीतर अंकन होना—इतना प्रत्येक जाग्रत् व्यक्ति में होगा ही। रसास्वादन में भी यह तो होगा ही। लेकिन "वह जो देखने को मिला था वह फिर से मिले"—यहाँ भोग वासना प्रारम्भ हुई। स्वस्थ सामान्य व्यक्ति को भूख

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लगेगी; ४-६ घण्टों के बाद फिर कुछ आहार लेना पड़ेगा, अन्नब्रह्म के साथ सम्बन्ध आयेगा। रसास्वादन होगा, लेकिन "मुझे वही भोजन मिलना चाहिये, अमुक व्यञ्जन ही चाहिये"—यह आग्रह आया तो वह भोग है।

मुझे ऐसा लगता है कि रसास्वादन में इन्द्रिय और उनके विषयों के परस्पर सम्बन्ध का सम्मान है। किसी रस से शीतलता व सन्तृप्ति मिलती है तो उसका स्वीकार अवश्य करेंगे, 'अच्छा लगा' कहेंगे; लेकिन 'फिर से वैसा ही अच्छा लगना चाहिये'—यह वृत्ति न रहे।

The sense of continuity seeks repetition. The desire of repetition is the source of all misery and suffering. पसन्द आया हुआ विषय-संवेदन लगातार बना रहे—यह वासना उसको दोहराते रहना चाहती है। यह वासना ही सारे दुःख-कष्ट की जड़ है।....रसास्वाद में और भोगवृत्ति में यही फर्क है।

अब भोगवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में जो 'त्याग' किया जाता है उसे देखिये। "इस वस्तु में मुझे बहुत स्वाद आया, सुख मिला, इसलिये इसे खाऊँगा ही नहीं। यह व्यक्ति सामने आये, साथ रहे, तो मुझे सुख लगता है, कहीं इसके मोह में न पड़ जाऊँ; इसलिये उसके सामने आऊँगा नहीं, उसे देखूँगा नहीं, उसके साथ रहूँगा नहीं।"

Depriving the senses and yourself of the presence of the objects or individuals, who cause pleasure! जिन वस्तुओं-व्यक्तियों के संग में आनन्द आता है उनसे स्वयं को, अपनी इन्द्रियों को वञ्चित रखना—भय के कारण कि कहीं उनमें फँस न जायें। एक भय के कारण मनुष्य त्याग का, निग्रह का, निरोध का रास्ता ढूँढ़ता है। इसलिये घर-बार छोड़ने की बात है, पदार्थों को, वस्तुओं को वर्ज्य करने की बात है।

त्याग करने की वास्तविक ज़रूरत कभी रही होगी, पता नहीं मुझे; पर आज के युग में, जब लोग लिखते-पढ़ते-सुनते हैं, सोच और समझ सकते हैं, तब उस (त्याग) की आवश्यकता नहीं है। भोग और त्याग दोनों अति हैं। बीच में जो जीवन-रसिक का संयम का रास्ता है, रस-सेवन का, रसास्वाद का रास्ता है, वही वैज्ञानिक लगता है। इसमें निषेध नहीं है, खण्डन नहीं है, अहंकार का पोषण भी नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—श्रद्धा और अन्धश्रद्धा में क्या फ़र्क होता है ?

उत्तर—आप ने ही 'अन्ध' विशेषण लगा कर उत्तर दे दिया न ! "सत्ये प्रतिष्ठिता धारणा श्रद्धा" है। कुछ समझ आई; अपनी उस समझ पर आप दृढ़ रहे, तो वह समझ श्रद्धा का रूप धारण करती है। अपनी समझ में नहीं आया है, अध्ययन हुआ है. लेकिन आप्तवचन को मान लिया, उससे भी श्रद्धा बनती है। शास्त्रवचन, आप्तवचन, आत्मप्रतीति—ऐसे श्रद्धा के तीन स्रोत हैं। भारतवर्ष में अध्यात्मशास्त्र का बहुत विकास हुआ है लाखों वर्षों से; जैसे कुछ शताब्दियों से पश्चिम में पदार्थ-विज्ञान का विकास हुआ है। अपने यहाँ तो हजारों वर्षों से शरीर-मन-बुद्धि में प्रयोगशाला खोल-खोल कर तप करने वाले लोग निकले। उन प्रयोगों के निष्कर्षों से शास्त्र बने। योग-विज्ञान की सभी शाखायें साधना के शास्त्र हैं। उन सब शास्त्रों का एक हेतु है—**The purification of the psycho-physical structure, elimination of impurities and imbalances, and a purification leading to the illumination within.**

यह होता है शास्त्रवचन में श्रद्धा रखने से, कि उसमें कहा हुआ सत्य है। मान लीजिये, प्रयोग करने के बाद वह सही नहीं निकला, कोई अनिष्ट परिणाम निकला। तो कहना पड़ेगा कि या तो वह बात पुरानी पड़ गई है, या अवैज्ञानिक है। "वेद हजार कहें कि अग्नि उष्ण नहीं है तो मैं नहीं मानूंगा" "वेदों ने कहा हो तो भी अस्पृश्यता को नहीं मानूँगा"—यह कहने वाले क्रान्तिकारी भी इस देश में निकले हैं। तात्पर्य यह है कि शास्त्रों ने जो कहा उसे समझ कर प्रयोग कर के देख लेना होता है। शास्त्रवचन या आप्तवचन की जाँच (verification) आत्म-प्रतीति में होती है। इस आत्मप्रतीति तक पहुँचने के बाद जो श्रद्धा रहती है वह अन्ध श्रद्धा नहीं है। लेकिन "कहा है इसलिये करते हैं" की भावना से धर्माचरण करना अन्धश्रद्धा है, स्वयं से पूरा-पूरा विधिवत् कर्म हुआ-न हुआ-कुछ दोष हो गया तो उलाहना गया शास्त्रों पर। गतानुगतिकता या परम्परामात्र से क्रियायें करते चलें, शास्त्रों का किसी तरह पालन हो और उनके पीछे जो आशय है उसे पकड़ा भी न जाय—तो उसे अन्धश्रद्धा कहते हैं। यह लौकिक शब्द है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—"जो प्रिय व्यक्ति हैं उनके बारे में स्वामित्व-भावना न हो, निरपेक्ष स्नेह हो,"––इसका आकलन तो है, लेकिन आचरण नहीं है; तो क्या करें ?

उत्तर—क्यों नहीं है आचरण ? हो सकता है कि प्रियता प्रभुत्व की तरफ़ ले गई है। "मुझे प्रिय है," इसलिये उस प्रियता से होने वाला सुख मुझे मिलता रहे, वह मेरी पकड़ से बाहर न जाये। स्वामित्वभावना, पकड़ रखने की भावना—Possessiveness यह इसी तरह आती है। "यह व्यक्ति मुझे इतनी प्रिय हैं, कहीं इसका मेरे प्रति स्नेह न रहे तो! ये दूर चले जायें तो!"—यह आशंका भीति बनी रहती है। आप देखिये कि ये 'प्रियता' और 'अप्रियता' दोनों शब्द सभी ग्रन्थियों की जड़ है। संवेदनों की अनुकूलता-प्रतिकूलता तो शरीर में होती ही रहेगी, मृदु-कठिन, कोमल-कठोर आदि से शरीर में कष्ट या सुविधा तो होगी। अनुकूल से सुविधा होना, प्रतिकूल से कष्ट होना स्वाभाविक तथ्य हैं; लेकिन उनके साथ 'मेरा'-पन जोड़ देने पर जटिलता बढ़ती है, मन उसी में से सुख-दुःख पैदा कर लेता है। यों तथ्य रूप में—"अनुकूलवेदनं सुखम् प्रतिकूलवेदनं दुःखम्"––कहा गया। अनुकूलता में से प्रियता और प्रतिकूलता में से अप्रियता का भाव हम पैदा कर लेते हैं। उसी में से फिर प्रभुत्व, स्वामित्व, पकड़ में रखने की इच्छा पैदा होते हैं। प्रिय व्यक्ति के लिये preference है, अप्रिय के लिये prejudice (क्रमशः अनुकूल और प्रतिकूल पक्षपात एवं पूर्वाग्रह) है। जीवन की सब घटनाओं-परिस्थितियों-अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओं में से एक-समान भाव से गुज़रते चले जायें, कहीं प्रियता-अप्रियता पैदा ही न हो, ऐसा आग्रह चित्त में न रहे कि जो प्रिय हैं (पति-पत्नी, बच्चे, मित्र) वे मेरे ही बनकर रहें! ज़ोर असल में प्रियता पर भी नहीं है, ज़ोर तो है—'मुझ' पर! 'मेरे प्रिय' 'मुझे प्रिय'!

आप पूछते हैं कि स्नेह का आचरण न होकर स्वामित्व का आचरण होता है, क्या कारण है ?····अब 'प्रिय'-जनों के प्रति भी यदि प्रभुत्व का ही आचरण होता है, तो मुझे लगता है कि इसमें सामाजिक सन्दर्भ भी काम करता है। परिवार के सम्बन्धों से लेकर शासन-स्थानीय वर्ग और जनता के मध्य तक के सभी क्षेत्रों के सम्बन्धों में एक परम्परा-शृंखला बनी हुई है स्वामित्व-दासत्व के सम्बन्धों की, अधिकारभेद की, उच्चता-नीचतरता (Hierarchies) की शृंखला बन जाती है। वह सामाजिक सन्दर्भ मन पर काम करता है। पुरुष-प्रधान संस्कृति में पत्नी और बच्चे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रभुत्व का विषय बन जाते हैं, पत्नी केवल भोग्या ही नहीं, संग्रह की, ऐश्वर्य कीं, प्रभुत्व की विषय बन जाती है। बच्चे भी अपनी चाह की पूर्ति के माध्यम, अपने विशेष संग्रह व प्रदर्शन की वस्तु बन जाते हैं (assets to own, to possess) मौका मिलने पर पत्नियाँ भी उसी तरह का प्रभुत्व पति पर चलाती हैं। दोनों ओर यह होता है। भारतीय मानस (Indian psyche) ही ऐसा बन गया है, यहाँ खून के क़तरे-कतरे में वही मानसिकता बैठ चुकी है। दूसरे देशों की चेतना की चर्चा यहाँ प्रस्तुत नहीं, इसलिये वह नहीं छेड़ती। इससे आगे चलने का साहस हो तो चलें मेरे साथ। जब तक मनुष्य अहंभावना के कारागार में पड़ा है, जब तक 'मैं और तू' 'मैं और वह, यह' का भेद रहेगा तब तक प्रभुत्व-दासता बने ही रहेंगे। 'अहं' का स्वभाव ही है 'मैं और मेरा' बनाये रखना—"मैं कायम रहूँ, मेरे सुख कायम रहें, मैं जो चाहता हूँ वह मुझे मिले।" The very movement of I-consciousness is always acquisitive. It will acquire knowledge it will acquire money, it will acquire individuals. It will own them, possess them. यह अर्जनशीलता है, कमाने और संग्रह कर रखने की स्वामित्व जमाने की मूल वासना जब तक रहेगी, तब तक भय भी रहेगा। इसलिये निरपेक्ष स्नेह उस व्यक्ति के साथ भी नहीं होता जो प्रिय है, तो फिर और किसी के साथ होने का तो सवाल ही नहीं।

अब इस प्रश्न का दूसरा पहलू देख लें। निरपेक्ष स्नेह का आशय है कि किसी भी प्रकार से कोई अपेक्षा नहीं। मैं जो कुछ करता हूँ उसके बारे में उस व्यक्ति से कोई अपेक्षा नहीं है, कोई स्पृहा नहीं। निरपेक्ष यानी निस्पृह, अनपेक्ष। (भक्त के लक्षण में ये मधुर शब्द आते हैं—"अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।" संस्कृत भाषा एक अद्भुत चमत्कार है मानवीय बुद्धि का) अपेक्षा कब रहती है बताइये! जब जो कुछ मैं करता हूँ, देखता हूँ, बोलता हूँ, उसमें मुझे सन्तृप्ति की प्रतीति न हो। हमारा जीवन, मेरा कार्य करना-हिलना-बोलना-देखना-सुनना यह सब सौदा है। इसमें से कुछ मुझे वापस चाहिये। अभिव्यक्ति में ही आनन्द और परितृप्ति का बोध क्यों नहीं होता? Life is fulfilled in its very expression! लोग कहते हैं कि परमात्मा ने दुनिया क्यों बनाई? क्या हेतु था? क्योंकि हेतु-प्रयोजन के बिना तो हम आँख भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं खोलते हैं। इसलिये परमात्मा की क्रीड़ा में भी प्रयोजन देखने जाते हैं। जब कहा जाता है कि वहाँ कोई हेतु या कारण नहीं है, आत्मानन्द की अभिव्यक्ति रूप ही यह सारा सर्जन-विसर्जन है—तो बात पकड़ में आती नहीं। जीवन का धर्म है अभिव्यक्त होना। सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है तो उसे देखें, विसर्जन होता हो तो उसे भी देखें। जब तक आप को जीवन जीने में आनन्द न आये—जीवित होना ही बहुत बड़ा अनुग्रह है—यह रहस्य आप की समझ में नहीं आयेगा, जीवित रहना कितना बड़ा ऐश्वर्य है—यह ध्यान में नहीं आयेगा और अभिव्यक्ति में आनन्द नहीं आयेगा, तब तक आप का चित्त अपेक्षा करता रहेगा। अभिव्यक्ति में ही आनन्द आये तो उस अभिव्यक्ति का परिणाम जो भी होना हो वह हुआ करे! अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, तृप्ति में कमी नहीं आती। The being is fulfilled in manifesting its content, not for any purpose. It is not bargaining. You know! loving is not bargaining. जीवन-सौदेबाजी नहीं।

अतः जब मानवीय सम्बन्धों में, अभिव्यक्ति में ही सन्तृप्ति प्रतीत होने लगेगी, तब अपेक्षा रहेगी नहीं। हाँ—functional roles (कार्यालय-विद्यालय-कारखाने आदि कार्य-स्थलों पर सहकर्मी-सम्बन्धों में, कार्य सम्बन्धी क्षेत्रों में अवश्य अपेक्षायें जुड़ी रहती हैं, जिसे जो कार्य सौंपा गया है उससे कार्य को भलीभाँति मुस्तैदी से करने की अपेक्षा बनी ही रहती है। वे माता-पिता क्या जो बच्चे को संस्कार नहीं देंगे, सही ढंग से जीना-ग़लत काम न करना आदि समझायें व सिखायेंने नहीं? वह अधिकारी-अधिशासी (executive) क्या जो अपना काम करे नहीं और मातहत लोगों से करवा न ले। और जिनसे काम होता न हो उन मातहत कर्मचारियों को हटाये नहीं। वह अपनी जगह उचित ही है। लेकिन मानवीय सम्बन्धों में अपेक्षा की आवश्यकता क्या है? अपने आप को उँड़ेल देना—इस अर्थ में जीवन को यज्ञ कहा गया है। अपने आप को पूरी तरह लुटा देना! दूसरे को लूटने नहीं देना—वह तो नादानी होगी। अन्तर की सम्पदा-स्नेह लुटाते चले, ऐसे लुटाने में ही सम्पन्न हो जाँय। इसे एक बार आज़मा कर देखियेगा, कम से कम अपने प्रियजनों के साथ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—सन्त वांङ्मय पढ़ते समय कुछ सन्तों (विशेष श्री ज्ञानेश्वर एवं ठाकुर रामकृष्ण) के प्रति अतीव प्रेमभाव लगता है;—ऐसा क्यों ?

उत्तर—लीजिये साहब ! अब सन्तों के प्रति प्रेम हो गया—यह भी प्रश्न बना ? ज्ञानेश्वर और रामकृष्ण परमहंस ऋजुता की, कोमलता की सदेह मूर्त्ति थे। माँ के शरीर में जैसे वत्सलता के कारण खून का दूध बन जाता है वैसे उनका चित्त, उनकी प्रतीति, उनका ज्ञान सब करुणा ही बन गया था। वह मृदुता-ऋजुता-सरलता क्या आकर्षित नहीं करेगी ? परम ज्ञानी-अनुभवी होने पर भी मुग्ध-निश्छल बालभाव रहा उनमें। न्यौछावर हो जायें श्री ज्ञानेश्वर पर, इतना सौन्दर्य-माधुर्य भरा है उनकी वाणी में। उनके अभंग हों, चांगदेव-पासष्ठी हो, अमृतानुभव हो, ज्ञानेश्वरी (गीता-भावार्थदीपिका) हो ! माधुर्य का सागर है वहाँ। वेदों में मधुविद्या का उल्लेख आता है—

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः
मधुद्यौंरस्मान् मधुरस्तु सूर्यः
मधुमत् पार्थिवं रजः माध्वीर्गावो भवन्तु नः।

वह मधुविद्या ज्ञानदेव एवं रामकृष्ण दोनों में सिद्ध थी। उन्हें सब मधुमय दिखता था।....खैर उनके प्रति प्रेम हो गया। आप ज्ञान से अधिक हृदय के प्रेमी होंगे, ऋजुता-मृदुता के प्रेमी होंगे। अन्यथा कोई कहेगा कि था क्या रामकृष्ण में ? दक्षिणेश्वर में पूजाके लिये रखा गया वह अर्धनग्न ब्राह्मण गदाधर !—यह भी कहने वाले निकलेंगे।....अपना जैसा पिण्ड है, जैसे संस्कार हैं, उसके अनुसार सन्तजीवनी पढ़ते हुए कहीं विशेष प्रेम हो जाता है।

आप ने देखा होगा ज्ञानराय एवं रामकृष्ण परमहंस दोनों के जीवन में कि—उनके पाँव बराबर धरती पर थे। सर्वदा लगभग भाव-समाधि या निर्विकल्प समाधि में रहने वाले रामकृष्णदेव की व्यवहार-दक्षता विलक्षण थी। उनके पास लड़के रहते थे दस-बारह, काली, लाटू, राखाल, निरञ्जन, नरेन्द्र आदि। उनमें से किसी को सब्जी लेने भेजा शारदा माँ ने। वह दो पैसे (सौ साल पहले की बात है) की सब्जी चार पैसे में लाया। तब रामकृष्णदेव ने कहा कि "कितनी सब्जी के लिये कितने पैसे देने हैं—यह भी तू समझ नहीं सका तो अध्यात्म क्या समझेगा ?"....लालटेन का काँच साफ करना है, उसकी बत्ती को ठीक ढंग से सीधी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काटना है, तेल अच्छी तरह भरना है, पूरी लालटेन स्वच्छ रखनी है— सब सिखाते थे और कहते थे कि "यह काँच साफ़ करना-साफ़ रखना नहीं आता है तो तू अपना दिल कैसे साफ़ करेगा ?"

यही हाल तो महर्षि रमण का भी था। ब्राह्म मुहूर्त्त में ढाई बजे उठ कर रसोई घर में चले जाते; सब्जियाँ सँवारते, काटते, आश्रमवासियों का सुबह का नाश्ता बनाते थे। मौन की सदेह मूर्त्ति एवं निर्विकल्प समाधि अवस्था में ही रहने वाले रमण-महर्षि की व्यवहार-दक्षता इतनी जबर्दस्त थी।....शंकरलाल बैंङ्कर उनके पास गये, सन् १९३५ की बात है। महर्षि से मिलने के लिये समय माँगा। उन्होंने कहा "कल सुबह तीन बजे आ जाओ। रसोई घर में मिलेंगे।" शंकरलाल बैंकर गये वहीं। महर्षि साग-सब्जी सवार रहे थे, इनके पास भी रख दी एक छुरी सब्जी काटने के लिये। ये बैरिस्टर आदमी, इन्हें कहाँ आता था वह काम ? टेढ़ी-मेढ़ी किसी तरह काटने लगे। तब रमण-महर्षि ने कहा—"ऐसे नहीं ! सत्यं शिवं सुन्दरम्' का उपासक क्या इस तरह से सब्जी काटेगा ?" तब पहले वही सिखाया हाथ पकड़ कर।....

ज्ञानराय का बारह वर्ष की आयु में जो अद्भुत निरीक्षण था जीवन का—The fantastic capacity of observing the details of life. जीवन की तफ़सीलें (दैनिक जीवन में आने वाली प्रत्येक छोटी-छोटी चीजें, क्रियायें, कुछ भी करने-देखने-सोचने का ढंग) ही तो ऐश्वर्य है जीवन का ! उनका निरीक्षण ज़बर्दस्त था !

"सन्ध्या समय के आकाश के रंग, भली-भाँति बुहारा गया आँगन"

"यौवन का संचार होने पर अङ्गना के अंगों का लावण्य" "तारुण्य की ताज़गी" योगी के शरीर की दीप्ति का वर्णन, योगी के नेत्रों का वर्णन, इत्यादि देखिये !....किसी भी रसिक व्यक्ति को उनके साथ निकटता, समीपता-प्रतीत होगी।....भक्त के लक्षणों में (गीता में) "अनपेक्षः शुचिः दक्षः" कहा है, अनपेक्षता के साथ ही दक्षता भी कही गयी है। कोई अपेक्षा नहीं तो दक्षता भी नहीं—ऐसा नहीं। लापरवाही-बेदरकारी-अलगरज़ी को वहाँ मौका नहीं है।....

किन्हीं सन्तों के प्रति अधिक झुकाव या प्रेम होता है तो इसे समस्या मत बनाइये। लेकिन हाँ, किसी से प्रेम हो तो अन्य सन्तों की बात पढ़नी ही नहीं—ऐसा मत कीजिये, देखें-पढ़ें-समझें सभी को। बगीचे में जाते हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो किसी एक मनपसन्द फूल के पौधे को पकड़ कर नहीं बैठ रहते न ! वैसा हो तो बगीचे में जाना ही व्यर्थ है। मानवीय संस्कृति इस प्रकार के जीवनोत्कर्ष-रूपी फूलों का बगीचा है। संगीत-प्रेमियों में किसी को कोई राग अधिक प्रिय हो सकता है, लेकिन संगीत-रसिक यह तो नहीं कहते कि बस वह एक ही राग सुनेंगे दूसरे राग नहीं सुन सकते।

प्रश्न—"पश्चिम की ओर जाना है, पूर्व की ओर मुँह किये चल रहे हैं।" ज्ञानेश्वरी में उदाहरण दिया है, उसका आशय क्या है ? ईशावास्योपनिषद् में कहा है—"विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते।"

इसका भी अर्थ स्पष्ट करके समझाइये।

उत्तर—भाई ! मैं कोई Academician या व्याख्याकार तो हूँ नहीं, कि किन्हीं भी उक्तियों के अर्थ समझा सकने का दावा करूँ। जो ज्ञानेश्वरी का विधिवत् अध्ययन करने वाले हों वे इसका अर्थ आपको समझा सकेंगे, इतना ही कह सकती हूँ कि 'पश्चिम' और 'पूर्व' ये सांकेतिक शब्द हैं, जैसे दक्षिण नाड़ी वाम नाड़ी के लिये सूर्य नाडी चन्द्र नाडी सांकेतिक शब्द हैं। अब इस नाड़ी को सूर्य और दूसरी को चन्द्र क्यों कहना—यह कहने जायेंगे तो मेरे पास जवाब नहीं है।

In order to decide the codes you require the study and contemplation of the whole literature. (संकेत-शब्दों का अर्थ समझने के लिये पूरे साहित्य का गहरा अध्ययन-अपेक्षित है।) ज्ञानेश्वरी में महाराज सभी शास्त्रों के साथ अनुबन्ध कायम रखते हुए बात करते हैं। योग की विभिन्न शाखाओं का समाचार लेते हुए वे आगे बढ़ते हैं। शब्द सरल भी हैं गम्भीर भी हैं। क्योंकि विद्वत् समाज उनके सामने बैठा था। उस समय जितने सम्प्रदाय थे वे वाद-विवाद पर आधारित थे। विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी नाना वाद, माया, विवर्त, परिणाम, अजात आदि थे। परमात्मा और सृष्टि के सम्बन्ध के बारे में भी वाद ! भगवान् और भक्त के सम्बन्ध के बारे में भी वाद ! ऐसी वाद-विवाद-सम्प्रदाय-मय परिस्थिति में ज्ञानेश्वर बैठे थे, और प्राकृत जन-सामान्य-के लिये प्राकृत भाषा में वे वेदपरक ग्रन्थ (गीता) का भावार्थ कहने-लिखने बैठे थे। इसलिये कहीं अनेकों संकेतात्मक रूपक आते हैं तो कहीं हठयोग की शब्दावली आती है। मूलाधार से लेकर सहस्रार चक्र तक का वर्णन, तन्त्र का चक्रभेदन एवं नाथ-पन्थ की भाषा आती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्दार्थ ही लेना हो तो—पश्चिम में अस्त होने वाला सूर्य दूसरे प्रातःकाल में पूर्व से जैसे उदित होता है ?—वैसा आत्मज्ञानी का जीवन है—यह आशय लिया जा सकता है। यों ग्रन्थाधारित प्रश्नों का उत्तर देने के लिये मैं यहाँ नहीं बैठी हूँ। मैं तो जीवन की आशिक व्यक्ति हूँ। मुझे जीवन से प्रेम है, जीवन जीने का व्यसन है। जीवन जीने के विषय में जिज्ञासा हो तो उस पर कुछ कहा भी जाय।

प्रश्न—भगवान् की पूजा, जप, साधना का संयोग कैसे करें ?

उत्तर—इस प्रश्न का सम्बन्ध है उपासना से। उपासना के एक विज्ञान, एक कला का विकास भारत-भूखण्ड में हुआ है। यहाँ के लोग बड़े रसिक थे। जो व्यक्ति जहाँ खड़ा है—मानसिक और बौद्धिक रीति से, वहीं से वह 'दिव्यसत्ता' (परमात्मा, Divinity) के साथ अपना सम्पर्क-बिन्दु बना लेता था। जीवन की दिव्य सत्ता के साथ सम्बन्ध साधने के लिये अनेक मार्ग, पगडण्डियाँ यहाँ के साधक लोग बना लेते थे।·····उपासना के विज्ञान में अध्यास का महत्त्व है। सर्वव्यापी-सर्वदेशी-सर्वाकार अमूर्त्त-अमाप जो परमात्मसत्ता है, उसका प्रतिनिधित्व करने वाली मूर्तियाँ-प्रतिमायें बनाते हैं। क्योंकि अव्यक्त-अनाकार के साथ चित्त को जुड़ा रखना बहुत कठिन (क्लेश-साध्य) है।

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" इसलिये साधक अपने प्रभु का विग्रह बना लेते हैं। बड़ी सुन्दर युक्ति है, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करके उसे उपासना का विग्रह बनाते हैं। उपासना विग्रह की होती है बाज़ार-दुकान में रखी मूर्त्तियों की नहीं। प्रतिमा को घर लाकर जब आप विधिवत् एवं पूर्ण भाव से उनमें प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं तब वे आराध्य-उपास्य बनते हैं, इष्टदेव बनते हैं। उनमें आप घट-घटवासी अन्तर्यामी प्रभु-परमात्मा का अध्यास कर लेते हैं। इसके लिये भी कवि-हृदय चाहिये।

इस प्रकार आप यदि घर में पूजा-आराधना आदि करते हों तो अवश्य कीजियेगा, पर यह ध्यान में रखियेगा कि यदि वे भगवान् घट-घट वासी हैं—जगद्व्यापी हैं, तो उन्हें केवल पूजाघर में सीमित नहीं रखा जा सकेगा। श्रीविग्रह की पूजा में पूजा की शुरुआत जरूर है, लेकिन वहीं रुकिये-अटकिये नहीं। उस पूजन में से यदि उन्हें सर्वाकार देखने की दृष्टि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खुलती है, तो ही पूजा सार्थक होगी। आप ने पूजा-उपासना को दिव्य-सत्ता से सम्बन्ध का साधन बना लिया। आपका चित्त बहुत अशान्त है, स्थिर नहीं होता है तो आप जप का सहारा ले लीजिये।

"तज्जपस्तदर्थभावनम्" परमसत्ता के अर्थभावन के लिये कोई मन्त्र पकड़ लिया। क्योंकि इस देश में मन्त्रशास्त्र का बहुत विकास हुआ है। **The metaphysics of sound energy, the science and art for utilising the sound energies for studying the mind, curing the psychophysical sicknesses.**

चित्त को शुचि-स्वच्छ-स्वस्थ-स्थिर-सूक्ष्मगामी बनाने के लिये और मनः शारीरिक रुग्णतायें व कषाय मिटाने के लिये, अन्तर्बाह्य आरोग्य के लिये यहाँ ध्वनि-विज्ञान व नाद-ऊर्जा की पराभौतिकी के उपयोग की कला व विज्ञान का बहुत विकास किया गया। मैंने कहा न ! कि भारत के लोग जीवनरसिक थे। वे आज की तरह केवल उपयोगितावादी (utilitarians) नहीं थे, स्वच्छन्द-उच्छृङ्खल भोगवादी भी नहीं थे। सुरक्षावादी-सुविधावादी नहीं, जीवनरसिक लोग रहे हैं। तो सत्ता के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में जप को साधन बनाया, यानी नाद की ऊर्जा में लपेट कर वे चञ्चल चित्त को स्थिर, शान्त करते थे।

साधना यदि सत्य को समझने के लिये है, तो आरम्भ में जो ये आधार लिये जाते हैं, इन आधारों को एक दिन छूटने देना होता है। लेकिन समझे बिना लोग उन्हें पकड़े रखते हैं। सत्य को पकड़ना चाहते हुए भी यदि असत्य या अध्यास को ही पकड़े रखें, उसी से लटके रहें **Even after understanding the truth we cling to the untruth. Even after perceiving what is false we cling to the false. That is the misery of the human life.**

मनुष्य-जीवन का दुःखद पहलू यह है कि सत्य समझ लेने, असत्य को पहचान लेने पर भी हम असत्य, अध्यास को पकड़े-जकड़े ही रहते हैं, उसे छोड़ कर मुक्त नहीं हो जाते। बल्कि "कहीं वह छूट न जाय !" इसके लिये घबराये रहते हैं।

मैं नहीं समझती कि सत्य समझने की शक्ति मनुष्य में नहीं होती या उसकी संवेदनशीलता में सत्य के साक्षात्कार की क्षमता (perceptive sensitevity) नहीं होती। वह प्रत्येक मनुष्य में अवश्य होती है। लेकिन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस समझ को न पकड़ कर मनुष्य नासमझी छूटने से घबराता है। आप से यही कहना है कि पूजा-जप आदि को साधन भले ही बनाइये, लेकिन उन्हें ही पकड़े न रहियेगा। तो यही भगवत्पूजा एवं जप-भजन-कीर्तन आदि परमसत्ता के सहज अनुसन्धान तक ले जायेंगे, तब पृथक् पूजा की आवश्यकता ही न रहेगी।

"आँख न मूँदौं, कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नयन हँसि-हँसिकै देखौं, सुन्दर रूप निहारौं।
साधो ! सहज समाधि भली !"

वहाँ तक आप जा पहुँचेंगे।

आप पूछ रहे हैं कि अध्यात्म साधना और ज़प आदि का कैसे संयोग करें ? इस पर मेरा यही कहना है कि आपको वहाँ से शुरु करने की इच्छा हो तो भले शुरु कीजियेगा, लेकिन वहीं के वहीं रुकियेगा नहीं।

प्रश्न—"सम्पूर्ण विश्व रूप में एकमात्र चैतन्य सत्ता या जीवनसत्ता ही भरी हुई है"—इस विचारधारा में मायावाद का क्या स्थान है ? "ब्रह्म सत्यं जगन्-मिथ्या" यदि सच हो तो जीवन-सन्मुखता आचरण में कैसे आयेगी ? "मायावाद से इस देश का बहुत नुकसान हुआ है"—ऐसा कहने वाले कई लोग हैं, आप इस सम्बन्ध में भूमिका स्पष्ट करें।

उत्तर—मैं जो निवेदन आपके सामने रखती हूँ, जो संवाद करती हूँ, इसमें किसी भी 'वाद' का कोई स्थान नहीं है। और, जितनी मेरी समझ है एवं जितना-सा अध्ययन है उसके आधार पर कहना चाहती हूँ कि श्री आद्यशंकराचार्य के जीवन-दर्शन में भी किसी 'वाद' को कोई स्थान कभी नहीं रहा।

"ब्रह्म सत्यं जगद् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"
"अहं ब्रह्मास्मि" "तत् त्वमसि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

इतने महान् वाक्यों में शंकराचार्य-प्रणीत जीवन-दर्शन समाया हुआ है। 'सत्य' से उनका अभिप्राय रहा उस अखण्ड अद्वितीय सत्ता से जो त्रिकाला-बाधित है, देश-काल-वस्तु को सीमा-परिवर्तनादि से जिस पर कोई परि-णाम नहीं होता। जिसमें विकार नहीं उठता, जिसका स्वभाव, स्वरूप, सत्य कहा जाता है वह ब्रह्म है, वही तत्त्व है। और—जो देश-काल आदि से बाधित होता है, जिसमें विकार यानी गुणान्तर या रूपान्तर सम्भव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बनता है, उसको पारमार्थिक भाषा में 'मिथ्या' कहा जाता है। विज्ञान की भाषा में उसे सापेक्ष तथ्य कहा जाता है। अतः "ब्रह्म सत्यं जगन्-मिथ्या" में 'मिथ्या' शब्द का अर्थ 'झूठ' नहीं है। अंग्रेजी भाषा में 'False' शब्द से उसका अनुवाद करना हमारे देखे अनिष्ट (ग़लत) है, अवाञ्छनीय है, अवैज्ञानिक है। 'जगत्' शब्द में गतिसूचक ध्वनि है। 'ब्रह्म' या 'तत्त्व' अपनी सत्ता में रहते हुए ही 'गति' का रूप व्यक्त करता है, 'शबल' या 'विकृत' बने बिना अनेकानेक गतिमय रूप धारण करता है, इन गतियों-ऊर्जाओं के विविध आघात-प्रत्याघात एवं सम्मिलन से सत्ता सघन 'जगद्' रूप धारण करती है। असंख्य ऊर्जाओं के वैश्विक नर्तन (The cosmic dance of innumerable energies) के कारण जो पदार्थ बनते-बिगड़ते हैं, जन्म लेते और क्षय पाते हैं—वे मिथ्या हैं। उनकी अनेकता आभास है और एकता सत्य है।—इतना ही तो आद्यशंकराचार्य ने कहा। जगत् को 'माया' कहने का तात्पर्य यही था कि यह जो अगणित-असंख्य नाम-रूप-आकार-रंग-पदार्थ-गति-ऊर्जा आदि की प्रतीति है यही माप (measure) बनती है अमाप तत्त्व का। मीयते यया सा माया।

आइंस्टीन का सापेक्षता-सिद्धान्त (Theory of Relativity) और आद्य शंकराचार्य का जगत् को माया कहने का अभिप्राय हमारे देखे लगभग एक सा है। क्योंकि शुद्ध अध्यात्म विज्ञान-विरोधी हो ही नहीं सकता। वह जीवन का विज्ञान है। वह संगठित धर्म की भाषा नहीं है, उपासना की भाषा नहीं है, अध्यासों का मनोरम पसारा नहीं है, प्रपञ्च नहीं है। आद्यश्रीशंकराचार्य ने जो जगत् को माया या मिथ्या कहा उसके मूल आशय से हट कर उसका 'वाद' बाद के विद्वान् लोगों ने बनाया होगा। शंकराचार्य की बुद्धि या वृत्ति को किसी 'वाद' का स्पर्श हुआ होगा यह मानने को मेरा चित्त तैयार नहीं है। व्यक्ति की सापेक्षता को चरम सत्य की माया के रूप में प्रकट करने के बाद भी इस सृष्टि के 'माया' या 'मिथ्या' होने के नाते इसके प्रति कोई तुच्छता-उपेक्षा या निन्दनीयता का भाव (derogatory sense) होता तो उनके स्तोत्रों में ऐसा सुन्दर रमणीय रसिकता भरा वर्णन इस व्यक्त सृष्टि के पदार्थों का न होता।

विविध नदी-स्तोत्र, त्रिपुरसुन्दरी-आनन्दलहरी-सौन्दर्यलहरी जैसे प्रगल्भ स्तोत्र, अन्य सभी देवस्तोत्र, तीर्थस्तोत्र आदि अप्रतिम रस-भरे स्तोत्र कैसे बनते ? श्रीचक्र बना कर देवी उपासना भी वे क्यों करते ? उन्होंने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्पूर्ण दर्शन अध्यात्म-जिज्ञासुओं के लिये अपनी ललित-विशद शैली में रखा। इस प्रकार सापेक्ष सृष्टि का सन्मान भी उन्होंने किया। इसलिये शंकराचार्य को मायावाद का प्रणेता या प्रवक्ता कहने वालों से सहमत होने में मैं असमर्थ हूँ।

जिन्होंने यह 'वाद' बनाया उन्होंने जरूर इस व्यक्त सृष्टि के प्रति एक नकारात्मक-अभावात्मक-हेयता वाला दृष्टिकोण जनमानस में बना दिया कि "यह जगत् मिथ्या है, माया है, सपना है, सब झूठा है....।" योगी हो, भोगी हो या त्यागी हो—सभी को जिन पदार्थों के साथ रहना पड़ता है, जिस देह में रहना पड़ता है, जब तक श्वास चलता है, तब तक इन्हीं देह-इन्द्रियों-पदार्थों से काम लेना होता है, तो इन्हें झूठा कह कर उपेक्षा करने-इनको तुच्छ मान कर अवहेलना करने से क्या होगा। श्री शंकराचार्य के ही नाम से किन्हीं ने "भोजनं व्रणलेपनम्, वस्त्रं शवाच्छादनम्" जैसी उक्तियाँ प्रचलित कर दी हुई हैं, उनमें से कौन-सी प्रामाणिक हैं, कौन-सी प्रक्षिप्त—इसकी चर्चा विद्वान् किया करें, किन्तु सापेक्ष या व्यवहारगत तथ्य-सत्य (Relative truth) के प्रति उपेक्षा भाव, निषेध या खण्डन का भाव हो ही नहीं सकता, क्योंकि सत्य के आराधक के लिये तो सच्चिदानन्दघन ही सृष्टि में रूपायित हैं, सभी नाम-रूपों में वे स्वयं सजे हुए हैं। उन्होंने ही यह सापेक्ष रूप धारण किया है, इस रूप में रहते हुए भी उन (तत्त्व-परम चरम सत्य) की अखण्ड समग्र सत्ता त्रिकालाबाधित सत्यता, अद्वितीयता, सत्-चित्-आनन्दघन-स्वरूपता लेशमात्र भी लाञ्छित या बाधित या न्यून नहीं हुई है।

"पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"

जिन्होंने शंकराचार्य के प्रतिपादनों में से इस 'मायावाद' को उपजाया, फिर अद्वैत में भी अनेकों विशेषण लगा कर कितने ही 'वाद'—निर्माण किये गये, उन सबका मूल आशय उन-उन वादों के प्रणेताओं के चित्त में और उन साधना पद्धतियों में वस्तुतः जो भी रहा होगा, वह विशद रूप से कहा नहीं गया और फिर पण्डित-विद्वान् लोगों के शास्त्रार्थ का विषय बन कर रह गया; सामान्य-जन के लिये तो भेद-प्रभेद का ही विस्तार करने वाला हो गया।

श्रीमद् आद्य शंकराचार्य की बात निकली ही है तो एक प्रसंग और कह दूँ। दक्षिणमूर्त्ति-मठ के वर्तमान महामण्डलेश्वर वस्तुतः प्रकाण्ड

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनीषी, उदात्त विद्वान् एवं गहरे अध्यात्मसाधक जीवनरसिक संन्यासी स्वामी श्री महेशानन्द गिरि कुछ वर्ष पहले शृंगेरी मठ में जाकर छः मास रहे थे यह अध्ययन करने के लिए कि वास्तव में आद्य शंकराचार्य श्री को, भारतवर्ष के उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम में मठ बनाते समय, इन मठों का क्या स्वरूप अभिप्रेत रहा होगा। अध्ययन से उन्हें प्रतीत हुआ कि चारों-दिशाओं में विद्यापीठ बनाना ही अभिप्रेत रहा होगा। मनुष्य को शब्द-ज्ञान और क्रियाकाण्ड दोनों से बड़ा प्रेम रहता है। इन दोनों के अतिशय महत्त्व एवं बोलबाले के समय ही आद्य शंकराचार्य इस धरती पर थे। भारतीय चेतना को शुष्क तत्त्वज्ञान में से और कोरे क्रियाकाण्ड में से निकालने के लिए शंकराचार्य ने जन्म लिया एवं अपना अद्वैत-दर्शन भारत के सामने रखा। उनके जीवन के विषय में प्रसिद्ध है यह श्लोक :—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

आठ वर्ष के होने तक चारों वेदों के ज्ञानी हो गये, बारहवें वर्ष में सभी शास्त्रों के मर्मज्ञ हो गये, सोलहवें वर्ष में ब्रह्मसूत्र पर एवं ११ मुख्य उपनिषदों पर भाष्य लिखे। फिर पूरे भारत वर्ष में भ्रमण करते हुए वेदोपनिषदों के अद्वैत दर्शन का भारतीयों की चेतना में पुनर्जागरण किया, क्षुद्रतायें दूर कीं, मठों के रूप में विद्यापीठ स्थापित किये, और बत्तीसवें वर्ष में अपनी जीवनलीला विसर्जित कर दी। कोरे कर्मकाण्ड का निरास करने के कारण उन्हें प्रच्छन्न बुद्ध तक कहा गया। क्योंकि मनुष्य को क्रियाकाण्ड छोड़ना अच्छा नहीं लगता, और जो उस क्रियाकाण्ड की अभिरुचि पर व्यर्थता-अनर्थकारिता पर प्रहार करेगा, वह लोगों को प्रिय नहीं लगता। शंकराचार्य का प्रहार वहाँ है, जगत् की सापेक्ष सत्यता पर नहीं। इसलिये मेरा यह निवेदन है कि पूज्यपाद श्रीमदाद्य-शंकराचार्य उतने ही जीवन-सम्मुख थे जितनी जीवन-सम्मुखता आपको इस बहन की वाणी में मिलती है, अधिक ही रहे होंगे। शंकराचार्य के दर्शन ने नहीं, उनके शब्दों की छाया लेकर फैलाये गये 'माया-वाद' ने अवश्य इस देश को हानि पहुँचायी। क्योंकि उसने व्यक्त सृष्टि का अपमान, अनादर उपेक्षा, खण्डन, निषेध किया, और अध्यात्म के नाम पर जीवन को एकांगी बना दिया। जगत् को, वसुन्धरा को यदि 'भोगने का विषय' मान लिया जाय तो ही न आसक्ति पैदा होगी ! यदि सृष्टि में सारे पदार्थ हमारे साथी-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहयोगी हैं, और 'परस्पर भावना करते हुए' हमें एक-दूसरे के साथ जीना है, जल-स्थल-नभ के साथ, इनमें विराजमान निसर्ग-सृष्टि के साथ, इनमें विचरते प्राणियों जलचर-स्थलचर-नभचरों के साथ, यदि हमें जीना है, तो परस्पर के सुख-दुःख-स्वाधीनता-सन्मान का ध्यान रखते हुए जियेंगे। They are fellow beings, companions. तब कैसे आयेगी माया-वाद-जन्य उपेक्षा, अवहेलना ?

संक्षेप में कहें तो, 'माया'-'मिथ्या' शब्द बड़े विशिष्ट एवं वैज्ञानिक अर्थ में कहे गये थे, उनका मर्म न पकड़ कर स्थूल छाया-अर्थ ले लिये जाने से अनर्थ हुआ। अध्यात्म जीवन का विज्ञान है, उसमें अन्धी-मान्यताओं को, समझ बिना की विश्वासपरायणता को, रूढ़िधर्मिता को, गतानुगतिकता को कोई स्थान नहीं है। And because we could not dare to look at the naked truth, we cannot bear the piercing and penetrating nature of Reality, we try to cover it up, क्योंकि हम सीधे साक्षात् सत्य को देखने का साहस नहीं कर पाते, सत्य के प्रखर-सुतीक्ष्ण स्वभाव को सहन नहीं कर सकते, इसलिये हम उसे विभिन्न 'वादों' के शब्दजाल से ढके रखना चाहते हैं। किन्तु अध्यात्म में इसके लिये अवकाश, गुन्जाइश नहीं है। इसलिये मनुष्य की रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं होती जितनी कि उपासना पूजा आदि में होती है। जहाँ क्रियाओं को, अध्यासों-कल्पनाओं के श्रृंगार को अवकाश है, वहाँ मनुष्य की अभिरुचि होती है। यह स्वाभाविक है। लेकिन जो स्वाभाविक होगा वह सत्य ही हो—ऐसा नहीं है।

'ब्रह्म सत्यम्'—याने निरपेक्ष सत्य (Absolute Truth) जिसमें से वे जीवनमूल्य स्फुरित होते हैं, जिनका सौदा नहीं किया जा सकता (Values of life which are not negotiable) आज के युग में उन्हीं को हम स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। उनके स्वीकार और ग्रहण-धारण को हमारी क्षमता क्षीण होती चली जा रही है। सत्य, स्वाधीनता, पारस्परिकता, सहजीवन जैसे निरपेक्ष जीवन-मूल्यों का स्वीकार करने से हमारी अर्थ-रचना, राज्यरचना, शासन-रचना सब टूट पड़ेगी। प्रचलित व्यवस्थाओं को हम बचाना चाहते हैं जो अन्याय व शोषण पर आधारित हैं, सुरक्षा व सुविधापरायणता पर आधारित हैं, इसलिये निरपेक्ष सत्य का स्वीकार करने में झिझक-हिचकिचाहट होती है और व्यवहारवाद के नाम पर उनकी उपेक्षा भी होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आज भारत को निर्णय करना होगा कि किस दिशा में चलना है ? १९४७ में परिस्थिति इतनी विषम और चिन्तनीय नहीं थी जितनी आज है। किन निरपेक्ष मूल्यों को यह देश स्वीकार करेगा ? और किस प्रकार उन मूल्यों को अपनी समाजरचना-अर्थनीति-आर्थिक एवं प्रशासनिक व्यवस्थाओं में कार्यान्वित करेंगे ?

चैतन्य को व्यक्त करने के लिये अखण्ड व्यापक तत्त्व के साथ अनुसन्धान साधने के लिये, जीवन-समग्रता को जीना सीखने के लिये जिन इन्द्रियों का, जिन अध्यासों का आप ने आधार लिया था, वह आधार मृत्यु के क्षण तक लिये रहना है ? अखण्ड तत्त्व के साथ अनुसन्धान मृत्युक्षण तक न सधे ? आधार में ही हम अटके रहें—यह तो कोई बुद्धिमत्ता या समझदारी नहीं हैं, वैज्ञानिकता भी नहीं है। किन्हीं व्यक्तियों के जीवन में ये आधार भले छूट भी जायें, लेकिन जो मन्दिर बनते हैं वे सामुदायिक चेतना का प्रतीक हैं। व्यक्ति-जीवन में कहीं आधार की आवश्यकता न भी रही हो, पर समाज परिपक्व व्यक्तित्ववालों का ही नहीं है, अधिकांश 'बच्चे' 'नाबालिग' है। जिनके मन किसी कारण अपङ्ग बने हुए हैं, या व्याधिग्रस्त हैं, उन्हें आधार की आवश्यकता शायद हमेशा बनी रहेगी, कभी समाप्त नहीं होगी। इसलिये मन्दिर की संकल्पना एक काव्यमय संकल्पना है। समुदाय के लिये एक वातावरण, एक श्रद्धाभिव्यक्ति का स्थान बना रहे, पृथक्-पृथक् छोटे घरों में कुटुम्ब में जो जीना सम्भव न बन पाये वह सामूहिक रूप से जिया जा सके—सौन्दर्य-कला-शिल्प-विद्या-एकता-व्यापकता-समर्पण-आदि उदात्त भावों की आराधना हो सके इसका अवसर सबको सम्मिलित रूप से देने के लिये प्रतीक रूप से मन्दिर की संकल्पना थी। वास्तव में तो प्रत्येक गृहस्थ का घर ही मन्दिर होना चाहिये। मानवीय सम्बन्ध यज्ञवेदी हैं, "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" का आशय जीने का अवसर है। उसी का सामूहिक-सामुदायिक रूप हैं मन्दिर-मस्जिद-गिरजा-गुरुद्वारा आदि। मानवीय समाज के लिये वह एक सांकेतिक प्रतीकात्मक आवश्यकता है। विज्ञान की बात करने वाले पश्चिम के लोगों के जीवन में क्या प्रतीक नहीं हैं ? राजनीति भी क्या प्रतीकों पर नहीं चलती है ? Symbolism is a necessity of mind, but it is not a consummation of human brain. पर प्रतीकों में बुद्धि गँवा नहीं दी जाती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—किसी वस्तु या विषय को समग्रता से कैसे देखा जा सकता है ? How to look at an object in totality ? व्यक्त के पीछे जीवन की अनन्तता है; आप ने ऐसा कहा है कि वहाँ गतिमुक्त स्थिति है, ऊर्जा की भी गति नहीं है; वह अनन्तता क्या है ? उसे कैसे जानें ?

उत्तर—हम देखते कैसे हैं ? What is the actualty in our perception ? What is the biochemical stage at the moment of perception ? किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष होते समय शारीरिक-रासायनिक स्तर पर वस्तुस्थिति क्या होती है ? जो वास्तविकता है उस बिन्दु पर पहले खड़े तो हो जाइये ! प्रस्तुत वास्तविकता का आशय समझें तब समग्रता की बात करें । हम किसी पदार्थ-व्यक्ति-घटना-दृश्य को देखते हैं तब वह देखना सहेतुक है या अहेतुक है ? Question the validity of the motivation and the necessity behind it ? (समझने-समझाने की एक ही पद्धति है कि आप विश्लेषण करें, पृथक्करण करें। फिर उसका निष्कर्ष निकलने दें; संवाद में निरूपण ऐसे ही सम्भव है) ।

मुझे लगता है कि जब हमारे देखने के पीछे हेतुओं का पसारा खड़ा होगा, तो देखने का कर्म प्रदूषित हो जायेगा; हेतु-सापेक्ष ही देखना होगा। भगवान् से वरदान माँगते हैं साधक "हेतुरहित अनुराग" "अहैतुकी भक्ति" का ! क्योंकि भक्ति में भी कोई हेतु रहेगा तो वह सौदा होगा, भक्ति नहीं। उसी तरह समग्रता को देखना हो तो चित्त में कोई हेतु-सीमायें नहीं रखनी चाहियें। दृश्य की समग्रता को देखने का यही उपाय है कि अपने भीतर की खण्डितता को समाप्त करें। दृश्य तो अपने आप में समग्र-सम्पूर्ण है ही, चाहे घास का तिनका ही हो, पेड़ का पत्ता हो, पवन का झोंका हो या पानी की बूंद हो, वह समग्र-सम्पूर्ण ही है। हमारा देखना खण्डित (fragmentary, partial, exclusive) होता है (all inclusive) नहीं हो पाता क्योंकि हमारे भीतर खण्डितता है। समग्रता को देखने के लिये किसी विशेष प्रक्रिया-पद्धति-तकनीक-उपाय की आवश्यकता नहीं। वहाँ फार्मूले, methodology, technique, असंगत (irrelavent) है। देखना यह है कि चैतन्य की दशा क्या है जिसमें से हमारे सभी प्रत्यक्षीकरण जन्म लेते हैं। दृश्य की समग्रता को अपनी दृष्टि के आश्लेष-आलिंगन में लेने के लिए अपेक्षित है कि हमारी चेतना खण्डित दशा में न हो, चित्त व्यग्र, क्षुब्ध न हो, अन्यमनस्क न हो, हेतुओं से ढका न हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हेतु की भी उपयोगिता है भलीभाँति अपना कार्य करने में। जैसे आप चिकित्सक हैं, रोगी को देख रहे हैं i तब उसके रोग का निदान करना, उसके आरोग्य के लिये उपाय खोजना यह हेतु लेकर आप रोगी को सब तरह से देखेंगे। शिक्षक विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं, हेतु रहेगा कि पढ़ाने का विषय उनकी समझ में पैठ जाय। यह अनिवार्यता है।

मुझे ऐसा लगता है कि भीतर स्वस्थता हो, चेतना खण्डित न हो, चित्त व्यग्र न हो तो दृष्टि में दृश्य की समग्रता को संवेदित करने की शक्ति होती है।

प्रश्न—अव्यक्त के पीछे जीवन की अनन्तता क्या है ?

उत्तर—अव्यक्त-अनन्त (visible invisible, and infinite) मेय, अमेय, मानातीत (measurable, immeasurable and that which is beyond these two categories) नामी, अनाम, नामातीत, (namable. unnamable and that which is beyond these two) ज्ञात, अज्ञात, अज्ञेय (known, unknown and unknowabe)—ऐसे तीन प्रकार से जीवन की सत्ता का वर्णन होता है। अनन्त उस तीसरी विधा का संकेत है जहाँ आपके नाप-तौल-संज्ञायें ऐन्द्रिय-अतीन्द्रिय ज्ञानशक्तियाँ काम नहीं करतीं। मनुष्य जाति ने विभिन्न माप बनाये, नापने का एक जरिया (साधन, तरीका) बनाया 'काल' 'समय' (Time)। वह हमने बनाया है। पहले 'काल' का धारणा बनायी फिर उसके नाप बनाये—निमिष से लेकर 'कल्प' तक भारतीय गणना चिन्तन में, और उसके बहुत छोटे (लाखवें) भाग—'शताब्दी' तक आधुनिक (पाश्चात्य) चिन्तन में। (Human genius has invented the concept of time. किन्तु काल-माप से 'जीवन को नापने चलें तो जीवन का ऐसा भी आयाम है जहाँ यह नाप अक्षम हो जाता है, काम नहीं देता। तब उसे 'अकाल' 'कालातीत' कहना पड़ता है।

दूसरा नाप बनाया गया शब्द (संज्ञा, नाम) को। जो 'है' उसे कुछ संज्ञा दी। पर वे भी तत्त्व को पूरा-पूरा कह नहीं पायीं। व्यक्त पदार्थों को अलग-अलग दिखाने की सुविधा अवश्य शब्द या वाणी के द्वारा मनुष्य ने बना ली। लेकिन जीवन की समग्र-अखण्ड-एकता-एकरस-सत्ता तक शब्द पहुँच नहीं पाता। जहाँ पृथक्करण (The process of analysis dis-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

torts the wholeness) वहाँ शब्द कैसे पहुँचेंगे ? इसलिये कहना पड़ता है कि वह अनन्त है, वहाँ शब्द नहीं पहुँचता। मन से चिन्तन-मनन करने चलें तो वह भी शब्दात्मक होता है अतः नहीं पहुँच पाता वहाँ। इसलिये ज्ञानराय ने कहा 'मनन जाहलें हिम्पुटें' चिन्तन वहाँ शरमा गया, चिन्तनसहित मन लौट आया।....तो जहाँ कोई भी माप-तौल-शब्द-मनन आदि नहीं पहुँचते ऐसा जो अज्ञेय-अमेय-अवर्णनीय तत्त्व है, सदा सर्वदा बनी रहने वाली जो जीवन की सत्ता है, नये-नये उन्मेष विकसित एवं प्रकट करने की जो शक्ति है, उसे अनन्तता कहा है। इस अनन्तता में आपके शुभ व अशुभ प्रकाश और अन्धकार, जन्म-मरण, दोनों आते हैं, हमें अनन्त का स्वीकार नहीं क्योंकि मरण को हम अशुभ, अभद्र, अमंगल मानते हैं, रोते हैं, और जन्म हुआ तो हँसते हैं। हम चाहते हैं कि हम जो पसन्द करें वही हो। पर जीवन आपके चलाये नहीं चलता।

प्रश्न—What should we do to know the infinity ? (अनन्तता को जानने के लिए हम क्या करें ?)

उत्तर—भाई, अनन्तता को जाना नहीं जा सकता। उसको अनुभव में नहीं लाया जा सकता (cannot be experienced) यही हमारी कठिनाई है। सीमित-मर्यादित (finite) की सीमा-मर्यादाओं को पहचानिये ! (Recognize them ! See them ! Perceive them ! मर्यादाओं को देखने-पहचानने के वाद, उनके परिचय के बाद, उस मर्यादा के किनारे खड़े होने पर आपको असीम का स्पर्श होता है या नहीं ? क्या आप अपनी माँ का प्यार नाप सकते हैं ? प्यार क्या नापा जा सकता है ? जीवन की अनन्तता को स्पर्श का अहसास कभी तो आता होगा !....ऋजुता-सरलता कैसे नापेंगे आप ? ऋजुता भी अनन्तता की एक अभिव्यक्ति है। अनन्तता की मृदुता, लचीलापन, (suppleness, pliability, flexibility) ऋजुता-रूप में प्रकट होती है। इसलिये, मर्यादाओं का भान हो जाय तो अमर्याद-अनन्त का मुग्ध स्पर्श चैतना को हुए बिना नहीं रहता।

उसके लिये कोई क्रिया-प्रक्रिया-पद्धति, युक्ति सम्भव नहीं। लेकिन जाग्रत रहने का तप करना होगा। अनवधान के अन्धकार में पड़े हैं, आदतों के कारागार में कैद हैं तो अनन्त के स्पर्श की कल्पना नहीं हो सकती, पहले अवधान के आलोक में आना होगा। किसी भी प्रकार की आदत का आश्रय लिये बिना, सदा-सर्वदा सावधान प्रस्तुत रहना होगा;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केवल किसी एक या सामने आये चुने-गिने पदार्थों के प्रति सावधान रहने की बात नहीं, विशिष्ट-पदार्थ से निरपेक्ष सार्वत्रिक-सर्वदा जागृति अभिप्रेत है। (Be alert on your toes, attentive not to one or another objeet, but the attentivity unrelated with a particular object.)

प्रश्न—जीवन जीने का अर्थ है सम्बन्धित होना। परन्तु एक सामान्य शान्तिमय जीवन जीते हुए कभी ऐसी घटनायें घटित होती हैं, ऐसी परिस्थिति आती है जिससे वातावरण गरम हो जाता है, कठोर शब्द सुनने पड़ते हैं। हम बाहर से शान्त रहें तो भी भीतर दुःख सुलगता रहता है। दूसरों की भूल है—यह देख-समझ कर चुप रह जायें तो "ये बुद्धू हैं, जरूरत से ज्यादा सीधे हैं या निष्क्रिय हैं"—ऐसा लोग समझने लगते हैं तब अपना और अधिक अपमान और धोखा दिया जाना होने की शक्यता (सम्भावना) रहती है। इसी तरह दुःख-नैराश्य जैसी उद्वेग लाने वाली भावनायें, केवल उनकी ओर देखते रहने भर से नष्ट या समाप्त नहीं हो जातीं, वल्कि उल्टे अधिक फूलती हैं। ऐसी त्रासदायिनी भावनाओं पर से पारम्परिक उलटफेर होते हैं, किन्तु ऐसी परिस्थितियों में जीवन से सम्बन्धित रहने का उत्तम उपाय क्या है ?

उत्तर—भाई, वातावरण ही गरम होता है या आप स्वयं भी गरम हो उठते हैं ? फिर, गरम होने का कारण क्या होता है ? प्रश्न में अध्याहार है कि आपके आसपास अन्य व्यक्ति भी हैं। दूसरे लोग कठोर शब्द, अपमानकारक कुछ बोलते या करते हैं इससे वातावरण गरम होता है ? किसी के कठोर-कर्कश शब्दों से वातावरण गरम हुआ ? या उन्हें सुन कर अपने मन में जा उद्वेग उठा, चिढ़ मची, क्रोध आया—उसके कारण गरमी पैदा हुई ? मामला क्या है ? यह तो आशा रखना व्यर्थ है कि सभी सर्वदा मृदु ही व्यवहार करेंगे, कभी कोई कटु या कठोर कुछ न बोलेगा। विविधता, विचित्रता, विलक्षणता जीवन का ऐश्वर्य है। वातावरण क्यों गरम होता है ? किसी ने कुछ कहा, हमें बुरा लगा, अहङ्कार घायल हो गया—यही न ! यदि जो कुछ कहा गया वह ग़लत हो, अनुचित हो, तो अपनी प्रतिक्रिया के द्वारा वातावरण गरम किये बिना, खुद अपने आपमें गरम हुए बिना निर्भयता से, दृढ़ता से कहना चाहिये कि "आप जो कह रहे हैं वह ग़लत है, उचित नहीं है।" लेकिन वह कहने से हम क़तराते हैं, डरते हैं, क्योंकि सबको अपने प्रति खुश रखना चाहते हैं। यदि बुरा लगा हो, अपमान प्रतोत हुआ हो, दिल दुखा हो तो उस व्यक्ति से सीधे कह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीजिये कि "भाई आपने ऐसा कहा इससे मुझे दुःख हुआ, अपमान लगा..." आदि। यदि हमारे समझने में भूल हुई होगी तो वह व्यक्ति स्पष्ट ही कर देगा कि "अरे, मेरा तो ऐसा आशय नहीं था, दुःख देने या अपमान करने का इरादा नहीं था। माफ़ करना।"....इत्यादि। यदि सच ही दुष्टता-कुटिलता होगी तो आप उसे दृढ़ता से कह देंगे कि "तुम्हारा यह कहना-करना ठीक नहीं है।" बहुतों के साथ रहते हुए कुछ काम करना हो तो परस्पर ऐसी प्राञ्जलता और दृढ़ता रखते हुए ही जीवन जिया जा सकेगा। किन्तु यदि मन में दुःख मानकर, भीतर गरम होते रहेंगे तो प्रतिक्रियाओं में वह गरमी व्यक्त होगी। यानी हम भी सन्तुलन खो बैठेंगे! जैसे ग़लत कहना असन्तुलन है, वैसे दुःख से जलना और गरम होकर प्रतिक्रिया में ज़वाब देना भी असन्तुलन ही है।

'ऊपर से शान्त रहना' क्या है? शान्ति में भी क्या 'भीतर-बाहर-ऊपर-अन्दर' होता है? शान्ति तो चित्त की स्थिति है। भीतर अशान्ति हो, क्षोभ हो ओर बाहर शान्ति का मुखौटा पहने रहें—तो वह पाखण्ड ही होगा न! ऐसे ढोंग से अपना नुकसान होता है। भीतर-भीतर यदि दुःख से सुलगते रहें तो नाड़ीतन्त्र में कितना तनाव-दबाव होगा? शरीर की उष्णता बढ़ेगी, आँखों पर, मस्तक पर, पेट पर, हृदय, यकृत (जिगर), आमाशय, आँतें, गुर्दे—सभी पर उस गर्मी का खराब असर पड़ेगा। कहने-सुनने वाले अन्य सभी से अधिक नुकसान आपका अपना होगा। इसलिये भीतर 'धुखते' रहने की बजाय सीधे प्राञ्जलता से, निर्भयता से कह दें उस व्यक्ति को। यदि भूल आपकी होगी तो वह मालूम पड़ जायेगी, उस व्यक्ति की भूल होगी तो उसे बता कर आप उस दुःख के भार से छूट सकते हैं। भूल अपनी हो या दूसरों की, उसे टालें नहीं, सामना करें। टालना तो पलायन होगा।

यदि हम अति-संवेदनशील (hipersensitive) हों और व्यर्थ ही अपने मन में उठे हुए संशयों को महत्त्व देते हों, प्रत्येक के व्यवहार को सन्देह-संशय की दृष्टि से देखते हों, सब में दुष्ट हेतु और कुटिलता की कल्पना करते हों तो दोष हमारा है। दूसरों के मन में भी न हों ऐसे हेतु व आशय की हम कल्पना कर लेते हैं। ऐसी सम्भावना है, इसलिये भी अच्छा है कि किसी का व्यवहार बुरा लगने पर खुल कर उससे बात कर लें। यदि वह व्यक्ति इस पर अधिक नाराज़ हो, दुगनी कठोरता से बोले तो उसे सहन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करने की, झेल लेने की और पचा जाने की शक्ति हम में होनी चाहिये। मन में कुढ़ना नहीं चाहिये। अपना दिल खोल कर सामने रख दें, उसका जो परिणाम आये उसे भी वैसे ही खुले दिल से स्वीकार करें।

आप कहते हैं कि यदि दूसरों की भूलें बर्दाश्त करते रहें, खुद बराबरी से प्रत्युत्तर न दें तो और अधिक अपमान, धोखा होने या डरपोक-मूर्ख समझे जाने की सम्भावना है। क्या पारिवारिक सास-ससुर-बहू-जेठानी-देवरानी आदि का मामला है? जो भी हो, कोई ग़लतफ़हमी करता हो या हमें मूर्ख-कायर-कमजोर समझता हो, या न हो, किसी भी ग़लती (अपनी या दूसरों की) को टालना नहीं चाहिए। निर्भयता व दृढ़ता से स्पष्ट कह देना चाहिए। 'स्त्रियाँ, बहुएँ, लड़कियाँ प्रतिवाद न करें"— ऐसी रूढ़ि हो तो उसे हटा फेंकनी चाहिए। सब नागरिक हैं अब। पुरुषों के बराबर अधिकार हैं स्त्रियों के भी। विद्यालय-महाविद्यालयों में पढ़ना-पढ़ाना, बैंक, डाकघर, व्यवस्था-कार्यालयों में अधिकारी होना, शासकीय स्थानों में भी पदाधिकारी होना, पुलिस, मिलिटरी में भी कार्य करने में जब स्त्रियाँ समर्थ प्रमाणित हो चुकी हैं, तब पुरानी बन्दिशों की पकड़ छोड़ी जा ही सकती है अन्याय के प्रतिकार एवं स्वमान की रक्षा के लिये।

अब रही बात कि "दुःख, नैराश्य, अकेलापन की दुःखद भावनायें केवल निरीक्षण से मिटती नहीं"। इस निरीक्षण का क्या अर्थ प्रश्नकर्त्ता के मन मं है? आपने देखा कि चित्त में दुःख है। साथ ही आप सोचने लगते हैं कि "मुझे यह दुःख सहना पड़ रहा है। मेरे ही भाग्य में दुःख बदा है।" यह सब सोचते हुए यदि आप दुःख के निरीक्षण में से आत्मदया में उतर जाते है तो फिर वह 'देखना' नहीं रहा। 'देखने' में मूल्यांकन नहीं होता, प्रतिक्रिया नहीं होती। 'मौन' के लिये अपेक्षित है प्रतिक्रिया मुक्त निरीक्षण या देखना (reactionfree perception) यह घटित होना चाहिए। जो दुःख सामने आया उसे 'टालना' उससे 'भाग जाना', उसे दबा देना, उसे जीत लेना, उसे नष्ट कर देना'—ऐसी वृत्ति न रखें। प्राप्त परिस्थिति यानी जीवनाभिव्यक्ति के सम्मुख 'योद्धा' बन कर नहीं जाना है। आखिर तो सुख-दुःख ये संवेदन हैं, अनुकूल और प्रतिकूल संवेदन। जब तक आयु है, शरीर-मन-बुद्धि आत्मा का संयोग है तब तक अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन आते ही रहेंगे। किन्तु दुःख अप्रिय वस्तु है, अशुभ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है—अमंगल है, अभद्र है, उसे टालना या दूर हटा देना चाहिये, उससे बचे रहना चाहिए'' ऐसी मान्यता मनुष्य के मन ने बना रखी है।

प्रतिकूल संवेदनों को टालना शरीर-स्तर पर तो प्रायः सम्भव ही नहीं, शरीर को कष्ट होता है, शरीर की संरचना के अन्तर्गत सप्तधातु-त्रिधातु के अनुपात के अनुसार प्रत्येक शरीर की कुछ प्रकृति बनी होती है जिसको कोई आहार-विहार अनुकूल होता है, कोई प्रतिकूल। परन्तु इन संवेदनों में से अनुकूल को 'प्रिय' बना कर, वह बारम्बार मिले—ऐसा चाहना उसके लिए युक्तियाँ निकालना, प्रयत्न करना, और प्रतिकूल को 'अप्रिय' मान कर उससे अलग रहने-बचने की वृत्ति और भय मनुष्य ने उपजा लिए हैं। सुख के पुनरावर्तन की इच्छा और उसके लिए उपाय खोजते रहना और दुःख से भय, इसी में से आपत्तियाँ पैदा होती हैं।

ये प्रियता-अप्रियता हटा कर सुख-दुःख की ओर देखें तो !

मान लीजिए घर में, कुटुम्ब में किसी की अचानक अकाल अपमृत्यु हो गयी है। इससे एक दम भारी आघात शरीर-मन को लगना स्वाभाविक है। पूरे नाड़ीतन्त्र एवं रसायन-संरचना (neurochemical system) को धक्का लगा है। उसे शान्त होने में कुछ समय लगेगा ही। उस घटना और धक्के को यदि दुःख कहते हों तो उसे टालना सम्भव नहीं है, मनुष्य के वश की बात नहीं है। ऐसे अकल्पित, अनपेक्षित आकस्मिक धक्कों को तो सहन करना ही पड़ता है। लेकिन उसकी प्रक्रिया में मन और उपद्रव करने लगता है उस घटना को 'अहं' से जोड़ कर, कि—''मेरे साथ यह क्यो हुआ ? मैं इतनी पूजा-पाठ-'भक्ति' करता हूँ, भगवान् को इतना मानता हूँ, इतना दान-धर्म-परोपकार करता हूँ, तो मेरे परिवार में, मेरे प्रिय व्यक्तियों की अपमृत्यु क्यो हुई ? मुझे क्यों दुःख सहना पड़ा ?'' याने वियोग की घटना को, उससे उठीं वेदना को, घायल होने रूपो मानसिक दुःख में बदल देते हैं। You are creating suffering out of the pain of separation।

वियोग हुआ, उससे दुःख हुआ, यहाँ तक स्वाभाविक है; लेकिन मनुष्य आगे चलता है, उस दुःख को अप्रिय, मरण को अशुभ मानने के कारण उस दुःख को मानसिक स्तर पर लाकर लम्बा करता रहता है, बनाये-बढ़ाये रखता है। Pain has no continuity except on the physical level, suffering is the continuity of the pain on psychlogical

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

level. मन के स्तर पर दुःख का सातत्य हम बनाते हैं। अधिकतर दुःख मनोनिर्मित होते हैं, मन ही उन्हें गति देता है, दुःख को पालता है मन। दुःख को भी 'मेरा' बना कर बारम्बार उसे 'पलोसने' (हाथ फेर-फेर कर पोसने) में—पड़ोसी-मित्र-सगे-सम्बन्धी लोगों के पास उसी का राग अलापने में एक प्रकार की तुष्टि पाता है अहंकार कि "मुझे ऐसा-ऐसा दुःख आया, मुझे यह सहना पड़ा....." इत्यादि। इसीलिए मैं कहती हूँ कि जिस समय दुःख हुआ उस समय उन्हीं क्षणों में उस दुःख को पूरी तरह जी लीजिए, दबाइए नहीं, दुःख को टालने या अनदेखा करके "बड़े समझदार, गम्भीर, ज्ञानी" होने का ढोंग न कीजिए, साथ ही उस दुःख पर प्रियता-अप्रियता न लादिये। दुःख के क्षण में दुःख को जी लें, फिर उस दुःख की स्मृति को केवल देखें, उसके साथ 'मेरापन' जोड़ कर और बारम्बार उसकी चर्चा उठा कर दुःख की स्मृति या अनुभूति को खाद-पानी देते न रहें। किसी भी प्रतिक्रिया के बिना दुःख को देखें, उसे ढकने का या उससे भागने का प्रयत्न न करें, To be with the fact.—जो घटना या तथ्य घटित है उसके साथ रहें। यह बहुत बड़ी बात है।

निराशा-हताशा भी मन की ही उपज है, क्योंकि घटना के साथ पहले से जोड़ दी गयी अपेक्षायें, यश-अपयश की अपनी मान्यतायें, कसौटियाँ सामने आये प्रसंग पर लागू करके ही हम मूल्यांकन करते हैं और हताशा-निराशा या हर्ष उत्पन्न करते हैं। ये सब मन की प्रतिक्रियायें हैं। केवल सुख-दुःख अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन-मात्र रूप में शारीरिक स्तर में स्वाभाविक है। शरीर को कष्ट या आराम मिलता है उसी को दुःखसुख कह दिया जाता है। मेरी दृष्टि से, अनुकूल-प्रतिकूल संवेदनों के प्रति प्रियता-अप्रियता लादने का धन्धा छूट जाना चाहिए। उसमें से आत्मदया उपजाये बिना प्रतिक्रिया-मुक्त रीति से घटनाओं की ओर देखना आना चाहिए। यह जो यथार्थ देखने का पराक्रम है इससे, नैराश्य या दुःख उपजाने वाली वृत्ति का स्वरूप कैसा बदलता है, उसकी पकड़ चित्त पर से कैसे हटती जाती है यह देखना जीवन का एक अद्भुत पर्व है। यथार्थ देखने का अभ्यास न हो तो, नैराश्य आदि उपजाने वाली प्रतिक्रिया और भी धक्का देती हैं कि मनुष्य की अपने बारे में बनायी हुई प्रतिमायें ढहने लगती हैं—'मैं इतना धीर-गम्भीर व्यक्ति हूँ मुझमें यह प्रतिक्रिया क्यों उठी? हताशा-कुण्ठा-निराशा क्यों आयी?—इसलिये अवलोकन का कर्म

Dr. Urmila Sharma Collection, Varänasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशुद्ध नहीं रहता। (pure perception, bare Cognition, a flame of attentiveness free of all comparison and evaluation).

(किसी भी प्रकार के मूल्यांकनों और तुलनाओं से मुक्त विशुद्ध केवल यथार्थ प्रत्यक्षीकरण, अवधान की प्रज्ज्वलित शिखा) एक अलग ही वस्तु है। उसे भूतकाल का स्पर्श नहीं होता, नजर भविष्य में अटकी नहीं होती केवल वर्तमान में समग्रता से रहते हुए जो सामने है उसे समग्रता से देखना, विशुद्ध द्रष्ट्त्व एक भारी अभिक्रम है। यह साक्षित्व नहीं है। साक्षित्व भी एक भाव है। द्रष्ट्त्व में शरीर-मन-बुद्धि की सब शक्तियाँ केन्द्रित होती हैं। द्रष्टृत्व की गति और उत्कटता आपके देखने पर और वस्तु पर भी असर करती है। वस्तु को क्रोध से देखें तो उस पर एक प्रकार का असर होता है, प्रेम से देखें तो दूसरा असर होता है। पेड़-पौधों पर, खेती पर, घर में उगाये हुए फूल-पत्ती के गमलों पर ये दृष्टि और स्वर के परिणाम देखे गये हैं। The act of perception has a tremendous explosive power and potential.

"ऐसी (दुःख-निराशा आदि की) परिस्थिति में सबसे सम्बन्धित रहने का उत्तम उपाय क्या है ?"—पूछा गया है। किससे सम्बन्धित रहना ? दुःख निराशा उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों के साथ ? यदि कठोर बोलना दुःख देना उस व्यवित की आदत है यह जान लें तो उस आदत से होनें वाले दुःखद व्यवहार की ओर ध्यान न दें, उपेक्षा रखें। यदि उससे अधिक कोई बात है कि उस व्यक्ति में मानसिक विकृति है, या जान-बूझ कर वक्रता-कुटिलता का वर्ताव करता है, और उसके कार्य-कलाप से आपका भी मानसिक सन्तुलन प्रभावित होता है, आपकी सहनक्षमता से बाहर होता है उसे सम्हालना, तो फिर उससे सम्बन्धित रहने में कोई अर्थ नहीं है। उस व्यक्ति या व्यक्तियो को हाथ जोड़ कर कह देना चाहिए कि आपका व्यवहार मुझे सहन नहीं होता, और हो सके तो उस परिस्थिति में से बाहर निकल कर स्वतन्त्र रीति से जीना चाहिये, या तो उस कठोर-भाषा, वक्रता, कुटिलता-अड़बंग-अक्खड़पन को उन व्यक्तियों की आदत समझ कर उस व्यवहार की उपेक्षा करते हुए अपनी दृष्टि के अनुसार आवश्यक कर्म करते रहना चाहिये। Ignore the out person and do the needful. हँसते-हँसते अपना काम किये जायें, दूसरे उसकी परवाह भले न करें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और एक बात, जिस व्यक्ति के साथ हम रहते हैं, उसकी कठोरता, वक्रता, निष्ठुरता आदि सब कुछ के बावजूद यदि हमें उससे प्रेम हो तो ? व्यवहार का, अपेक्षायुक्त, ऊपरी स्तर का प्रेम नहीं, सच्चा प्रेम हो, जिसमें किसी भी प्रकार कोई अपेक्षा नहीं होती, जो स्वयं को लुटा देने में कृतार्थ होता है, वह प्रेम हो तो फिर दूसरे व्यक्ति द्वारा की जाने वाली कठोरता-मान-अपमान-कुटिलता आदि कुछ भी उस प्रेम को प्रभावित नहीं करता, चित्त पर असर नहीं होता. आत्मदया नहीं आती, अवसाद नहीं आता।

प्रश्न—I have some confusion about mind and self, and their relationship.

'Self' means 'soul', 'cosmic' energy', 'Truth', 'Real I', 'Virāt' form of Lord Krishna ?

Please explain the following :

Is self the God ? or Is God the self ?

Is self-realization the God-realization ? or viseversa.

Is self in the centre of everything or mind is the root of everything ?

Is it true that after self realization or God-realization all other kinds of knowledge becomev useless or less-important ?

Is the self dependent of Self ? or self dependent of mind ?

Which is first, which is next ?

Is the mind more intelligent, more powerful, more important than the Self ? Is the mind only door of the Self ?

Like Kabeer, he gives first importance to Guru then to Govind ! Is Govind mind or self is Govind ?

After only purifying the mind, self can be realised ? or any other method without the mind ?

Please explain one of the verified modern fastest, shortest mini ways towards the journey of self which would be suitable to me ! At present time, there are thousands of problems of time, health, money, distance etc.

[प्रश्न का अधिकांश अंग्रेजी भाषा से सम्बद्ध होने के कारण अनुवाद नहीं दिया जा रहा है। विषय उत्तर में ही स्पष्ट है।]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तर—मैंने कहा था कि भाषाओं का जन्म संस्कृति में से होता है, अंग्रेजी भाषा का अपना व्यक्तित्व है, एक भिन्न संस्कृति में से उसका उदय है। यहाँ की अध्यात्म की जो परिभाषायें व शब्दावली (terminology) है इस संस्कृतजन्य एवं लोकभाषाजन्य भारतीय-भाषाओं की शब्दावली का व्यक्तित्व अलग है। Mind और Self ये जो शब्द आप ले रहे हैं पश्चिमी मनोविज्ञान से, उनको भारतीय उपासना-शास्त्र के साथ मत जोड़ियेगा। उसका पर्याय वहाँ खोजने की कोशिश नहीं कीजियेगा। भारतीय भाषाओं में जो आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर-साक्षात्कार कहा है, उसको अंग्रेजी में Self-Realization के साथ नहीं जोड़ियेगा। केवल पारिभाषिक शब्द ही अलग नहीं हैं, उनकी बैठक, भूमिका, अधिष्ठान—सभी कुछ अलग है।

आपने 'self', 'soul', 'mind', 'me' शब्दों का उपयोग किया है जो पाश्चात्त्य मनोविज्ञान के हैं। वह मनोविज्ञान आज संसार में इस पड़ाव पर खड़ा है कि individual mind जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। जिसे self कहते हो, उसे आज मनोविज्ञान केवल psychological myth (मानसिक कल्पित रहस्य) मान रहा है। Individual mind, Individual 'I' कुछ है ही नहीं। जिसे उन्होंने mind कहा वह—सैकड़ों वर्षों के मानवजाति के संस्कारों का ढला हुआ पुञ्ज है—an emulgamation of conditioning of centuries. सैंकड़ों शतकों के संस्कारों का पुञ्जीभूत राशि ही शरीर बना है, उसी में समाया हुआ है मन। मन शरीर के किसी एक अङ्ग या अवयव-विशेष में नहीं रहता। आपके पूरे के पूरे नाड़ीतन्त्र एवं रसायन-तन्त्र (neurochemical system) में जो संस्कार भरे पड़े हैं, उनके खुलकर सामने आते रहने (play back) को ही आप मन का चलना कहते हैं।

मानवजाति ने सामाजिक चेतना के विकास के लिये भाषा बनायी। भाषा में पदार्थों-व्यक्तियों को पहचान-रूप नामकरण बनाये। अलग-अलग पदार्थों एवं व्यक्तियों के साथ व्यवहार करने के लिये नाम दिये गये। लेकिन उन शरीरों में जो चेतना है, जीवन है, प्रज्ञा (intelligence) है, शक्ति (energy) या ऊर्जा है, सत्ता, वस्तुता (existence) है, वह तो अनाम (unnamable) है, उसको नाम कैसे दीजियेगा ? वह तो नर-नारी नहीं है, लेकिन उस शरीर के अन्दर कोई व्यक्तिगत मन है, पृथक्-पृथक् प्राणी है, ऐसा मान लिया गया। The transference of the biophysi-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

cal phenomenon of naming and indentifying indefinable to the psychological realm and imagining that there is an entity within your skin, the 'me' the 'self'—is a very big, a huge misnomer, it is a myth, which is getting exploded. There is a global human mind.

मानवीय चेतना एक है पर मानवीय संस्कारों के अलग-अलग डिज़ाइन हैं—अलग-अलग वंशों (species) में, अलग-अलग जमातों या कौमों में, अलग-अलग देशों में। इन अलग-अलग संस्कार-राशियों या प्रकारों को नाम दिये गये हिन्दू-जैन-बौद्ध-सिख-मुस्लिम-ईसाई आदि, पर उन नामों के साथ 'mind' शब्द जोड़ देने (Hindu mind, Muslim mind etc.) से भ्रम पैदा हो गया कि ये वस्तुतः अलग हैं। मन की जो गति (mental movement) है विचारों-विकारों-आवेगों-संवेगों-भावनाओं के रूप में—यह भीतर पड़े हुए संस्कारों की ही प्रतिक्रिया है। The conditionings reacting to the challenges in the present problems.

आप क्यों चिन्ता व कोशिश कर रहे हैं इन 'I', 'self', 'soul' 'mind' इत्यादि का अर्थ लगा कर फिर 'God' से उनका सम्बन्ध बैठाने की, यह कोशिश ही व्यर्थ है। प्रचलित भाषा में God याने ईश्वर। वह तत्त्व-स्वरूप है—जो सर्वत्र सबका व्यापक है सबमें व्याप्त है।

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।"

जगत् में जो कुछ भी विद्यमान है वह सब कुछ ईश का आवास है ईश्वर द्वारा आवासित है।

उन्हीं का व्यावहारिक प्रतिनिधि रूप बना लिया आपने विग्रह को। फिर आपकी सभी श्रेष्ठता-भावनाओं का उनमें अध्यास कर लिया—वे परम सुन्दर हैं, वे सबके मालिक, कर्ता-धर्ता-प्रतिहर्ता हैं, वे ही सबको उत्पन्न करते हैं, प्रतिपालन करते हैं, फिर वे ही संहार भी करते हैं.... इत्यादि। जितनी क्रियायें मानव जीवन में चलती हैं उन सबका अध्यास विग्रह पर हम करते हैं। फिर उनके साथ एक भाव-सम्बन्ध स्थापित करते हैं, भावजगत् और भावकाया का निर्माण एवं विकास करते हैं। इस प्रकार भक्तियोग के लिये भाव का अधिष्ठान अपने चित्त में हम विकसित करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

God शब्द का अर्थ ईश्वर के साथ आपने क्यों जोड़ा भाई ? उसका कोई सम्बन्ध नहीं। एक कठिनाई यह भी है कि अपने शास्त्रग्रन्थों का, वेद-उपनिषदों का जो अनुवाद अंग्रेजी भाषा में या जर्मन, फ्रेञ्च आदि में हुआ है वह यथार्थ नहीं है। वह अनेक जगहों में ग़लतफ़हमियाँ पैदा करता है। यहाँ (भारत की भाषा में) ईश्वर-साक्षात्कार का अर्थ है—जिस नाम का, जिस रूप का आप निदिध्यास करते हैं उसे प्रत्यक्ष देखना। उपासना के लिये जो मूर्त्तियाँ बनाई जाती हैं, उनका भी एक शास्त्र बना है। शिल्प शास्त्र-मूर्त्तिकलाशास्त्र और वास्तुशास्त्र की प्राचीन पोथियाँ पाण्डुलिपियों नेपाल, बङ्गाल, उड़ीसा व दक्षिण भारत में हैं। 'देवता' की संज्ञा के अनुसार, उनके शास्त्रोक्त रूपवर्णन के अनुसार अव्यङ्ग प्रतिमायें बनाई जाती थीं। उपासना-पूजा के साथ ही विशुद्ध सौन्दर्य-उपासना सप्रमाणता की आराधना भी होती थी। वह सौन्दर्य एवं सप्रमाणता साधक के जीवन में भी आराधित हो यह सङ्केत अन्तर्निहित था।

(आचार्य क्षितिमोहन सेन और दुर्गाशङ्कर भट्टाचार्य के साथ बचपन में निकट सम्बन्ध रहा। शान्तिनिकेतन में बैठ कर—मूर्त्तिकला का स्रोत क्या है ? कैसे किस विधान से देवमूर्त्तियाँ बनाई जाती हैं—इसका कुछ अध्ययन करने का मौका मिला था।)

उपनिषदों ने कहा—''आत्मा वा अरे श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः''। उस निदिध्यास के कारण, आप पूजाघर में न बैठे हों, तो भी आपकी आँखों में वह रूप समा जाता है। इससे आगे बढ़ते हैं तो आप विचार के सघन रूप में उतरने (materialization of thought) तक पहुँच सकते हैं। तब वही रूप अपने सामने भी भासित (as if projected) होता है। प्रायः तब उपासक मान लेता है कि मुझे अमुक देवता का साक्षात्कार हुआ। भक्तियोग में ऐसी स्थिति तक पहुंचा जाता है; लेकिन इस बारे में बात करना बड़ा खतरनाक है क्योंकि आत्मछलना की क्षमता मनुष्य में इतनी बड़ी है कि इन बातों के वैज्ञानिक पहलू पर बात करना भी उचित नहीं जान पड़ता। (The capacity of self-deception is so great that it is very dangerous to talk about even the scient'fic aspect of these things.

पर वह शास्त्र एवं सम्भावना है अवश्य। उसी सन्दर्भ में ईश्वर-साक्षात्कार का अर्थ है कि जिस सगुण रूप का आपने निदिध्यास किया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह आपको सामने प्रत्यक्ष दीखने लगे स्पन्दित हो एवं आप से प्रकट बोलना व व्यवहार भी करने लगे। Self-Realisation (आत्मसाक्षात्कार) का अर्थ है—आपके एवं सबके भीतर जो एक अखण्ड चैतन्य सत्ता है, या प्रज्ञा रूपी जगदम्बा है, उसका स्पर्श ध्यानावस्था में, चेतना को होता है। आत्मा ईश्वर का तत्त्वरूप है। परमात्मा कहें तो वह उसका सर्वात्मक रूप है। अध्यात्म बहुत सरल है, आपके संसार-जितना जटिल वह नहीं है। उसकी सरलता से ही हम घबरा जाते हैं। "Is it so simple !" The simplicity baffles the complicated mind of the educated people.

आत्मसाक्षात्कार-यानी-आपने शरीर की स्वैच्छिक गतियों को विसर्जित कर दिया, वाणी को किनारे रख दिया, विचारों विकारों—सभी को किनारे छोड़ते चले गये। डेरा लगाया मौन में, जहाँ देखने वाला, करने वाला, कुछ पाने वाला कोई नहीं है। चेतना के गर्भ-मन्दिर में, केन्द्र में पहुंचे हैं। वहाँ "सत्ता-मात्रता" का स्पर्श होता है। उसके स्पर्श से भीगी-आपकी चेतना शरीर में काम करने लगती है।—इसे ही आत्मसाक्षात्कार कहेंगे। आत्मा की सत्ता को, Supreme Intelligence को चर्म चक्षु से तो नहीं देखा जाता ! तत्त्व को, सत्ता को एक हद तक बुद्धि चक्षु से देखा जाता है, उसको संवेदनशीलता की आँख से देखा जाता है। बड़ी कोमल होती है संवेदनशीलता।

आदिशङ्कराचार्य ने भी अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में कहा—"न एकान्तेन अविषयः" किसी भी प्रकार से वह ज्ञान का विषय न बनता हो ऐसा नहीं। एक हद तक बुद्धि ले जाती है, जितने आवरण एवं प्रत्यवाय हैं उन्हें हटाती हैं; पर तत्त्व के सत्त्व की प्रतीति के लिये प्रखर तीक्ष्ण बुद्धि के साथ अतीव कोमल संवेदनशील हृदय चाहिये, जो शब्द के आशय, अर्थ एवं रस को ग्रहण कर सके, धारण कर सके।

प्रश्न—वासना से सुख कम और दुःख ज्यादा मिलता है, यह मेरा अनुभव है। किन्तु, बार-बार निश्चय करने पर भी, न चाहते हुए भी वासना में उतरना क्यों हो जाना है ? उससे कैसे बचा जाय ?

उत्तर—दुःख का स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं मित्रो। सुख की छाया में दुःख पलता है। सुख के पुनरावर्तन की लालसा में दुःख का प्रारम्भ है—यह तथ्य देखा जाय। देखने और समझने पर भी वासना पिण्ड नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छोड़ती है, तो फिर उस (वासना में उतरने के कारण होने वाले) दुःख में जागृत रहिये। सुख और दुःख में जाग्रत् रहने वाला व्यक्ति वासना से आसानी से मुक्त हो जाता है। दुःख में जागृत रहिये कि यह दुःख मैंने अपने ऊपर लादा है। सुख के पुनरावर्तन की चाह के कारण मैंने दुःख को निमन्त्रण भेज कर बुलाया है। यह self-inficted, self-imposed pain है, इतनी जागृति रहे, और उसकी वेदना हो। वासनाओं के उपभोग से वासनायें शान्त नहीं होतीं—यह तो अनुभूत सत्य-तथ्यों पर आधारित सूत्र है। यह समझने व जागृत रहने पर भी वासना छूटती नहीं है तो उस दुःख को-वेदना को आप आँख भर के देखिये। तब सुख-दुःख के झूले पर झलते रहने का जो झंझट चलता रहता है उसके प्रति अरुचि होगी।

दुःख में जागृत रहने का अर्थ दुःख की वेदना को ढकना नहीं कि "यह मनुष्य-स्वभाव है; यह साधु-संन्यासी-सन्त तो हैं नहीं; आम मनुष्यों का जीवन तो ऐसे ही चलता है।"—इस तरह आप उसका समर्थन मत कीजिये, बचाव मत कीजिये। वेदना का काँटा हृदय में चुभने दीजिये। आँसू बहें तो बहने दीजिये। वह जागृति और वेदना समझ में एक उत्कटता का आयाम पैदा करेगी। The pain and agony caused by the weaknesses which make you a prey of every temptation, that is the liberator.

वह वेदना ही मुक्तिदायिनी बनेगी, क्योंकि वह एक उत्कटता पैदा करेगी। आज समझने पर भी जो नहीं होता है वह तब होने लगेगा, यानी समझ काम करने लगेगी। अतः वेदना के साथ लड़ियेगा नहीं। तथागत ने यही समझाया न!

"सर्वम् अनित्यम्" "सर्वं क्षणिकं" "सर्वं दुःखम्"

यही समझाने के लिए अन्य रूप में आदि शङ्कराचार्य ने कहा—

"ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः"

उपनिषदों में कहा गया—

"अहं ब्रह्मास्मि" "तत् त्वमसि" "सर्वं खलु इदं ब्रह्म।"

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः! कस्य स्विद् धनम्॥"

अद्वैत-वेदान्त ने घोष किया कि यह जो 'जगत्'—सतत चलने वाला,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गतिशील, नित्य परिवर्तनशील, गतियों से बना हुआ, गतिमय रहने वाला है, यह इन नाम-रूप के नानात्व में अनित्य है। गुणात्मक गति है तो गुणान्तर होता है, रूपात्मक गति है तो रूपान्तर होता है, आकारान्तर प्रकारान्तर होता ही चला जाता है। यहाँ बदलाव ही बदलाव है, ठहराव है नहीं। अपने शरीर का देखो तो यहाँ भी बदलाव है, ठहराव है नहीं। कल शिशु थे, फिर कुमार बने, किशोर बने, तरुण-युवा बने, प्रौढ़ हुए, वृद्ध हो गये—चलता ही रहता है। इन्द्रियों की भूख का स्वरूप बदलता है, रुचियाँ बदलती हैं। इतने सारे बदलाव में ठहराव को खोजना कितनी बड़ी नादानी है ?

मुझे लगता है कि यह अनवरत गुणात्मक गतिशीलता ही हमें पाठ पढ़ाती है अनासक्ति का। जो बदलता रहता है उसके साथ जो क्षण-भर का सम्बन्ध आया उस सम्बन्ध को प्यार से जी लें, क्योंकि वह पल फिर नहीं आयेगा। वह इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध फिर नहीं आयेगा। सब शक्तियाँ-अभिव्यक्तियाँ और रुचियाँ बदल जायेंगी। अनासक्ति का पाठ तो यह संसार का मिथ्यात्व पढ़ाता है। अनासक्ति सीखने के लिये कहीं दूर जाने या वेदान्त पढ़ने की आवश्यकता नहीं। जीवन ही सिखाता है। इस-लिये मैं कहती हूँ कि दुःख को तत्त्वज्ञान से, समर्थनों से, बचाव से ढकियेगा नहीं। आँख खुली रख कर दुःख में से गुज़रिये। जाग्रत् रहते हुए दुःख सहिये; उसकी वेदना ही उत्कटता पैदा करेगी। जो समझ अभी कमज़ोर है, अपुष्ट, फीकी है (weak, frail understanding) उसे यह उत्कटता पुष्ट-सबल-समर्थ-सुदृढ़ बनायेगी।

आप पूछते हैं वासना से कैसे बचा जाय ? भाई ! जीवन से बचा नहीं जाता। जीवन जिया जाता है। So be with the fact ! And live the fact. If it is painful, live the pain. Any effort agony or attempt to move away from the fact or pain will take you or move you away from the life itself.

जो सामने है उसे जियो ! जो तथ्य प्रस्तुत है उसके साथ रहो ! अगर वह दुःखद है तो उस दुःख को ही जियो। दुःख-दर्द-व्यथा से बचने या हटने का कोई भी प्रयत्न आपको जिन्दगी से ही दूर हटा देगा। जीवन से हट कर उपाय करना—यह कोई अध्यात्म नहीं। जो जीवन-विमुख बनावे वह अध्यात्म नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—भीतर का ब्रह्मनाद सुनने के लिये क्या कोई साधना करनी आवश्यक है ? या वह सहज हो जाता है ? 'ब्रह्मनाद' की व्याख्या करें।

उत्तर—शायद भ्रम है कि मैं व्याख्याता हूँ।....'ब्रह्म' की व्याख्या यदि कुछ कही गयी तो यही कि "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति" अपनी सत्ता को नये-नये रूप में प्रकट करने की शक्ति। पिछले साल की बारिश और इस साल की बारिश एक नहीं है। वह पुनरावृत्ति भी नहीं। रोज सुबह सूर्योदय देखा जाता है, लेकिन सूर्य की ताज़गी बासी नहीं पड़ती।

'ब्रह्मनाद' से शायद आपका अभिप्राय है वह अनाहत नाद जो सतत भीतर चलता ही है—sound without friction., Homogenous sound which is the first manifestation of life. जिसमें कोई घर्षण नहीं या जो घर्षण में से उत्पन्न नहीं, जो जीवन (सृष्टि) की प्रथम अभिव्यक्ति है। जिसे भारतीय-चिन्तन में 'ॐ' प्रणव कहा गया। सारे विश्व में उसका गुंजन रहता ही है। स्वर और ध्वनि से सूक्ष्म है वह नाद। It is a living homogenous self-generated sound, not man-made or born out of friction. It is an expression of the wholeness of life.

वह जो भीतर नाद चलता रहता है, उसका स्पर्श पाने की, उसे सुनने की इच्छा हो तो, जितने आहत नाद हैं उनसे घड़ी भर के लिये अलग होना पड़ेगा न! ताकि श्रुति को देखना सम्भव हो—The perception of the auditory nerves.

उसके लिये, जितने आहत नाद हैं बाहर, और जो हम उत्पन्न करते हैं उनसे अलग हटना पड़ेगा। शरीर में जड़ता, बधिरता (inertia, passivity, lethargy, heaviness) आलस्य, भारीपन, शिथिलता, निष्क्रिय रहने की वृत्ति है उसे हटाना पड़ेगा; क्योंकि यह शरीर ही तो हमारा करण-उपकरण-साधन है। इसी में स्थित इन्द्रिय (श्रोत्र) से सुना जायेगा न! अन्दर की जो चैतन्य सत्ता है वह शरीर के माध्यम से ही गतिशील है। (The Supreme Intelligence operating in the cosmos and hence you are in a body) अतः यह शरीर नाम का जो एकमात्र साधन अपने पास है यह कहीं भी बधिर न रहे, संवेदनशीलता से तरोताज़ा रहे—Vibrating with elasticity and suppleness of sensitivity, every drop of blood tingles with that sensitivity. खून का हर क़तरा संवेदनशील हो और बाहरी आहत नादों से हट कर बैठें, तो अन्दर तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह अनाहत चैतन्य-नाद है ही है। वह 'है' इसलिये सुनाई देगा। हम उसे पैदा नहीं करते हैं, और सुनने के लिये कोई मानसिक-बौद्धिक प्रयास नहीं करना पड़ता है। हमारे करने का काम यही है कि अपेक्षित संवेदनशीलता शरीर में स्पन्दित होने दें—Equipping this instrument with required sensitivity. And the first step is the last step·

क्योंकि बाकी अपने आप होता चला जाता है। आँख खुली है, आँख में दृष्टि है, तो देखने का प्रयास नहीं करना पड़ता न ! जो सामने हो वह दिख जाता है। इसे देखने में हमारा कोई स्वैच्छिक या संकल्पकृत प्रयास नहीं है। प्रभु का अनुग्रह है कि आँखों में दृष्टि है। वैसे ही संवेदनशीलता अन्तर्दृष्टि है (The inner sight) उसमें जितने अन्तराय होंगे, उन्हें दूर करें। और अपने आपको समय दें कि भीतरी दृष्टि कार्य करने लगे, उसकी आवाज आपको सुनाई दे।

प्रश्न—Can you say something about Guru-disciple relationship. (क्या आप गुरु-शिष्य-सम्बन्ध के विषय में कुछ कहेंगे ?)

उत्तर—भाषाओं का जन्म संस्कृतिओं में से होता है, और संस्कृति जीवनशैली की समग्रता में से विकसित होती है। 'गुरु' एवं 'शिष्य' शब्द विश्व संस्कृति को भारतीय संस्कृति की एक देन है। दोनों शब्दों का सामान्य अर्थ इतना ही है कि जो सीखने के लिए तत्पर है, शिष्यत्व धारण करके सीखना चाहता है, और सीखने के हेतु से किसी अनुभवी के पास जाता है, वह शिष्य है। और जो अनुभवी सिखाने के लिये तत्पर है, जन-सम्पर्क से जो विमुख नहीं हुआ है, वह गुरु है। लेकिन इस सामान्य या लौकिक अर्थ से आगे बढ़ कर ज़रा गहराई में उतरेंगे तो पता चलेगा कि इस देश में 'अध्यात्म-विद्या विद्यानाम्' प्रभु की विभूति कहलायी। विद्या-शब्द का प्रयोग वहीं किया गया जो अपने स्वरूप को पहचानने की क्षमता देती है। इसलिये गुरु शब्द का अर्थ हुआ वह अनुभवी, जो स्वरूप को पहचानने में आत्मार्थी की मदद कर सकता है। शिष्य शब्द का अर्थ हुआ वह जिज्ञासु जिसकी बुद्धि ने पहचाना है कि स्वरूप-तत्त्व जानने-पहचानने की विद्या ही वास्तव में विद्या है। पदार्थों को जानने-समझने के लिये अविद्या के क्षेत्र में जाना पड़ता है, वह जानकारी उपलब्ध व संगृहीत करने तथा यथासमय उसका विनियोग करके जीवन की आवश्यकतायें पूरी करने का क्षेत्र है। वहाँ 'गुरु-शिष्य'-भाव उत्पन्न नहीं होता; शिक्षक-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिक्षार्थी-सम्बन्ध अवश्य बनता है। वहाँ समग्र जीवन का सम्बन्ध नहीं आता। लेकिन शिष्यत्व का लक्ष्यार्थ यह हुआ कि बुद्धि ने पहचान लिया है कि अध्यात्म के बिना यानी स्वरूप पनचान कर उसी में स्थित होकर जिये बिना जीवन अधूरा है, अपूर्ण है। शिष्य वह है जिसका चित्त उस आत्मविद्या को धारण करने के अनुकूल है।

वहुत बार ऐसा होता है कि बुद्धि की समझ में आता है, लेकिन बुद्धि की समझ धारण करने के अनुकूल चित्त नहीं होता। विज्ञान कहे, अध्यात्म कहे ये जो व्यक्त सृष्टि में पदार्थ दिखते हैं वे सापेक्ष सत्य हैं; वे तथ्य हैं। परम सत्य नहीं हैं, ये पदार्थ वस्तुतः कुछ नहीं ऊर्जाओं का संघात हैं। लेकिन चित्त उस सत्य को धारण करने के लिये अनुकूल नहीं बनता। यह दृश्य-स्पृश्य-श्रव्य-आस्वाद्य-घ्राणयोग्य सृष्टि केवल सापेक्ष सत्य है यह बात चित्त को रुचती नहीं। क्योंकि तब इन पदार्थों से मिलने वाला सुख भी सामान्य सुख बन जाता है, सापेक्ष रह जाता है; यह निरपेक्ष सत्य नहीं—यह उसके ध्यान में आने लगता है इसे धारण करने को चित्त तैयार नहीं।

शिष्यत्व वहाँ विकसित होता है जहाँ बुद्धि की समझ में आया हुआ सत्य धारण करने के लिये चित्त अनुकूल है और उसे जीने के लिये इंद्रियाँ तत्पर हैं। समझे हुए सत्य को प्रतिपल जीने के लिये ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय एवं इनके चालक मन को तत्पर वनाना यही अध्यात्म-साधना है। चित्त को सत्याभिमुख बनाना यही साधना का अभिप्राय है।

गुरु एवं शिष्य ऐसे कोई व्यक्तियों का सम्बन्ध नहीं है। "अथ अतः ब्रह्मजिज्ञासा" आत्मजिज्ञासा—

'अथ' यानी 'इसके बाद'। चित्त परमसत्य की ओर उन्मुख हो गया है, उसे ग्रहण-धारण करने को तत्पर हो गया है—इतना हो चुका है, इसे गृहीत मानकर, अब आगे—(अतः)। 'अथ' केवल मङ्गलसूचक शब्द नहीं, बड़ा गहरा अर्थ उसमें निहित है कि शब्द से ब्रह्म या आत्मतत्त्व की जानकारी हो चुकी, उसके अर्थ को ग्रहण-धारण करने की मंजूरी चित्त ने दे दी है। उसे जीने के लिये इन्द्रियाँ तत्पर हैं। अब (अतः) इस (आत्म) तत्त्व के विषय में जिज्ञासा को समाधान चाहिये। ऐसा शिष्यत्व जहाँ धारण होता है उससे आत्मानुभवी का सम्पर्क जीवन करा देता है। जिसे आप संयोग या योगानुयोग कहते हैं वह वास्तव में जीवन करा देता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है मिलन, सम्पर्क एवं सम्बन्ध—आत्मानुभवी और आत्मार्थी का और "या हृदयींचे ते हृदयीं घातले" (इस हृदय का उस हृदय में डाला) आत्मानुभव और आत्मजिज्ञासा—इन दोनों दशाओं का सङ्गम होता है उस सम्बन्ध में, आत्मार्थ संक्रान्त होता है। अतः सम्पर्क है, संगम है, संक्रान्ति का शुभ अवसर है, लेकिन मानसिक या दैहिक सम्बन्ध गुरु-शिष्य में सम्भव नहीं है। क्योंकि 'गुरु' वह 'पद' यानी अवस्था है जहाँ अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश ऐसे पञ्चविध क्लेश विसर्जित हो चुके हैं। "क्लेश-कर्म-निवृत्तिः कैवल्यम्।" उस कैवल्य दशा में चेतना प्रतिष्ठित है। क्लेशों के मूल में जो अविद्या है उसी का वहाँ अस्त हो चुका है इसलिये वहाँ मानसिक सम्बन्ध शक्य नहीं। आप ने relationship कहा है, वह वहाँ सम्भव नहीं।

प्रश्न—गुरु-शिष्य-संकल्पनाओं की बात कही जाने पर 'आदिनाथ' और 'दत्तात्रेय' का उल्लेख भी हुआ था श्रीनिवृत्तिनाथ-ज्ञानदेव की नाथ-परम्परा का उल्लेख भी होता है। इस पार्श्वभूमि पर सवाल है कि "आदिगुरु श्री शिवशंकर से लेकर मत्स्येन्द्र-गोरखनाथ प्रभृति का उल्लेख तो आता है पर श्री दत्तात्रेय से गुरु-परम्परा का उल्लेख नहीं मिलता; फिर इसी सन्दर्भ में, दत्त-सम्प्रदाय के प्रति सम्मान-श्रद्धा रखते हुए भी कहना पड़ता है कि उस परम्परा में कोई-कोई महात्मा 'औलिया' थे। जैसे पत्थर फेंक कर अनुग्रह करने वाले स्वामी समर्थ; अक्कलकोट में उलंग भिखारी वेश में अचानक आकर स्वरूप प्रकट न करके परोक्ष होने वाले बाबा (श्री गोंखिलेकर महाराज के गुरुदेव 'गयां माई',) इत्यादि से डर लगता हैं। हमारी नासमझी की ऐसी दारुण प्रवंचना क्यों? कृपया इस विषय में कुछ कहें।

उत्तर—श्री दत्तात्रेय की गुरु-शिष्य परम्परा के बारे में उल्लेख नहीं है—यह प्रश्नकर्त्ता की बात सही है। लेकिन आदिनाथ शिवशंकर एक वेद के समान्तर स्वतन्त्र विभूति हैं, वे मनुष्य-रूप में पृथ्वी पर रहे हों ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। मनुष्य-रूप में गुरु-परम्परा श्रीदत्ता-त्रेय पर्यन्त जाती है और नाथ-परम्परा के आदिगुरु दत्तात्रेय हैं ऐसा ज्ञानदेव ने कहा भी है। मैं उस परम्परा में पली नहीं हूँ, किसी भी परंपरा मेंरही नहीं, अतः सीधा कोई सम्बन्ध इस बारे में न आने से जानती नहीं हूँ, लेकिन यह कहा जाता है सो सही है। अब जो दत्तात्रेय के नाम से अव-धूतों का पन्थ चलता है, उसमें व्यक्ति-विशेषों के बारे में मुझे कुछ कहना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं है। और व्यक्ति-विशेषों की चर्चा उठाना यहाँ उचित भी नहीं है। हाँ, शरीर से एक जगह एक स्थान में रहते हुए वहाँ के लोगों को दिखाई देते हुए, उमी समय हजारों मोल दूर किसी के सामने प्रकट रहना—कार्य करना-बोलना आदि भी सम्भव अवश्य है, यह स्वानुभूत सत्य भी आप से कह सकती हूँ। "हमने ऐसा सुना है"—कहकर छुट्टी पा सकती थी। लेकिन उन्मत्त-पिशाचवत् दशा में रहते हुए अनेकों ऋद्धि-सिद्धियों से सम्पन्न व्यक्ति सदियों से भारत में जिये हैं, लोगों के सम्पर्क में आते रहे हैं यह तथ्य है। हमारे देखे जहाँ सन्तुलन का प्रसाद नहीं है, सत्ता की सहज-समग्रता का आह्लाद नहीं है, वहाँ सम्पूर्ण अध्यात्म जीवन में प्रकट हुआ हो ऐसा कह नहीं सकते। फिर वह व्यक्ति कोई भी हो, किसी के भी गुरु हों। अतीन्द्रिय शक्तियों के जागरण से उन्माद भी होता है; अघोरी पन्थ की साधना करने वालों की हालत पिशाचवत् हो जाती है—यह तो माना जाता भी है। लेकिन न तो यह अध्यात्म का इष्ट है, न अध्यात्म की परिणति है। उस मस्ती में आनन्द की विकृति में पिशाच की तरह लोग पड़े रहते हैं, बात करने पर ज्ञान की बातें उनसे सुनने को मिलेंगी सिद्धियाँ दिखने में आयेंगी। लेकिन सच्चे सन्त कहते हैं—

"मुक्ति रे आम्हाँ परिणली नोवरी, ऋद्धि-सिद्धि दासी पाणी भरी।"
[मुक्ति को ब्याह कर घर लाये हैं; ऋद्धि-सिद्धि आदि दासियाँ पानी भरती हैं, उन्हें क्या महत्त्व देना है ?] (तुकाराम)

यात्रा पर चले हैं, कोई कहीं जाकर जरा सुस्ता रहा है, कोई कहीं ठहरा है, ये रास्ते के मुकाम भर हैं, मंज़िल नहीं हैं; और यह वैज्ञानिक अध्यात्म नहीं है। **We are living in the age of scientific spirituality** यह ज़रूरी नहीं है कि चेतना में परिवर्तन हुआ हो या हो रहा हो तब मनुष्य कहीं उन्माद की विकृति में नशे की मस्ती में धुत होकर पागल या पिशाच जैसी हालत में पड़ा रहे। उसमें से गुज़रना पड़े तो गुज़र जाय भले ही! लेकिन उसी को मंजिल या मुकाम मान कर उसके सुख में जो पड़े रहते हैं, वे यदि गुरुपद धारण करते हैं या उन पर गुरुपद लादा जाता है, तो उसमें से अनर्थ के सिवा और कुछ निष्पन्न नहीं होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न :—कल किसी प्रश्न (आधि-व्याधि-विषयक) के उत्तर में 'शक्तिपात' का प्रसंग आया था। उसके बारे में पूछना है। शक्तिपात की प्रक्रिया नाथपन्थ एवं दत्तपन्थ में प्रचलित है, उससे अनेकों शिष्यों को लाभ भी हुआ है, परन्तु कइयों को आधि-व्याधि का सामना करना पड़ा। पर भक्तियोग-ज्ञानयोग के पथ में—सन्त तुकाराम, ज्ञानदेव के पन्थ में क्या शक्तिपात की क्रिया होती ही नहीं है ? या होती है तो सुसह्य होती है ?

उत्तर—"योगुचि घड़े नाभ्यासितां" अभ्यास न करते हुए भी योग घटित होता है—ऐसे ज्ञानराय लिखते हैं। कुण्डलिनी-उत्थान या जागरण की घटना व्याधि-निर्माण कर सकती है, वही उसे मिटाती भी है—यह सत्य है न ! फिर भय क्यों ? प्राप्तव्य लक्ष्य एक ही हो, तो 'साधनानाम-नेकता'—(साधनों की अनेकता) भी मूलभूत प्रारम्भिक प्रक्रियाओं को बदल सकती या सुसह्य-असह्य बनाती होगी।

(....क्या महाराष्ट्र की जनता ने नाथपन्थ का और दत्तपरम्परा के साहित्य का बहुत गम्भीरता से अध्ययन शुरू कर दिया है ? उसी बारे में अनेकों प्रश्न चल रहे हैं।)

नाथपन्थ में दृष्टिदीक्षा सर्वश्रेष्ठ दीक्षा मानी जाती है। वाणी से दिया हुआ मन्त्र गौण है और दृष्टि में से संक्रान्त होनेवाली शक्ति प्रधान है। इस दृष्टिदीक्षा में दीक्षित होने जो आये हों उनमें शक्ति का संचार होता है। उस शक्ति-संचार को अर्वाचीन काल में शक्तिपात कहा जाता है और शक्तिपात करने की प्रक्रियायें नाथपन्थ से बाहर भी तन्त्र-मन्त्र योग आदि में हैं। आप पूछना चाहते हैं कि शक्तिपात में से व्याधि-निर्माण होता है यह सही है न ?—जो हाँ, सही है। कोई भी उठे, कैसा भी स्वच्छन्द-भरा अराजक उसका जीवन हो, कदाचारी-दुराचारी हो, वाणी व काया के व्यभिचार (चाहे जिधर विश्रृङ्खल वृत्ति व गति) में लिपटा हुआ हो—वाणी के व्यभिचार में हमारा अभिप्राय है असत्य बोलना, वाणी या काया के मिथ्याचार में भ्रष्ट जीवन हो और वह जायें किसी के पास, जिन के पास शक्ति संचार कराने की युक्ति हो, उसकी प्रक्रिया साध ली हो, उनसे शक्तिपात करा लें, या वे बुलाकर स्वयं करा दें, तो उसके बाद जो कुण्डलिनो शक्ति—एक मनःशारीरिक शक्ति (a Psy chophysical energy) बलपूर्वक जगा दी जाती (provoked forcibly) है और सही ढंग से उसका विनियोग नहीं किया जाता (not channelised

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

properly) तो वैसी शक्ति का जागृत होना चेतना व शरीर के लिये एक आपत्ति-विपत्ति जैसा बन जाता है। क्योंकि उसे आत्मसात् (assimilate) करने की कला या सत्त्व या दम नहीं होता शरीर में, तो एक विजातीय द्रव्य बनकर वह कुण्डलिनी शक्ति रहती है।

ज्ञानराय हों, तुकाराम हों या उस पथ के पथिक हों, उनको न ऐसे शक्ति-संचार, शक्तिपात की चिन्ता है, न इच्छा है न आवश्यकता है। 'नमन' करके जिन्हें 'अमन' बनना है और 'उन्मनी' में रहना है—"तुरीयेचे तारुण्य। उन्मनीचे लावण्य, अनादि, अगम्य, परमतत्त्व" जिनका इष्ट है, अभीष्ट है, उन्हें क्या करना है शक्ति-जागृति से या कुण्डलिनी-संचार को लेकर! व्यापार-प्रचार करना नहीं, शिष्य सम्प्रदाय बनाना नहीं है, इसलिये उनके जीवन में वह शक्ति जागृत होने पर भी उपेक्षित रहती है। तुका-राम-ज्ञानदेव जैसे भक्तियोगी-परमज्ञानयोगी के जीवन में वह जागृति हुई अवश्य रहती है, किन्तु व्याधि-निर्माण नहीं करती क्योंकि वहाँ—"सभी गतियों की गति। वही यह है शरणागति !" मूर्त्तिमती होती है। जिसका अहंकार ही शरणागत हो चुका है, समर्पित हो चुका है, प्रभुप्रीत्यर्थ कर्म किया जाता है, वे कर्म का फल भी प्रभु को सौंप देते हैं, अपने पास कुछ रखते ही नहीं। यथाप्राप्त कर्म किया और फल प्रभु को सौंप दिया। अपने लिए उन्हें कुछ चाहिये ही नहीं। ऐसे जो भक्त अपने योगक्षेम की भी परवाह नहीं करते वे ऋद्धि-सिद्धियों और योग के पथ में स्वयं प्रकट होती शक्तियों को रखकर क्या करेंगे ? वे आईं और गईं, भले आयें और चली जायें, उनकी ओर भक्त-ज्ञानी ताकते भी नहीं।

पूछा गया है कि कुण्डलिनी उत्थान के समय जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें वही मिटाती है, क्या यह सही है ? तो असल में वे व्याधियाँ नहीं होतीं। हम उस तीव्रता के, उत्कट गति के, जागरण के लक्षणों को व्याधि मान लेते हैं। एक अतिशय तीव्र गति कुण्डलाकार हुई सर्पिणी की तरह मूलाधार में पड़ी हुई है प्रत्येक मनुष्य में। वह जब जागृत होकर मेरुदण्ड में से ऊपर चढ़ने लगती है तो शरीर में उष्णता बढ़ना, बेचैनी पैदा होना, निद्रा कम होना, भूख कम होना आदि प्रतीत होता है। जब वह मस्तिष्क में चढ़ने लगती है तब मस्तिष्क के—बुद्धि के काम में विलक्षण गति दिखती है; भूतकाल दिखने लगता है, भविष्य दिखता है, कुछ भी प्रश्न पूछें तो उसका सही जवाब मिलता है। उस व्यक्ति में एक प्रकार की चुम्बकीय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शक्ति आ जाती है। लेकिन शरीर का जो एक सन्तुलन है—Tune in a certain frequency of the energy, certain velocity of the energy, यह एक नई ऊर्जा है जो उस सन्तुलन को छेड़ती है तो अनेक उपद्रव शरीर में खड़े होते हैं जो व्याधि नहीं हैं। लेकिन भीतर सब कुल हिल जाता है, पहले जैसी यथास्थिति (status quo) रह नहीं पाती। यदि उसे व्याधि समझ कर उपचार किये जायें तो हो सकता है वह ऊर्जा अधोगामी बन कर Sex-obsesssion पैदा करे। अपने ऊपर शक्तिपात कराने वाले लोग—indulging in raping the Psyche and the psycho-physical energies in the body, (चेतना और मनःशारीरिक शक्तियों के प्रति आक्रामक व्यभिचार करने वाले लोग) शक्तिपात के द्वारा व्याधि निर्माण करते हैं क्योंकि उस जागी हुई शक्ति की तीव्रता को उनका चित्त एव शरीर सहन-धारण-विनियोग नहीं कर पाता। नये आयाम की ऊर्जाओं को धारण करने की क्षमता उनमें नहीं होती। चित्त-बुद्धि व शरीर में समुचित-संयत-शुद्ध-आहार-विहार द्वारा वह सामर्थ्य विकसित न किया गया हो तो जबर्दस्ती जगाई गई तीव्र ऊर्जा मनुष्य को बेकाबू बना कर Compulsive sex obssession में ले जाती है। यह नहीं होता जब शरीर-चित्त-बुद्धि पहले से ही संयत, शुद्ध आहार-विहार-आचरण द्वारा सुदृढ़-सुडौल-सक्षम बने होते हैं। तब स्वाभाविक रीति से हुआ शक्तिजागरण कोई विकृति नहीं लाता। आप शिशु थे—कुमार हुए, किशोर और युवा बने तो कितनी ही नई शक्तियाँ सहज ही आपके भीतर पनपती है। युवावस्था से प्रौढ़ और वृद्ध होते हैं तो कुछ शक्तियाँ समाप्त होकर कुछ नई जागृत होती हैं। यह तो जीवन का सहज क्रम है, शक्तियों का संचार और शान्त होना चलता ही रहता है।

यदि जगाई गई शक्तियों—ऊर्जाओं का हेतुपूर्वक उपयोग न किया जाय, इन्हें पैसा कमाने-प्रतिष्ठा कमाने का साधन न बनाया जाय, तो वे जैसी जागृत हुईं वैसी ही कुछ समय में अपने-आप भीतर समा जाती हैं शान्त हो जाती हैं। "कुण्डलिनी-जागृति व्याधियों को पैदा करती, फिर मिटाती है"—यह भाषा खतरनाक है। हाँ, शरीर के सन्तुलन को अवश्य वह एक धक्का दे देती है। उसके परिणाम अनेक प्रकार के होते हैं—किसी को भूख बहुत ज्यादा लगती है तो किसी को भूख लगती नहीं, किसी को नींद नहीं आती तो किसी को इतनी नींद आती है कि कई-कई दिन तक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खुले ही नहीं। कोई मील-दो मील पैदल नहीं चल सकता, वही आठ-आठ मील दौड़ता चला जाय!—इस तरह सन्तुलन कुछ समय के लिये चला जाता है। कभी सिर में वेदना भी होती है। जब वह मस्तक में चढ़ती है तब उस वेदना का सामना (Counteract) करने के लिये यदि कुछ किया न जाय तो वह अपने आप जैसी उठी थी वैसी शान्त हो जाती है।

प्रश्न—अपने निकट के लोगों की मृत्यु होना—यह घटना बहुत दुःखद और हताश करने वाली होती है। ऐसी घटनाओं में से मृत्यु-सम्बन्धी विचार आने लगते हैं, जीवन क्षीण होता है। मृत्यु सबके लिये अवश्यम्भावी घटना होने पर भी उसके प्रति भीति रहती है चित्त में। हो सकता है वह भय इस शरीर के नष्ट हो जाने का उतना नहीं होता जितना कि 'हम फिर कभी भी इसी रूप व सम्बन्धों में धरती पर नहीं लौट सकेंगे'—इसकी चिन्ता से होता है। इस भीति से मुक्त कैसे हुआ जा सकता है?

उत्तर—भाई, अपने निकट के या साथ जिये हुए व्यक्ति की मृत्यु से दुःख होना तो स्वाभाविक है; कभी न पूरित होने वाला वह वियोग है। दुःख कैसे न होगा? स्थितप्रज्ञ होने पर भी मनुष्य जड़ पाषाण नहीं हो जाता। मनुष्य का भाग्य है ये दुःख-सुख के अवसर आना; इनका सामना इन्हें समग्रता से जीते हुए करना। जन्म हुआ है तो मरण होने ही वाला है; कब आयेगा वह पता नहीं, यह अनिश्चितता मनुष्य-जीवन का ऐश्वर्य है। The unpredictability of death is the majesty of life and living.

वह किसी भी क्षण आ सकता है, इसलिये जीवन का प्रत्येक क्षण मूल्यवान् है। क्षण भर भी बरबाद करना उचित नहीं, प्रत्येक क्षण में जीवन का जो पहलू सामने हो उसे उत्कटता से अपनी समग्रता लुटाते हुए फिर उसमें से आगे गुजर जाना चाहिये। By living through the moment you die to it.

जीवन एक यज्ञ है। सौदा किये बिना जो लुटाया जाता है उसे यज्ञ कहते हैं। हिसाब करके देना व्यापार होता है। जीवन जीने में व्यापार नहीं चलता, न उधार चलता है न नगद। जीवन की पवित्रता विलक्षण है।

अतः दुःख होता है यह स्वाभाविक है। मानो कोई तीक्ष्ण बाण आया और हृदय को वेधता गया। जिस व्यक्ति ने वह हृदय-वेधने वाले दुःख का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुभव न पाया हो उसका जीवन दरिद्र है। वियोग की वेदना, विरह के दुःख में से जीवन की संवेदनशीलता को धार मिलती है। आनन्द और दुःख दोनों ही जीवन को समृद्ध करने वाली घटनायें हैं, ये भला जीवन को क्षीण क्यों करेंगी? अवश्य ही रोना आयेगा, बेचैनी होगी, एक प्रकार की रिक्तता प्रतीत होगी। यह सब सही है, लेकिन उसमें से हताशा कैसी? आनन्द से शरीरशक्ति क्षीण नहीं होती, दुःख में क्यों होगी? हाँ, हर्ष में शक्ति खर्च होती है क्योंकि वहाँ भी नाड़ियों में एक प्रकार की उत्तेजना आती है बारम्बार उत्तेजना उत्पन्न की जाती है या उत्तेजना के प्रसंग खड़े किये जाते हैं तो धीरे-धीरे नाड़ीतन्त्र बधिर हो जाता है। आनन्द में ऐसा नहीं, आनन्द और दुःख दोनों जीवन के ऐश्वर्य हैं। हताशा, व्यथा (suffering) मानसिक विकृति है।

यह इसी चिन्ता से उत्पन्न होती है कि "वह तो चला गया/गयी, अब मेरा क्या होगा ?" इस आत्मदया में से हताशा-निराशा आती है। भीति या व्यथा हमें अपने अकेलेपन की, या अपनी भावनाओं को अभीप्सित प्रति-साद न मिलने का होती है। सारे कुटुम्ब के बीच रहते हुए यदि एक बार अपने वास्तविक अकेलेपन का, अकेलेपन के भय का सामना कर लिया जाय, और उसमें से मुक्त हो जाया जाय, तो फिर मृत्यु का भय नहीं रहेगा।

जीवन में कर्म-फल का नियम होने पर भी, जीवन पाठशाला की समय-सारणी जैसा बँधा नहीं है कि कब, क्या, किस तरह होगा। जीवन-रचना-संबंधी नैसर्गिक क्रम अवश्य रहेगा—जन्म-शैशव, कौमार्य, यौवन, प्रौढ़ता, वृद्धावस्था, मृत्यु आदि सामान्य क्रम रहेगा, किन्तु सबका शरीर यह पूरा क्रम पार करेगा ही—यह निश्चित नहीं, जन्म के बाद किसी भी घड़ी में मरण हो सकता है। जीवन के क्रम के बारे में, सम्बन्धों के बारे में, संयोग-वियोग की घटनाओं के बारे में कोई समयसारणी नहीं बनायी जा सकती, वहाँ अनिश्चितता रहती है। हमें जीवन और मृत्यु की रहस्यमयता तथा अनिश्चितता के कारण असुरक्षा प्रतीत होती है, इसीलिये भय लगता है उससे। मरण कब आयेगा ? कहाँ आयेगा ? किस निमित्त से आयेगा ?—कुछ भी पता नहीं चलता; और जब मरण सामने आ खड़ा होता है तब क्षण भर भी रुकता नहीं, जरा-सी भी मोहलत नहीं देता, बस हाथ पकड़ते ही ले जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मृत्यु विषयक इस अनिश्चितता एवं अवश्यंभाविता का चित्त में स्वीकार नहीं रहता, इसीलिये मृत्यु से भय लगता है It is the resistance to the unpredictability of death, the reluctance to accept the life as it is that stimulates uneasiness, which you call fear.

[मृत्यु की अनिश्चितता, पहले से देखने-कहने का असम्भव होना, जीवन-मरण जैसे सामने आये वैसा उन्हें स्वीकार करने के प्रति प्रतिरोध, प्रतिकार की भावना—इन्हीं सबसे भीतर एक प्रकार की बेचैनी उत्तेजित होती है जिसे 'भय' शब्द से कहा जाता है।] अन्यथा भय की कोई सत्ता नहीं। अन्य कोई पशु-पक्षी मरते हैं तो उससे हमें भय नहीं लगता। उससे हताशा भी नहीं आती। बस "मेरा कोई न जाये; मैं भी न जाऊँ, जिनसे अनुकूल भावना है वे न जायें!"—यही आकांक्षा भीतर भरी है, इसलिये 'कहीं मेरे किसी की या मेरी मृत्यु न हो जाय!" इसी का भय लगा रहता है। बुद्धि जानती है कि एक न एक दिन जाना सभी को है, लेकिन जाना चाहते नहीं; यहाँ तक कि मरण-सम्बन्धी शब्दों, वस्तुओं से भी बचते हैं, उन्हें अशुभ मानते हैं। मरण के प्रति ऐसी प्रतिरोध-भावना से ही भीतर बेचैनी, क्षोभ होता है जिसे 'भय' रूप से अनुभव किया जाता है। नहीं तो जो अटल है, ध्रुव है, उससे भय कैसा ?

हाँ, आज के युग में भय बने रहने की सम्भावना अवश्य है, क्योंकि आज जिस ढंग से मानव-जाति जी रही है, जो परिस्थितियाँ स्वयं पैदा करके पाली-पोसी हैं, इस परिवेश, जीवनपद्धति और वातावरण में न सहजता से जिया जा सकता है, न सहजता से मरने की आशा रखी जा सकती है। यह जीवनपद्धति तो जीवन को मार डालती है, आप को स्वयं सजग रूप से मृत्यु में से गुज़रने का अवसर भी नहीं देती। पर्यावरण और आहार-सामग्री में इतना प्रदूषण है कि आप वस्तुतः स्वस्थ रह सकें ही नहीं। अमानुष गति से चलने वाले वाहनों की भरमार है रास्तों पर, घर से चले हैं कहीं या घर में बैठे ही हैं, कब कहाँ से कैसा विध्वंस आकर ग्रस लेगा जीवन को, यह पता नहीं। आर्थिक-औद्योगिक ढाँचे इतने राक्षसकाय हैं कि उनमें मनुष्यों की कीमत मक्खी मच्छर जैसी हो गयी है। आतंकवादियों के हाथों मरें या पुलिस के हाथों मरें, या रोज़-रोज़ होती रहने वाली तरह-तरह की आकस्मिक दुर्घटनाओं में मरे, या प्रक्षु-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भित पर्यावरण के असन्तुलन से होनेवाली आधिभौतिक विपत्तियों (बाढ़, सूखा, अकाल, भूकम्प, ज्वालामुखी फटना, समुद्री प्रकोप इत्यादि)—ऐसे अपघातों में लोग मारे जाते हैं, वह सहज मृत्यु नहीं होती; इसलिये मैं कहती हूँ कि आज की जीवन-पद्धति ही मारक हो गयी है। ऐसे अपघात का तो भय होना स्वाभाविक है। अन्यथा केवल मृत्युमात्र से भय तो यथार्थता का अस्वीकार है, भीरुता-कायरता का ही द्योतक है।

आप कहते हैं कि 'शारीरिक नाश का भय नहीं लगता, पर वापस नहीं आना होगा ?' इसी का भय लगता है। "अरे भाई ! आप अवश्य पुनः शरीर में आने वाले हैं, इसी वर्तमान शरीर में नहीं, पर अनेकों रूपों में पुनः आना निश्चित है। "जन्म लेना होता वासना के संग से" जबतक चित्त में विचारों-विकारों का चक्र सतत चलता रहता है। विचार कहो, वासना कहो या और कुछ, ये पार्थिव द्रव्य हैं। प्रत्येक विचार-विकार-वासना के स्फुरण के समय आप के शरीर में से कुछ द्रव्य बाहर निकल रहा है स्पन्दनों के रूप में। भले ही हम अपने कमरे में दरवाजे खिड़कियाँ बन्द करके बैठे हों, पर विचार कर रहे हों या वासनाओं से मन ही मन खेल रहे हों तो भी हमारे सम्पूर्ण शरीर में से स्पन्दन बाहर निकलते हैं। यदि एक ही वासना या विकार बारम्बार चित्त में घुलता, आकार लेता रहता हो तो उसके स्पन्दन आप के चारों ओर घूमते रहते हैं। उनका स्पन्दनात्मक अस्तित्व रहता है। योगी या योगाभ्यासी साधकों को वे स्पन्दवलय दिखाई भी देते हैं। यह केवल कल्पना नहीं, तथ्य है। आप के चित्त में उठने वाले विचार आकाश में घुल-मिल जाते हैं, उन स्पन्दों की आकृतियाँ और उनके वलय आकाश में बनते हैं। इस निराकार आकाश में कितनी आकृतियाँ घुली पड़ी हैं कौन जाने ?

जब विचार करने वाले चित्त के धारक शरीर का मरण होता है, मराठी प्रयोग में कहते हैं 'उसे देवाज्ञा हो गयी'—गुजराती में कहते हैं—'कालधर्म पाया'। वह होने पर शरीर निष्प्राण शव हो गया, उनका अन्तिम संस्कार होकर शरीर समाप्त हो गया। किन्तु उस चित्त में उठे हुए विकारों के वलय तो आकाश में रह ही गये। इन विचारतरंगों को कहीं न कहीं कोई दम्पती ऐसे मिल जाते हैं जिनमें पति या पत्नी किसी में वैसे ही विचार हों। उनके सहवास के समय, गर्भाधान के क्षण में ये आकाशचारी विचारवलय उन समान विचारयुक्त दम्पतो में खिंच आते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं। वहाँ पुनः शरीर धारण करके विचारों का विहार (यात्रा) चालू रहता है। बहुत बार देखा-सुना भी जाता है शैशव से ही प्रकाण्ड प्रतिभा प्रकट होना, या बच्चों द्वारा अपने पहले जन्म की स्मृतियाँ व्यक्त करना। विचारों का पुनर्जन्म सम्भव है, इसीलिये कहा कि आप लौट कर आते हैं। इसलिये चिन्ता न करें कि फिर यहाँ आना नहीं होगा। जब तक विचार-वासना बने रहेंगे तब तक बारम्बार जन्म होना ही है। यदि आप सचमुच चाहते हों कि फिर यहाँ लौटना न हो, तो सन्तों ने उपाय कहा ही है कि—

"जन्म लेना होता वासना के सङ्ग से,
वह तो हो गयी पूरी हरिरूप।"
"बीज भून कर हो गई लाई,
अब हमारा जन्म-मरण नहीं!"

(—तुकाराम)

पुरानी, इस शरीर के साथ चली आई वासनाओं का तो 'भोग से ही क्षय' होगा। धर्मोचित पद्धति से वासनाओं को जोकर समाप्त-निःशेष किया जा सकता है। सामने आयी हुई सभी जिम्मेवारियों को समुचित प्रतिसाद समग्रता से देते हुए ऐसे ढंग से सभी कर्म किये जा सकते हैं कि प्रारब्ध और सञ्चित कर्मफल-भोग पूरा हो जाय पर नया प्रारब्ध-संचय न हो, आगे के लिये कोई बीज न बने। यही तो जीवनात्मक योग है; यही कर्म-कौशल है। "विगत-ज्वर होकर युद्ध करना" यही है। किसी भी स्तर पर रागद्वेष के अधीन हुए बिना, राग-द्वेषादि का स्पर्श भी न करते हुए नाना-नाम-रूपात्मक द्वैतमयी सृष्टि में जीवन-खेल खेलते हुए मनुष्य जीवन-पथ पार कर जा सकता है। जो कुछ पुराना भीतर पड़ा था, जन्म से साथ आया था उसे भोग कर मुक्त हो गये, आगे कुछ बनने न दिया—इसे वीतराग का पन्थ कहा है। इसे 'ब्राह्मी स्थिति' भी कहा है।

मृत्यु के बाद वापस लौटना चाहते हों तो उसका भी मार्ग है, और न लौटना चाहें तो उसका भी मार्ग है।

और एक प्रकार से समझ लें। मान लीजिये शरीर मृत हो गया। उसका अन्तिम संस्कार (अन्त्येष्टि) कर दिया गया। इससे क्या हुआ? शरीर मुट्ठी भर राख बन गया। पानी उड़ गया। रूपान्तर हो तो हुआ!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाश तो होता नहीं। जो 'है' उसका नाश कैसे ? राख जहाँ भी डाली गयी वह आखिर पृथ्वी में ही मिल गयी न ! हाँ, वर्तमान आकृति तो फिर न रहेगी, इसी आकृति से वापस आना क़तई नहीं हो सकता। अन्यथा, जो 'है' उसकी आकृति बदलती रहती है और जीवन का चक्र चलता रहता है।

देहान्त होने पर देह में से कोई तत्त्व निकल जाता है आँख, कान, नाक, मुँह, मस्तक या अन्य किसी भी छिद्र में से प्राण बाहर चले गये। वह जो निकल जाता है उसकी छबि (Photo) लेने का प्रयत्न रूस में हुआ, किन्तु उतने सक्षम लेन्स अभी मिले नहीं हैं। किन्तु प्राण निकलते समय और निकलने के बाद २४ घण्टे तक शरीर में जो परिवर्तन होते हैं उसके Photos अवश्य ले लिये गये हैं। किस तरह प्रकाश बुझता जाता है, शरीर में स्थित ऊर्जाओं की गति किस तरह मन्द पड़ती जाती है इसकी छबि ले ली गयी है। मृत्यु के क्षण में जो निकल जाता है वह हवा से भी कहीं अधिक सूक्ष्म है, हमें अपनी आँखों से जो प्रकाश दिखाई देता है उसकी अपेक्षा वह तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, तारा आदि से विलक्षण अन्य ही प्रकाश है वह जिसे हम आत्मा या आत्मसत्ता कहते हैं। वह चक्षुगम्य नहीं है। इसलिये यदि आप पूछें कि देह में से क्या निकल जाता है ? तो नम्रता-पूर्वक कहना होगा कि मुझे मालूम नहीं है। अर्थात् शब्दों से कहा जा सके ऐसे प्रकार से बुद्धि को वह मालूम नहीं है।

आप जानना चाहते हैं कि मृत्यु के भय से मुक्त कैसे हों ? तो यही कहना है कि वस्तुतः मुक्त होना चाहें तो अवश्य भय छूट सकता है। जो भी सामने उपस्थित है उस यथार्थता को स्वीकार करने का शिक्षण अपने आपको दें। रोज सुबह से रात तक जीवन की यथार्थता को स्वीकार करें। अर्थात् यह जीवन परिवर्तनशील है, अनित्य है, इस क्षण में जो है वह आगामी क्षण में नहीं होगा। शरीर के भी रक्त-मांस-मज्जा-गुण-धर्म प्रत्येक सात वर्ष में बदल जाते हैं आयुर्वेद कहता है। बाहर के सभी पदार्थ बदलते ही रहते हैं, मन भी बदलता है,—जगत् की इस सतत परिवर्तनशीलता की यथार्थता का स्वीकार हो जाय। पदार्थों से सम्पर्क आयेगा, व्यक्तियों से सम्बन्ध बनेंगे, उनका स्वीकार हो। उन सम्बन्धों को एक मानसिक कालखण्ड में जिया जाता है—दो-चार-दस वर्ष या जब तक वह सम्पर्क-सम्बन्ध जैसा बना रहे वैसा तब तक जिया जाता है। मान-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिक काल कोई कपोल-कल्पना नहीं, भ्रम नहीं, किन्तु उसकी वस्तुतः सत्ता भी नहीं है। मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है काल। एक नाप है। जैसे धरती का नाप मनुष्य ने बनाया वैसे काल की भी एक नाप के रूप में कल्पना की। अन्यथा जीवन में कहीं कोई नाप-तौल नहीं है; वह तो काल से अतीत 'होना'-मात्र है। वहाँ कलना-गणना हो नहीं सकती, इसलिये सम्बन्ध भी बदल जाते हैं. और कब बदल जायेंगे इसका कोई ठिकाना नहीं। इसलिये जब तक जो सम्बन्ध हो उसमें प्रेम से व्यक्तियों के साथ जिया जाय, पदार्थों का रसिकता से सेवन किया जाय। पर कहीं भी अपने आपको बाँधा न जाय—न व्यक्ति से, न परिस्थिति से। ज्ञान कमायें, धन कमायें, यश-प्रतिष्ठा कमायें, पर वह कमाई आज है कल नहीं भी रहेगी—यह समझे रहें। उपभोग-परायणता और आसक्ति यदि चित्त में न रहें तभी भय से मुक्त हुआ जा सकता है।

प्रश्न—समाधि (अन्तिम) लेना—यानी इहलोक से विदा लेकर देह विसर्जित करना और आत्महत्या करना यानी किसी कारणवश किसी भी प्रकार देह को निष्प्राण कर देना—दोनों में ही जान-बूझ कर देह को समाप्त करना समान है। फिर आत्महत्या को कानून में स्वीकृति क्यों नहीं है?

उत्तर—यह मैं कैसे कहूँ ? पर इतना तो आप समझते ही होंगे कि आत्महत्या समाधि नहीं है। आत्महत्या कानून से गुनाह है यह मालूम होते हुए भी लोग किसी को जबर्दस्ती मार कर, जला कर कह देते हैं कि उसने आत्महत्या की। मुझे लगता है समाज के दुर्बल अंग के संरक्षण के लिये ही कानून में आत्महत्या को गुनाह माना गया होगा। यदि कहीं उसे कानून में स्वीकृति मिली होती तो आज जो अपवाद रूप ऐसी दुर्घटनायें सुनाई देती हैं उनकी अपेक्षा अधिक दुर्घटनायें होती। आज युवतियों-स्त्रियों की आत्महत्या जैसी मृत्यु-घटनाओं के लिये सारे भारत में से शायद पहला स्थान है गुजरात।....खैर इसे जाने दें।

सजीव समाधि लेने में कोई अवान्तर कारण नहीं होना चाहिये—ऐसा शास्त्रीय विधान है। अर्थात् अतिदुःख होने के कारण, निराश-हताश होने के कारण समाधि नहीं ली जाती, किसी आवेग-आवेश-उद्वेग के कारण शरीर का नाश करना—यह समाधि में अभिप्रेत नहीं होता। देह-विसर्जन और देह का विनाश ये दोनों अलग चीज हैं।

योगी लोग तो स्वेच्छा से भी देह में से प्रयाण कर सकते हैं। ऐसा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इच्छामरण मैंने अपने नानाजी का देखा है। पहले से ही उन्होंने बता दिया था कि "हमारी छुट्टी मंजूर हो गयी है। इस रामनवमी के दिन हम चले जायेंगे।" उस नवरात्र में प्रतिदिन भारी समारोह रहा। देश भर के विभिन्न भागों से महात्माजन आते, ब्राह्मण आते; प्रतिदिन रामायण-पाठ होता, होम-हवन-पूजन चलता। सब पूरा होने पर विशेष उत्सव किया, सबको सम्मान-पूर्वक दक्षिणा आदि दीं। फिर दोपहर में श्रीरामजन्म-पूजन के बाद व्रत-पारण के रूप में प्रसादकणिका मुख में डालीं। बस, आसन लगाकर बैठे, और चले गये !....वे अस्वस्थ या रुग्ण नहीं थे। स्पष्ट शब्दों में सहज ही कहा करते थे कि इस रामनवमी को हम जाने वाले हैं। हमारी नानी इसे मानती नहीं थीं। पर वह घटित होने पर जब लोगों ने जाकर बताया तो दौड़ी आयीं; चिकित्सकों ने कह दिया कि ये जा चुके हैं। कोई शारीरिक-मानसिक कारण नहीं था। इस तरह समाधि अकारण, अहेतुक ली जाती है। वह प्राण-प्रयाणोत्सव होता है।

विनोबाजी को महसूस हुआ कि भीतर जो हृदय (Heart) नाम का अवयव है वह अब बहुत चलने लायक नहीं है। तब, जो थोड़ा सा आहार के नाम पर दही-मधु-पानी लेते थे वह भी बन्द कर दिया। बोले—"अब प्राण-प्रयाणोत्सव प्रारम्भ होता है; वाणी बन्द, पानी बन्द !" ऐसे ही सात दिन तक रहे और अन्त में "हरिः ॐ" कहकर चल दिये !

इसलिये मुझे लगता है कि जिस व्यक्ति को ऐसा लगता हो कि अब इस शरीर से कुछ कर्म किया नहीं जा सकेगा, या फिर करने का प्रयोजन पूरा हो गया हो, ऐसे व्यक्ति को स्वेच्छा से देह छोड़ने का अधिकार है। यदि विष जैसी गोलियाँ न खानी पड़ती हों, शरीर पर कोई अन्य अत्याचार न करना पड़ता हो, तो "I am sailing" (मैं चला !) कहकर हँसते-हँसते देह छोड़ जाने का उन्हें अधिकार है।

यह मैं इसलिये कह रही हूँ कि अगला प्रश्न श्रीज्ञानेश्वर एवं उनके भाईयों व बहन के अल्पवयस् में ही सजीव समाधि लेने के बारे में है।

[वह प्रश्नोत्तर कृपया आगे श्रीज्ञानेश्व-विषयक प्रश्नोत्तरों वाले भाग में देखें।—सम्पा०]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—मेरे सामने कोई भी प्रश्न, अड़चन या समस्या खड़ी होती है, तो उसके सुलझाव के लिये प्रयत्न करने में पहले मेरे सामने उसका व्यतिरेक या निषेधात्मक पक्ष (negetive side) खड़ा हो जाता है; बहुत बाद में विधायक-अन्वयात्मक (positive) पक्ष सामने आता है। ऐसा क्यों ?

उत्तर—जिनका यह प्रश्न है वे व्यक्ति सम्भवत: ऐसा चाहते व मानते होंगे कि वे जो निर्णय लें, जो भी करें, वह सर्वथा निर्दोष होना चाहिये, निर्विवाद होना चाहिये, सबको पसन्द आना चाहिये। अपना कर्म सर्वाङ्ग सुन्दर बन पड़े ऐसी भावना और विशेष परवाह (concern) उनके चित्त में रहती होगी। इसीलिये "मैं यह करूँ तो बात बनेगी या नहीं ? इसका कोई दुष्परिणाम तो नहीं होगा ?"—इस चिन्ता से विरोधी पक्ष ही पहले सामने आते होंगे। Hypersensitivity about the correctness of the decision or action. ऐसी कुछ लोगों की मनोरचना होती है।

या फिर जन्म के पूर्व ही, प्रथम बीजारोपण के समय ही माता-पिता यदि किसी भय, कुण्ठा या चिन्ता से ग्रस्त रहे हों तो बालक की मनोरचना ऐसी शङ्कालू बन जा सकती है।

यदि समस्या के दोनों (negative-positive) पक्षों को भलीभाँति देखने-समझने के बाद उचित निर्णय लेने का स्वभाव हो तो उसमें 'क्यों ?'—के पचड़े में पड़ना व्यर्थ है।

प्रश्न—उत्तेजना और अवसाद इन दोनों को चिकित्सक लोग मानसिक विकार (Psychoneurosis) कहते हैं। उसके लिये रासायनिक उपचार किये जाते हैं। उनके बदले क्या आप ध्यानादि द्वारा कोई उपचार सुझा सकती हैं ?

उत्तर—नहीं भाई ! क्योंकि वह व्यक्ति ध्यान का मार्ग पकड़ नहीं सकेगा। ध्यान का अर्थ एकाग्रता या धारणा का अभ्यास नहीं है। ध्यान कोई क्रिया-प्रक्रिया नहीं है। सभी मानसिक ऐच्छिक-अनैच्छिक गतियों का विराम-विश्राम-शमन होने देना और उस प्रशान्तता में, शून्य में प्रतिष्ठित होना—इतना पुरुषार्थ अपेक्षित है ध्यान के लिये। उत्तेजना या अवसाद दोनों न हों ऐसी शान्त स्थिति को सहन करने की क्षमता शरीर में है क्या ? The energies concealed and contained in emptiness have hundred times or thousand times more velocity and momentum than the momentum of thought, emotions etc.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[आन्तर शून्यता में निहित शक्तियों में जो गुरुता एवं वेग है वह विचार, भावना, संवेग आदि के भार, वेग और दबाब से कहीं अधिक है]। विचार-भावना आदि का परिणाम होता है शरीर के सर्वाङ्ग पर, विशेष रूप से जिगर, आँतों, गुर्दों और हृदय पर, तो शून्य में प्रतिष्ठित चेतना की दशा में अन्तर्निहित वे महामहिम शक्तियाँ जब समग्रता से क्रियाशील हो उठती हैं—तब उनका वेग सहन करने की क्षमता नाड़ियों में रहनी चाहिये। इसलिये, जिन्हें पहले ही नाड़ीतंत्र की दुर्बलता से मनोरोग हुआ हो, वे ध्यान के मार्ग पर कैसे चल सकेंगे। मैं तो उसकी राय नहीं दूँगी।

हाँ ऐसे व्यक्ति यदि एकाग्रता का अभ्यास करें या उनके साथ बैठ कर उनसे वह करवा लिया जा सके, धारणाशक्ति बढ़ायी जाय, तो अवश्य लाभकर होगा। अवसाद या उत्तेजना धारणाशक्ति के अभाव या अपरिपक्वता से ही होते हैं। **We cannot contain what is happening.** [हमारे सामने या हमारे जीवन से सम्बद्ध जो कुछ घटित हो रहा है उसे हम भीतर धारण नहीं कर पाते तभी उत्तेजना या अवसाद आते हैं।]

धारण करना शरीर के रसायनतंत्र एवं नाड़ीतंत्र का काम है। वहाँ की दुर्बलता के कारण उत्तेजना या अवसाद होते हैं यह न समझने के कारण ही हम घबराते हैं या उसे अवास्तव महत्त्व देते हैं। जहाँ नाड़ीतंत्र, रसायनतंत्र दुर्बल है वहाँ ध्यान-दशा को धारण करने की शक्ति नहीं होती। ऐसे व्यक्ति को उपचार रूप में नामस्मरण एकाग्रता का अभ्यास करने को कहा जा सकता है। मौन-ध्यान की ओर जाने के लिये तो अपने ही भीतर झाँकना, विचारों की ओर देखना, अपनी भीतरी तहें खुलने देना और तटस्थ रूप से उन्हें देखते रहना होगा, जबतक वह सब भण्डार पूरा न हो जाय। पहले ही दुर्बल व्यक्ति को वह सहन नहीं होगा। उसका अवसाद या उत्तेजना अधिक बढ़ेंगे; वह पागल हो जा सकता है। ध्यान को बड़ी सुलभ मामूली बात मान रखा है लोगों ने। वह बहुत गम्भीर वस्तु है, बच्चों का खेल नहीं है।

रुग्ण नाड़ीतंत्र वाले, मनोरोग से ग्रस्त व्यक्ति को तो बहुत मदद और इलाज की ज़रूरत है। उसकी क्षमता के अनुरूप उपचार-चिकित्सा उसे दिये जाने चाहिये। इस दिशा में हठयोग की प्रक्रियाओं का उपयोग करने के तरीके भी आयुर्वेद एवं योग के संयुक्त शोध-संस्थानों ने योरोप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में निकाले हैं, इटली में 'मिलानो' के पास ऐसा एक विश्वविद्यालय भी बनाया गया है। जहाँ उपचार की आवश्यकता है वहाँ ध्यान-समाधि जैसे आमूलचूल नये आयाम को लाने की बात सोची नहीं जा सकती। वह केवल वेशान्तर, दशान्तर या अल्पकालीन अवस्थान्तर नहीं है; वह तो उड्डयन, आरोहण, समग्र आत्यन्तिक अन्तर है, चेतना के नये आयाम में प्रवेश और स्थिति है—A quantum jump of consciousness into the other dimension. उसको सहन-वहन-धारण करने के लिये तो फ़ौलादी नाड़ीतंत्र और विशुद्ध व सुदृढ़ रसायनतंत्र चाहिए।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"

भीतरी तैयारी के लिये अपेक्षित तपस् किये बिना ही जो लोग कोरे कुतूहल से शीघ्रता के नाम से असमय, अयोग्य रीति से शक्तिपात आदि प्रक्रियायें करा लेते या करते हैं वे मनोभौतिक विकृतियों के शिकार बनते हैं; उन्माद होता है, nervous breakdown होता है। मनःशारीरिक शक्तियों का ह्रास होता है। इसके सैकड़ों उदाहरण भारत तथा विदेशों में देखने में आते हैं।

प्रश्न—मैं कोई संकल्प व निश्चय करता हूँ, किसी काम की योजना बनाकर उसे करने लगता हूं तो दो-तीन महीने से आगे वह चल नहीं पाता। अपनी ही योजना और निश्चय के अनुसार सातत्य से कार्य करना हो सके इसके लिये क्या करूं?

उत्तर—अरे भाई, दो-तीन महीने तो अपने संकल्प पर टिक पाते हो न! इतना भी भला है। कुछ लोग तो रात को किये संकल्प पर अगले दिनभर भी टिक नहीं पाते, मिनट-मिनट में संकल्प करते और बदलते रहते हैं। आप दो महीने टिकते हैं तो फिर-फिर संकल्प करके दो-दो महीने की शृङ्खला चला लीजिये। अपना स्वभाव पहचान कर युक्ति निकालिये। बात यह है कि बहुत करके मनुष्यों को अभी तक स्वातंत्र्य सहन नहीं होता। स्वतंत्रता से अनुशासित रहने की आदत नहीं पड़ी है। जब हम अपने आप में अकेले हों, अपना कोई काम करने का भी कोई दबाव हम पर न हो, ऐसी स्वाधीन दशा में हमारा कोई संकल्प या अभिक्रम टिक नहीं पाता, क्योंकि दबाव से प्रतिक्रिया रूप में ही कोई भी कार्य करने की आदत पड़ी है। परिस्थिति में दबाव न हो तो हम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपनी ओर से नियम-व्रत आदि के रूप में दबाव पैदा करते हैं, फिर उनके प्रति प्रतिक्रियायें करते चलते हैं। आप का संकल्पानुसारी अभिक्रम दो-तीन माह टिकता है तो पुनः-पुनः वही संकल्प करके सातत्य बना ले सकते हैं।

"केल्याने होत आहे रे आधी केले हि पाहिजे"

(करने से होता है रे, पहले करना ही चाहिये !)

यह भी कर सकते हैं आप कि कोई सुपरिचित सत्संग-स्थान, आश्रम आदि हो, जहाँ जाने-रहने में आप की स्वाधीनता बिकती न हो, यानी किसी का 'चेला' बनना न पड़ता हो, वहाँ जाकर साल-सवा साल रहकर अपने निश्चयानुसार क्रम चालू रखकर देखें कि वहाँ आप अपने निश्चय पर अधिक सातत्य से टिक पाते हैं या नहीं ? वहाँ भी फिर दो महीने पर अभिक्रम शिथिल होने लगे तो अपने किसी आप्तजन या सत्संगी वरिष्ठ जन के पास अपनी कठिनाई कहें, उस पर चर्चा करें तो पुनः कोई रास्ता निकलेगा जिससे संकल्पानुसार कर्म सतत किये जाने को बल मिलेगा। परस्पर अपनी समस्या कहने और नेक सलाह व प्रोत्साहन मिलने से बल बढ़ता है।

प्रश्न—हमारे सम्बन्ध की किन्हीं बातों से किसी व्यवहार से, कार्य से दूसरों को वैषम्य, दुःख लगता हो, उससे उनको शारीरिक-मानसिक कष्ट होता हो तो उसकी जिम्मेवारी हम पर आती है क्या ?

उत्तर—बिल्कुल नहीं। **It is their funeral, let them attend to it.** इस प्रश्न के भीतर छिपी है प्राचीन उक्ति—"परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्" पूछना चाहते हैं आप कि दूसरों को पीड़ा पहुँचे तो हमें पाप लगेगा क्या ? भाई, दूसरों को दुःख देने का हेतु आपके मन में है क्या ? वह हेतु ही पाप है। **That which divides you from others is sin.**

यदि दूसरों का अपमान करने, उपेक्षा करने, दूसरों को कष्ट देने का हेतु आपके चित्त में हो तो उसमें से जो निष्पन्न होगा वह पाप है। पर तुम्हारे अपने जीवन से यदि किसी को दुःख होता हो, किसी को तुमसे अपनी तुलना करने के कारण वैषम्य प्रतीत होता हो, तो वह उसकी खड़ी की हुई उसके चित्त की समस्या है। हेतु के सिवा पाप-पुण्य नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सच कहूँ तो जीवन-साधक को 'पाप'-'पुण्य' की बहुत चिन्ता नहीं करनी चाहिए 'पाप'-'पुण्य' की परम्परा-प्राप्त व्याख्याओं में नहीं उलझना चाहिये। ज्ञानदेव ने कहा "उस पापात्मक पुण्य से स्वर्ग जाना होता है" फिर "पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आना होता है"।

यह तो स्वाभाविक सहज औचित्य ही है कि समाज में सबके साथ हमें रहना है तो परस्पर किसी को दुःख क्यों दिया जाय! पर यदि कोई अपने ऊपर दुःख ओढ़ लेता है तो उसकी जिम्मेवारी हमारी नहीं।

समाज के घटक होने के नाते इतनी जिम्मेवारी हमारी अवश्य है कि किसी को दुःख न दें।

प्रश्न—बेटे-बेटियों-नाती-पोते-रिश्तेदारी-कुटुम्ब की सुखसुविधा देखते हुए घर चलाने वाले मुझ जैसे वयस्य के लिये कौन-सी साधना लाभकर होगी? (१) केवल आधा घण्टा मौन, (२) दिन में दो बार विपश्यना, (३) इष्टदेव की की मूर्त्ति चित्त की आँखों के सामने लाते हुए प्रातः-सायं पूरे मनोयोग से नाम साधना-जप, इनमें से कौन सी साधना लाभप्रद होगी?

उत्तर—साधना में 'लाभ' 'हानि' का क्या सवाल? आपको किसमें आनन्द आता है यह देखें। आप नाती-पोतों तक का उल्लेख कर रहें हैं इससे सूचित है कि उम्र पचास पार कर गयी होगी। अब शेष जीवन तो आप 'स्वान्तः सुखाय' जी ही सकते हैं। जिसभी साधनापद्धति में आपको स्वयं को आनन्द आता हो वह करें; साधना अपने पर दबाव लाकर नहीं, सहजता से ही होनी चाहिये। जीने की कला साधने का प्रमाण है सहजता आना। जो आप करते हों वह सहज़ होता है।

प्रश्न—मेरे कुटुम्ब में एक व्यक्ति हिंसक वृत्ति का है दूसरा व्यक्ति अतिशय नैराश्यबादी और cynic है। गानसोपचारों का भी कोई खास प्रभाव नहीं हुआ है। ऐसे साथी लोगों के प्रति कैसा व्यवहार करें?

उत्तर—ऐसा लगता है कि उन व्यक्तियों को व्याधि का प्रकोप अधिक है, और उनके साथ ही रहना जीना आवश्यक है, उन्हें सँभालने की जिम्मेवारी हम पर है, ऐसी परिस्थिति है जीवन की। तब अपना निरीक्षण करें कि हममें कहीं हिंसक वृत्ति तो नहीं है। क्योंकि हमें व्याधिग्रस्तों के साथ रहते हुए अपने व्यवहार द्वारा ही उनका उपचार करना है। उनके सामने हमारी उपस्थिति भी उपचार बने, उपस्थिति की भाषा, दृष्टि की भाषा उन्हें राहत पहुँचाये। इसलिये हमारी पहलो जिम्मेवारी है कि अपने भीतर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि हिंसावृत्ति की कोई जड़ें पड़ी हों तो उसे खोद निकालें, अहिंसा को भीतर का शील बनने दें। आग्रह से आक्रामकता आती है, आग्रह हिंसा का बीज बनता है। अपने भीतर अहिंसा की प्रतिष्ठा हो तो हमारी सन्निधि में किसी की भी हिंसावृत्ति उभरेगी नहीं।

साधक की दृष्टि से देखें तो अपने भीतर अहिंसा की साधना करने में वह हिंसावृत्तिवाला साथी व्यक्ति मदद करता हुआ प्रतीत होगा। उसकी हिंसावृत्ति से अन्य सबको बचाने के लिये तो आवश्यक उपाय करने ही होंगे, पर हमारे भीतर उसके प्रति क्रोध न रहे प्रतिहिंसा की भावना न उठे। सत्य का सौरभ, आत्मा का लावण्य है अहिंसा। हिंसक व्यक्ति द्वारा किये जाते हुए उपद्रवों को हमें अपनी साधना के अवसर मानना चाहिये। सम्बन्धों को बन्धनापादक न बनने देकर मुक्तिदायक बनाने की शक्ति हममें है। हिंसक व्यक्ति के व्यवहार से हमारा चित्त प्रक्षुब्ध न हो यह हमारे हाथ में है। हमें ऐसा न लगे कि "अरे! क्यों ऐसे व्यक्ति से मेरा पाला पड़ा? वहाँ यदि हिंसक वृत्ति का जोर है तो यहाँ अहिंसक वृत्ति का जोर हो। कहीं आग लगी हो तो उसे बुझाने के लिये पानी की आवश्यकता होती है न! और आग से उस आग का प्रतोकार नहीं हो सकता। एक प्रसंग में मुक्ताबाई ने ज्ञानेश्वर से कहा है।—

"विश्व बना हो जब वह्नि सन्त बने तब पानी।" ऐसे सन्तों के सिखाये हुए तरीकों से अहिंसा जीवन में जीयी जा सकती है।

अब दूसरे व्यक्ति की बात लें, जो घोर नैराश्य से ग्रस्त है। बड़ी करुणाजनक स्थिति हैं। निराशा से गुम-सुम निष्क्रिय जैसे हो गये व्यक्ति के भीतर हिंसा औंधी हो पड़ी है। भय और आक्रमण, दीनता और उद्दण्डता, हिंसा के हो उलटे-सीधे दबे-छिपे रूप हें। वे दोनों रूप एक सिक्के के दो पहलुओं जैसे हैं। ऐसे निराशावादी वा 'सिनिक' व्यक्ति के साथ जींना हो तो एक बात का ख्याल रखें कि उसे कभी न कहे कि "तुम सिनिक' हो, निराशावादी हो।" उसके प्रति केवल अतीव स्नेह का ही व्यवहार करें। स्नेहसिंचन (intentional exprersion of your affection) करते रहें, स्नेह अभिव्यक्त करें। उस व्यक्ति में जो गुण हों उन्हें अभिव्यक्त होने देने के अवसर प्रयत्नपूर्वक खड़े करें। यदि उस व्यक्ति से कुछ काम बिगड़ता हो तो उस पर उसे कोसें नहीं कि 'तू तो ऐसा ही बेकार का है, तुझसे कुछ नहीं होने का।' उसका मूल्य न आँकते रहें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(No value judgement)। उसकी व्याधि का उपचार समझते हुए उसके प्रति स्नेह-अभिव्यक्त होने दें और उसके भीतर जो सृजनशीलता, क्षमता हो उसे प्रकट होने देने के उपाय करें। तब भलीभाँति ऐसे व्यक्ति के साथ रहा जा सकेगा। उससे उस व्यक्ति की व्याधि भी शान्त हो सकती है।

प्रश्न—'हृदयग्रन्थि' क्या हैं ? क्या वह कोई चक्र है ? वह हृदयचक्र वक्ष में बायीं तरफ़ है या दाहिनी तरफ ?

उत्तर—शास्त्रों की एक परिभाषा होती है। शरीर की संरचना का विज्ञान जानना-समझना हो तो शैक्षणिक विद्यासंस्थाओं में सिखाये जाते हुए शरीरविज्ञान—Anatomy-Physiology की अपेक्षा सर्वथा भिन्न प्रकार की अन्तःशरीर-संरचना हठयोग के शास्त्रों में बड़े विस्तार से मिलती है, योगशास्त्र विषयक जिज्ञासा का समाधान उन्हीं शास्त्रीय परिभाषाओं को समझने से हो सकता है, उसे बाह्य स्थूलशरीरविज्ञान के साथ 'संकर' करने से भ्रान्ति होगी।

चीन में एक चिकित्सा पद्धति है—'Acqupressure and Acqupuncture' उस पद्धति के अनुसार पूरे शरीर में सात सौ बिन्दु बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन बिन्दुओं को स्पर्श करने, उन पर दबाव पड़ने से जीवनी-ऊर्जा के प्रवाह का अवरोध हटाया जा सकता है, और इन अवरोधों के कारण आयी हुई बीमारी का उपचार हो सकता है। हठयोग में इस प्रकार के सत्तर बिन्दु कहे गये हैं। भारतीय और पूर्वी-पश्चिमी देशों की अलग-अलग मालिश-पद्धतियों का अध्ययन करें तो अनेकों ऊर्जा-स्रोतों का पता चलता है। किस प्रकार उन्हें स्पर्श किया जाय तो उनमें से जीवनी ऊर्जा के प्रवाहों की मदद ली जा सकती है—यह बताया जाता है।

योगशास्त्र में सप्तचक्रों की बात कही गयी है, पर शरीर की चीर-फाड़ करने से कोई चक्र, कमल, नाभिकमल की ५२ पंखुड़ियाँ, उनमें ५२ अक्षर-मातृका—इत्यादि कुछ भी दिखाई नहीं देगा। गाय के शरीर में जो दूध है वह दोहन की कला मालूम होने पर ही दुहा जा सकता है, काटने से तो रक्त ही दिखेगा। वैसे हो योगशास्त्र की परिभाषाओं का अर्थ समझने एवं उसका विनियोग करने की कला सीखने से ही कुण्डलिनी इड़ा-पिंगला मन्त्र-मातृका-नाद-बिन्दु-स्फोट-कला आदि को समझा जा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकता है। वह विशिष्ट अभ्यास का विषय है। इसलिए हृदयचक्र की शारीरिक स्थिति को कोरे शब्दों से समझाया नहीं जा सकता।

'हृदयग्रन्थि' की बात पूछी है आपने। ग्रन्थि का अर्थ है गाँठ। यह भी सांकेतिक परिभाषा है। संसार के मूलकन्द अविद्या को ही 'गाँठ' कहा गया है। हृदय में स्थित यह गाँठ है 'मैं'-पन की प्रतीति। "मैं कुछ हूँ" "मैं अन्य सबसे अलग हूँ" "मेरी अलग सत्ता है" "उसे, अपनी सत्ता को संभाले रखना है—यह सब जो माना जाता है, वह अहंकार ही हृदय-ग्रन्थि है।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

इससे स्थूल भेदन-छेदन का अर्थ नहीं लिया जा सकता। भ्रम का निराकरण होता है। विश्व की सत्ता किसी व्यक्ति का रूप धारण नहीं करती। वह तत्त्व रूप से सर्वत्र व्याप्त है। वह वैश्विकी सत्ता-विभूतियों के द्वारा अपने को व्यक्त करती है। वही सत्ता मनुष्य आदि प्राणि-शरीरों में से भी व्यक्त होती है। सचराचर सृष्टि के सभी पदार्थों में वही प्रकट हो रहा है। उस सत्ता की विभूतियों को, विविध छटाओं को सुव्यक्त करने के लिये मनुष्य शरीर बना, मन-बुद्धि का विकास हुआ, उसी के द्वारा समाज, राष्ट्र, विविध शास्त्र, दर्शन, शिल्प, कलायें, साहित्य आदि बने। वैश्विकी सत्ता के विभूतिमत्त्व को अधिकाधिक सुन्दर रूपों में व्यक्त करने के लिये क्षमतायें मनुष्य शरीर में भरी हैं, वैश्विकी सत्ता के मुखरित होने का अवसर है यह मनुष्य शरीर; इसे भूल कर मनुष्य अपने को विश्व से अलग और सृष्टि का मालिक मानने लगा, उपभोक्ता-उपभोग्य जैसा सम्बन्ध मानने लगा। यह भ्रम ही ग्रन्थि है।

जो 'है' उसे व्यक्त होने देना, जिसका आदि-मध्य है उसका अन्त भी उसी सहजता से होते देखना; संवेदनशीलता से जन्म-वृद्धि-क्षय और मृत्यु के क्षण को भी देखना जिसमें जीवन का साक्षात्कार होता है; जब तक देखते बने जीवन को देखना और जब उसमें पूरी डुबकी लगाने का समय आये तब उसमें विलीन हो जाना—यही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। पर मनुष्य वह होने नहीं देता। "मैंने यह सब किया, इतना परिश्रम करके कमाया या मेरे बाप-दादों की इतनी सम्पत्ति मैंने पायी, सम्हाली, अब इसे छोड़कर कैसे चला जाऊँ?"—क्लेश खड़ा करता है अहङ्कार।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रोज-रोज बहुतों को शरीर छोड़ जाते देखता-सुनता है, जो जन्मता है वह कभी मरने हो वाला है—यह अच्छी तरह जानता है पर अपने पर उसे लागू होने देना चाहता नहीं। अपने साथ उस अकाट्य नियम को जोड़ कर देखता नहीं / यही अहङ्कारमूलक अविद्याग्रन्थि है।

वृक्ष कैसे जीते हैं ? नन्हें से बीज में पड़ा वट, अश्वत्थ आदि विशाल वृक्षों का सत्त्व धरती में लीन होकर पञ्चतत्त्वों में से जीवन का आहरण-स्वीकार करते हुए कैसे धीमे-धीमे बढ़ता हुआ विशाल-विराट् बनता है। उसमें कभी पल-पल 'मैं हूँ' 'मैं बढ़ रहा हूँ' "ये मेरी शाखायें मेरा तना, मेरे पत्ते, मेरे फूल, मेरे फल हैं"—ऐसी रटना नहीं होती। सागर के खारे पानी से भाफ के गोले बनकर उठते फिर मीठा पानी बरसाने वाले मेघ, जहाँ-तहाँ बरसे जल को, गलते हिम को बहा लाकर सभी प्राणियों को जीवन देने वाली लोकमातायें सरितायें, सारे विश्व को प्रकाश, ऊष्मा और पोषण देने वाले सूर्य-चन्द्र, सबको अपने वक्ष पर धारण किये हुए सतत अपना निधान देती रहने वाली, सब के सब उत्पात क्षमा करती हुई मातृवत् भरण ही करने वाली धरित्री—ये सभी तो निरन्तर जीवन की सर्वव्यापिनी अद्वय सत्ता की गाथा गा रहे हैं, कोई अपनी पृथक् अहन्ता नहीं जताते। केवल मनुष्य ने 'अहम्' 'मम' की रट लगाते-लगाते उसे पक्का-जैसा बना लिया है। **It is a wrong term that human civilisation has used in extending the idea of a seperate entity from the biological to the psychological world.** यह एक ग़लत अवास्तव प्रयोग है जिसे मनुष्य जाति ने पृथक् सत्ता की भावना के विस्तार के लिये शारीरिक स्तर से मानसिक जगत् तक फैला दिया है।

शरीर के भीतर संस्कारों के प्रवाह में, इन्द्रियार्जित ज्ञानों के प्रवाह में कोई 'संस्कारित' 'ज्ञाता' व्यक्ति है विचारों के प्रवाह में कोई 'विचार करने वाला' 'चिन्तक' है—ऐसा मान लिया है। **A conceptualisation grafted on the perceptual world** और फिर इस 'हृदय ग्रन्थि' से मुक्त कैसे हों—इसके लिये दूसरा पसारा ख़ड़ा करता है मनुष्य।

देह अवश्य अलग-अलग हैं भाई ! इन अलग-अलग देहों में विहरते-झाँकते चैतन्य के जीवन-खेल के लिये व्यवहार में अलग-अलग नाम दिये जाते हैं। पर इन देहों के भीतर पहले जीवन में तो कोई स्त्रीत्व-पुरुषत्व, बालत्व-वृद्धत्व नहीं। उस जीवन चैतन्य को तो देह सीमा का कैदी नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माना जा सकता। नाम-रूप-गुण देह के हैं, पर सब देहों में भीतर देही रूप से जीवन जीने वाला देही एक है जो 'नित्य अवध्य' है। कभी खण्डित नहीं होता। "उसे अग्नि जलाता नहीं, पानी भिगोता नहीं, शस्त्र काटते नहीं, वायु उड़ाता या सुखाता नहीं।" क्योंकि वह सत्ता है।

सरोवर में से लहरों को लेने चलें तो अञ्जलि में जल ही आता है, वैसे ही सभी इन्द्रियों द्वारा जीवन की जिस भी अभिव्यक्ति को स्पर्श या ग्रहण करने जायें, सत्ता ही दिखाई देती है। यह बोध एक बार हो जाय तो! देह में रहते-रहते ही ज्ञान-अनुभव-संस्कार-विचार विभिन्न विषय आदि का उपयोग करते हुए भी कोई ग्रन्थि नहीं बँधती। जैन आगमों का बड़ा सुन्दर शब्द है—'निर्ग्रन्थ', केवली अवस्था को वे निर्ग्रन्थ अवस्था कहते हैं। विनोबाजी शब्द का खेल करते हुए कहते थे कि ग्रन्थ-प्रामाण्य छूटना यानी निर्ग्रन्थ (ग्रन्थ-रहित) होना!

प्रश्न—क्या पूर्व जन्म, पूर्व कर्म, पूर्व संस्कार प्रबल होते हैं? वैसा हो तो इस जीवन में शिक्षण व संस्कार देने का महत्त्व कितना-सा है? शारीरिक व्याधि पूर्व कर्मों का फल है क्या? मानसिक व्यथा अपनी निर्मिति है या प्रारब्ध की? कुछ व्यथाओं का शान्तिपूर्वक विसर्जन करने पर भी वे पुनः पुनः क्यों उद्भूत होती हैं?

उत्तर—हमारा शरीर अवश्य पूर्व संस्कारों का फल है; यह प्रारब्ध है। माता-पिता से शरीर मिला है अवश्य, इसलिये उनके गुण-दोष, उनकी अतृप्त वासनायें-कामनायें, चित्त की प्रकृति आदि तथा कोई-कोई व्याधि भी शरीर के साथ चली आती हैं। विज्ञान ने यह प्रमाणित करके दिखाया भी है कि कहाँ तक वह जाता है। शरीर व मन पूर्व कर्मों तथा पूर्व संस्कारों के फल रूप प्रायः होते ही हैं। विचार-पुंज अपने अनुरूप स्थिति वाले माता-पिता को चुन लेता है। फिर माता-पिता और वंश के अनुसार शरीर की गठन, शरीर में भरे हुए सब संस्कार साथ आते हैं। अतः ये प्रबल हैं ही। उनमें हजारों वर्षों की गति भरी हुई है केवल इस शरीर के माता-पिता-वंश की नहीं, सम्पूर्ण मनुष्य जाति के संस्कारों की गति है इन सहजात पूर्व संस्कारों में। तहों पर तहें जमी हुई हैं संस्कारों की। यह संस्कार-गति हमारे अधीन नहीं हैं। इसी आशय से कहा गया है—

"प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस पर आपका पूछना है कि फिर शिक्षण और शुभ संस्कार देने का क्या महत्त्व है ? ऐसा है कि बालक के तीसरे-चौथे वर्ष में ही उसकी वृत्तियों व क्रिया-कलापों से अन्दाज़ आने लगता है कि उसमें कौन-से संस्कार जाग रहे हैं। बालक में कहाँ कौन-सी कमी है, क्या कमज़ारियाँ हैं, कोई टेढ़ा-मेढ़ापन है ? या कौन-सी विशिष्टता, विशेष शक्ति (talent) है—यह सब दिखने लगता है। उस विशेष शक्ति का जतन, संगोपन करने, उसे सम्यक् दिशा देने और जो कमियाँ या वक्रतायें हैं उन्हें हटाने के लिये शिक्षण का उपयोग है, आवश्यकता है।

Dodging the weaknesses, encouraging the excellences.—यह तो हम कर ही सकते हैं। शुभ-संस्कार-सिञ्चन के सिवा, अशुभ के निराकरण का कोई मार्ग नहीं है। इसलिये बचपन में चौथे-पाँचवें वर्ष से लेकर पन्द्रह-सोलह वर्ष के होने तक यदि सम्यक् रीति से शुभ-संस्कार सींचने वाला वातावरण, अवसर, सुयोग और अभिभावक-शिक्षक व्यक्ति मिलें तो बच्चों का भीतरी-बाहरी गठन सुन्दर हो सकता है। उन्हें जीवन को ओर देखने की समग्र दृष्टि दी जा सकती है; उनके शरीर की शक्ति और मनोबल वढ़ाने के उपाय किये जा सकते हैं। पूर्व संस्कार व्यक्त होने लगें तब शिक्षण की मदद से, शुभ संस्कारों की मदद से, पूर्व संस्कारों में जो अशुभ हो उसकी गति का शिकार यह जीवन न बने, अशुभ क्षीण हो और शुभ का बल बढ़े—यह किया जा सकता है। अशुभ की गति को पहचानने, उससे सावधान रहने की शक्ति आती है मनुष्य में। इसलिये शिक्षण और संस्कार देने का महत्त्व अपार है।

शिक्षण वस्तुतः प्रारम्भ हो जाता है गर्भाधान के क्षण से ही। **Education begins from the very moment of Conception. Prenatal Condition** (जन्म से पहले—गर्भदशा) में भी शिक्षण सम्भव है। इसलिये मैं जो शुभ-संस्कार-सिंचन की बात कहती हूँ वह केवल नर्सरी, किंडरगार्टन, पाठशालाओं की नहीं, जन्म के प्रारम्भ से लेकर किशोर युवा होने तक यदि माता-पिता-अभिभावकों एवं शिक्षकों के द्वारा शुभ संस्कार दिये जाते हैं तो प्रारब्ध-प्राप्त पूर्व-संस्कारों को वश में लाने की शक्ति मनुष्य में आ जाती है।

शारीरिक व्याधि यदि आनुवंशिक हो तो उसे पूर्वकर्मों का फल या प्रारब्धप्राप्त कहा भी जा सकता है। किन्तु अधिकतर शारीरिक व्याधि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने शरीर से परिचय न होने के कारण होती है। अन्न या आहार का औषधि रूप में उपयोग करने और स्वास्थ्य-आरोग्य के अनुरूप आहार-विहार करने का भान नहीं रखा जाता—इसी से ९० प्रतिशत व्याधियाँ आती हैं। जीवनचर्या, ऋतुचर्या, दिनचर्या में सुसंगति, व्यवस्था रहे, आहार-विहार-निद्रा-जागृति सम्यक् और संयत रहें तो आरोग्य स्वाभाविक है। आनुवंशिक रूप से शरीर में आयी हुई व्याधियों का भी वेग कम किया जा सकता है, फिर भी वे व्याधियाँ कब किस आयु में प्रबल हो जायेंगी कहा नहीं जा सकता।

मानसिक व्यथा अवश्य हमारी अपनी निर्मिति है। घटनाओं की ओर देखने की हमारी दृष्टि, उन घटनाओं के साथ जीने की हमारी वृत्ति और रीति, इन्हीं में से व्यथा उत्पन्न होती है। व्यथा यानी दुःख की निरन्तरता। दुःख स्वयं क्षण-भर का होता है! किसी ने कुछ कटु या अपमानजनक कह दिया या हमारी अपेक्षा से विपरीत कुछ घटित हुआ, उससे चित्त में आघात लगा, क्लेश हुआ। वह स्वाभाविक है। किन्तु उस क्लेश के क्षण को हम स्मृति द्वारा स्थिरता दे देते हैं। इस क्षण का क्लेश अगले क्षण तक गया कैसे? उसे सातत्य किसने दिया? 'मुझे यह दुःख हुआ' इसे दोहराते हुए उस दुःख की अनुभूति को हम लम्बी बनाते जाते हैं। आदत पड़ी है इसकी। It is the habit of Converting event into experiences of pleasure or pain, that stimulates the imaginary continuity. Pain is a fact, suffering is created by the man.

Religion is nothing but ending the psychological pain and suffering. दुःख-व्यथा का अन्त लाने के लिये ही धर्म है। दुःख-व्यथा का जन्म तभी होता है जब हमारे चित्त में किसी से—व्यक्ति या समाज से कोई अपेक्षा हो। मानवीय सम्बन्धों में, एक दूसरों के साथ जीते समय हम क्यों किसी भी प्रकार की अपेक्षा किसी से रखें? जब हम स्वयं ही अपने आप को पूरी तरह नहीं जानते हैं, तो दूसरों से कोई अपेक्षा कैसे रख सकते हैं? अपेक्षाओं के मूल में है अपने चित्त में बँधी हुई अपने बारे में कोई धारणा। Recognition of that image by others gives us pleasure. स्वयं बनाई हुई अपनी प्रतिमा को जब उसी रूप में दूसरे लोग सराहते हैं—तब हमें हर्ष होता है, सुख होता है, सुरक्षा प्रतीत होती है। उस हमारी प्रतिमा या धारणा को यदि किसी ने पहचाना नहीं और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सराहा नहीं, उसकी उपेक्षा हुई, या वह धारणा ग़लत है—ऐसा किसी ने कह दिया, तो हमें आघात लगता है, दुःख होता है। अध्यात्म है अपने बारे में किसी भी प्रकार की धारणा, मान्यता, प्रतिमा न बनाते हुए जीना। यही मौन का अर्थ है। There is a movement of knowledge in you without creating a knower, movement of experiences in you without creating an experiencer.

आप ने ज्ञानार्जन किया, पर 'मैं ज्ञानी हूँ' ऐसी अपनी मूर्त्ति नहीं बनाई; धर्म जीये पर 'मैं धार्मिक हूँ' ऐसी अपनी प्रतिमा नहीं बनाई—तो कुछ बिगड़ेगा तो नहीं न! सौम्यता-स्निग्धता-सज्जनता जीवन में प्रति-पल बनी रहे पर "मैं सौम्य हूँ, सबके प्रति स्नेह रखता-बरतता हूँ, मैं सज्जन हूँ"—ऐसी अपनी प्रतिमा न बनाई हो, तो किसी के किसी आचरण या व्यवहार से आप को धक्का क्यों लगेगा? दुःख-व्यथा का निर्माण होता है उन प्रतिमाओं को धक्के लगने से। हमारी अधिकतर क्रियायें और व्यवहार अपनी प्रतिमाओं को प्रदर्शित करने के ही होते हैं और चित्त में यही उधेड़-बुन व कल्पना चलती रहती है कि कब कौन सी प्रतिमा किस तरह प्रस्तुत करने से लोगों को पसन्द आयेगी? हम असल में जो हैं, जैसे हैं, वैसे सबके सामने आना नहीं चाहते। जबकि होना वही चाहिये कि हम जो हैं वैसे ही भीतर-बाहर में कोई अन्तर न रखते हुए सहज व्यवहार करें, किसी को पसन्द आयेगा, किसी को नहीं आयेगा, कोई ईर्ष्या-द्वेष भी कर सकता है। पर वह सब दूसरों की समस्या रहे। हम दूसरों का भार क्यों ढोते रहें? किसी न ईर्ष्या की या क्षुद्रता से हमारे साथ बर्ताव किया, तो उससे हम क्यों दुःखी हों? मेरी समझ में नहीं आता।

दूसरों से किसी व्यवहार की अपेक्षा में अवश्य ही अपने बारे में अपनी योग्यता-अयोग्यता आदि की कुछ धारणायें कारण बनती हैं। दुःख का मूल वह है। दूसरा दुःख का कारण यह है कि हम भले ही खुली आँखों से देख रहे हैं कि यह जो नाना-नामरूपात्मक जगत् हमारे सामने है यह निरन्तर गतिशील है, इसलिये इसमें सतत कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। 'सर्वम् अनित्यं, सर्वं क्षणिकम्।' इस क्षण जो वस्तु या वृत्ति है वह दूसरे क्षण नहीं है। यह हम देखते हैं। प्राणियों को मरते हुए देखते है, फिर भी न जाने क्यों माने रहते हैं कि हम और हमारे परिवार के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोग मानों मरेंगे नहीं। इसीलिये अपना निकट का कोई व्यक्ति मरता है तो लगता है भारी अनर्थ हो गया।

इस के पीछे यह वृत्ति है कि हम परिवर्तनशीलों में भी किसी अपरिवर्तनीय की खोज या चाह करते हैं। किन्तु वह खोज ऊपरी छिलकों में ही रुक जाती है जो हमेशा बदलते रहने वाले हैं; इसीलिये दुःख होता है। आज कोई मीठा बोल रहा है वह कल भी वैसा मीठा ही बोलेगा ऐसी आशा कैसे रखी जा सकती है? कोई आज कटु बोला है तो वह कल भी कटु ही रहेगा ऐसा किस बल पर मानेंगे? इसलिये बीते कल और आने वाले कल को न सोचते हुए आज जो सामने है उसे समुचित प्रतिसाद देते हुए जीना चाहिये। उसमें सुख हो तो स्वीकार, दुःख हो तो दुःख को भी जी लेना है। आँसू बहें तो भी हर्ज नहीं। किन्तु इस क्षण या आज के दुःख को दूसरे क्षण या दिन तक लम्बाना, ढोते रहना जीवन के प्रति अपराध है। क्योंकि जो क्षण या दिन है वह तो जीवन की शाश्वती का ही नया-नया रूप है। दूसरे का पहले से कोई सम्बन्ध नहीं है।

"क्षणे-क्षणे नवनवतामुपैति"—वह जीवन का सौन्दर्य है। इसलिये वर्तमान क्षण में जो सामने हो उसे अपनी समग्रता उँडेल कर जी लेना चाहिये। और फिर उसे वहीं निःशेष कर देना चाहिये, उसकी स्मृति बनने ही नहीं देनी चाहिये। **Live it and die to it!** तब कैसे दुःख या व्यथा बनेगी? किसी से कोई अपेक्षा न हो तो वह अपेक्षा पूरी न होने का दुःख क्यों होगा?

All psychological suffering is an escape from the responsibility to live. वास्तव में दुःख-व्यथा जीवन जीने के कर्म से पलायन है इसलिये व्यथा मनोनिर्मित है। किन्हीं व्यथाओं का शान्त बुद्धि से विसर्जन करने पर भी यदि हम व्यथाओं के कारण को समझते नहीं, तो व्यथा का अन्त नहीं हो सकता। अध्यात्म का धर्म है व्यथा का अन्त। दुःख होने पर भी वह व्यथा न बने। **Ending of suffering is the content of Relegiosity. There may be pain but not suffering.** जीने के कर्म में इतनी समझ अन्वित होनी चाहिये।

इसकी पराकाष्ठा का एक उदाहरण दूँ?

१९८२, अमेरिका में 'ओहाई' में श्रीकृष्णमूर्त्ति की सभा चल रही थी; प्रश्नोत्तरी एवं विचार-विमर्श हो रहा था। एक सज्जन ने कुछ क्रोध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से कहा—"आप इतना कुछ मन से ऊपर रहने की बातें कहते हैं, पर मैं कैन्सर से मर रहा हूँ।" उसके चित्त में दुःख भरा था कि कैन्सरग्रस्त होकर अकाल ही मरना पड़ेगा। J. K. ने बड़ी शान्ति से उसकी ओर देखकर कहा—"No Sir ! you are standing here, not dying."

मृत्यु का क्षण तो जब आयेगा तभी एक बार ही आयेगा, लेकिन उस व्यक्ति के चित्त में यह विचार चालू था कि 'मैं मरने वाला हूँ' 'जल्दी मरने वाला हूँ।' 'कैन्सर से मरने वाला हूँ।'—यही निरन्तर सोचता रहता था वह व्यक्ति।

वर्तमान में जीना बड़ा तप है। भूतकाल की स्मृतियों से वर्तमान जीवन प्रदूषित न हो, और भविष्य की उधार कल्पनाओं की छाया से भी ग्रस्त न हो। सावधान होकर समग्रता से, जो जीवन सामने उपस्थित हो उसे खुली आँख और दिल से देखें, निहारें, समुचित प्रतिसाद दें, समस्या हो तो उससे जूझ लें, और उसी-उसी क्षण में उसे समाप्त होने दें। यही जीवन-कला योगीजन साधते हैं। देश, काल व परिस्थिति के सुख-दुःख-कष्ट का प्रभाव शरीर पर पड़ेगा, शरीर बालक-युवा-वृद्ध-जर्जर होगा, एक दिन मृत्यु की घटना में से गुज़र जायेगा। योगी के शरीर पर भी वह होगा, किन्तु उसकी चेतना में, मानस काया पर वे संस्कार अङ्कित नहीं होंगे। और एक बात याद आती है। काश्मीर में १९५९ में J. K. का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, काफ़ी बीमार थे। बहुत कष्ट था, उठकर चल-फिर नहीं सकते थे। पहलगाँव से श्रीनगर आये थे, श्री करणसिंह के राजमहल में थे। उस समय मैं भी दादा धर्माधिकारी के साथ काश्मीर में थी, दादा के साथ ही श्रीकृष्णमूर्त्तिजी से मिलने गयी थी। शायद शंकरराव देव भी साथ में थे। तब सहज ही दादा ने कहा—"आप को कितना दुःख-कष्ट होता होगा।" इसी में 'suffering' शब्द दादा के मुख से निकला। J. K. ने तुरन्त पकड़ा, और कहा—"No, No Sir ! the pain is only in the knee....and the needful is being done, it is not here !"

"व्याधि का कष्ट शरीर में है, मुझे नहीं।" (मेरे मन में वह व्याधि नहीं घुसी है।)—ऐसा अन्तर यदि हमें करना आये तो समझिये कि जीने की कला सध गयी है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री जे० कृष्णमूर्त्ति से सम्बद्ध प्रश्नोत्तर

प्रश्न—पिछले बीस वर्षों से मैं श्री जे० कृष्णमूर्त्ति के ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन कर रहा हूँ। उनके प्रवचन भी बहुत सुने हैं। कोई मुझ से पूछे तो श्री कृष्णमूर्त्ति के प्रतिपादन एवं मन्तव्य के बारे में भरपूर बोल भी सकता हूँ, उनसे साक्षात् मिला भी हूँ। उनसे मैंने कहा भी था कि—आपकी बात मेरी समझ में तो आई है, आपका मन्तव्य मैं दूसरों को भलीभाँति समझा भी सकता हूँ, किन्तु खेद है कि मेरे अपने जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया। तब श्री कृष्णमूर्त्ति जी ने मेरी पीठ थपथपाई और हँसते-हँसते कहा—"It will happen." (वह होगा!) पर उस बात को भी आठ वर्ष बीत गये, आज भी मैं वैसा का वैसा ही हूँ। हताश-निराश हो गया हूं। (क्या करूँ ? कैसे रहूं ?)

उत्तर—यह प्रश्न पढ़कर आनन्द हुआ कि इतनी प्राञ्जल प्रामाणिकता और इतना नैतिक साहस आप के हृदय में है। अधिकतर लोगों को तो यह दिखाने और आडम्बर करने में गौरव प्रतीत होता है कि हमें इतना ज्ञान है। और ये सज्जन स्पष्ट स्वीकृति सबके सामने कर रहे हैं कि वे जो कुछ जान-समझ पाये हैं, कह भी सकते हैं, वह स्वयं अपने जीवन में घटित नहीं हुआ है। सत्यार्थी व्यक्ति ही यह कर सकता है। इसलिये पहले तो मैं प्रश्नकर्ता का हृदयपूर्वक अभिनन्दन करती हूँ कि अपनी आन्तरिक दशा व मनःस्थिति का ऐसा वस्तुनिष्ठ (objective) दर्शन वे कर पा रहे हैं। जो समझा है वह अपने जीवन में घटित नहीं हुआ है—इसका भान उन्हें है, यह भी बहुत बड़ा सुभाग्य है। दम्भ-पाखण्ड से वे इसी जीवन में सर्वथा सही-सलामत बच गये हैं यह ईश्वर का महान् अनुग्रह है।

एक प्राचीन 'अभङ्ग' (मराठी भजन पद) स्मरण हो आता है :—

"पण्ढरी चा वाटे जाऊँ नका कोणी भेटेल महाभूत तेथे !"

[पण्ढरपुर के रास्ते जाये न कोई ! लगेगा महाभूत गले वहाँ भाई !]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अरे ! पण्ढरपुर के रास्ते कोई मत जाना ! वहाँ एक ऐसा भारी काला भूत (पाण्डुरङ्ग, विट्ठल) पकड़ कर चिपक जाता है कि फिर छुड़ाये नहीं छूटता । जन्मोजन्म वह भूत उतरता नहीं ।

ऐसे ही, लगता है कि श्री जे० कृष्णमूर्त्तिजी की वाणी के पल्ले न पड़े कोई । एक बार उस वाणी का दंश चित्त में लग गया तो लाख प्रयत्न कर लें, उस वाणी में स्थित सत्य का दंश कभी उतारा नहीं जा सकेगा । एक बार उस वाणी का स्पर्श हुआ हो तो फिर आप जहाँ के तहाँ नहीं रह सकेंगे ।

You cannot be the same after you have stumbled across him. क्योंकि वे जग से निराले व्यक्ति, जग से निराले योगी थे । भारत में दक्षिण में एक निर्धन परिवार में जन्म हुआ था, १०-११ वर्ष के होते न होते थियॉसॉफ़िकल सोसाइटी के वरिष्ठों द्वारा उनमें विशिष्ट विभूति के बीज देखे जाने के कारण परिवार से अलग कहाँ के कहाँ ले जाये गये, विदेशों में रखा गया—इंग्लैण्ड में, फ्रांस में, इटली में । उनकी चेतना पर एक अलग ही प्रकार की संस्कृति अंकित की गयी । यहाँ के जो आनुवंशिक संस्कार शरीर-मन-मस्तिष्क में समाये हुए थे उन्हें सर्वथा निर्मूल तो किया जा नहीं सकता था । उस पर विज्ञानमूलक, विज्ञाननिष्ठ, तर्कबुद्धि-निष्ठ संस्कृति विकसायी गयी । इसलिये उन की चेतना में एक विलक्षण अनोखा रसायन बना । कोई परम्परा उन्हें छू नहीं सकी । थियाँसोफ़ी की भी परम्परा उनकी चेतना को दूषित नहीं कर सकी । ऐसी विलक्षण विशुद्ध चेतना की दशा उनमें रही ।

उन महान् चेतस्वी व्यक्ति से मेरा कुछ सम्पर्क अवश्य रहा । उनके संस्था-संगठनों से क़तई सम्बन्ध नहीं रहा । १९५६ के दिसम्बर से १९७१ तक बीच-बीच में अनेकों बार मिलना-जुलना, वार्तालाप, साथ बैठना, विचार-विमर्श होता रहता था । बहुत निकट से उनका जीवन देखना हुआ । इसीलिये कह सकती हूँ कि जग से निराले अनोखे महा-मानव थे वे ।

पहली बात जो उन्हें अभिप्रेत थी, जो उन्होंने १९२९ में हॉलैण्ड के 'ओमेन्' शहर में एक विराट् परिषद् में कही थी वह थी—"I would like to set man unconditionally free........"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"मनुष्य को सर्वथा निरुपाधिक रूप से मुक्त होना बता सकूं—इसके सिवा मुझे कुछ नहीं चाहिये। मनुष्य की मुक्ति सशर्त नहीं, बिनशर्त होनी चाहिये। वह मुक्ति मैंने देखी है, उसका रस चखा है। वह रस और लोग भी चख सकें—इसी के लिये मेरा बोलना, देश-विदेश घूमना और इसी के लिये मेरा जीना समर्पित है।"

इस प्रकार १९२९ में वे बोले कि मनुष्य को आन्तरिक चैतसिक मुक्ति मिलनी ही चाहिये। ऐसा कहने एवं समग्रता से चाहने वाले व्यक्ति के पास जाने से पहले सोचना चाहिये कि उस मुक्ति की अभीप्सा हमें है भी ?

"I have seen the beloved, I and the beloved are one" १९२५-१९२६ में एक कविता में श्री कृष्णमूर्ति ने लिखा था। "मैं और किसी का नहीं, वह जो मेरा जीवनसखा है उसी का मैं हूँ, वही मेरा है।" देह छोड़ने के दिन, देह छोड़ने से कुछ ही समय पहले उन्होंने कहा था—"I belong to no race, no Religion. I belong to no nation. I am a simple human being. Cremate the body in simple way without any ritual. I would be a piece of wood; when I am gone. No speeches, nothing of that nonsense !" जो १९२९ में कहा था, वैसा ही देह छोड़ने से दो घण्टे पहले कह गये। यह सन्दर्भ मैं उद्घृत कर रही हूँ इसलिये कि उन्हें मनुष्य की निरुपाधिक मुक्ति, वैश्विक चेतना, संस्कारातीत-संस्कारमुक्त चेतना में मनुष्य-चेतना का लीन होना—merging into supreme Intelligence इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिये था। मुक्ति में आप आन्तरिक दृष्टि से किसी भी कुल, देश, जाति, धर्म के नहीं रहते। ऐसी चेतना की उन्मुक्त उड़ान, अहंकेन्द्र का सर्वथा न रहना आप को अभीष्ट है क्या ? केवल जन्म और मृत्यु के क्षणों में ही अकेले रहना नहीं, बल्कि जबतक जीवित हैं—पूरे जीवन भर भीतर अन्तस्तल में निपट अकेले अपने आप में रहना आप सचमुच चाहते हैं क्या ?

उन अनोखे महामानव के कहने का दूसरा मुद्दा यह था कि—यह जो मुक्ति है उसमें विचार या प्रतीति अथवा प्रत्यय के लिये कोई प्रामाण्य नहीं चाहिये; ग्रन्थों का नहीं, व्यक्तियों का नहीं, धार्मिक विचारधाराओं या सिद्धान्तों का भी नहीं। स्वयं के लिये भी कहते थे कि "तुमलोग मेरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बातों का भी प्रामाण्य न मानना !" १० जनवरी १९८६ के दिन बड़ी आर्द्रता से हृदय की गहराई से बड़ी आजिजी से क्या कहा था उन्होंने वसन्त विहार अड्यार में ? उनके घनिष्ठ निकट के व्यक्तियों ने उनसे पूछा था कि आप का अन्तिम सन्देश क्या है ? तब उन्होंने कहा—

"Sir ! please drop me when I am dead. Do not make a God out of me. I have not allowed a cage built arround me while I was alive. Please do not built a cage when I am gone." "अपनी सामान्यता सम्हालते-सम्हालते मैं जिया हूँ, मेरे जाने के बाद कहीं मुझे 'देव' या 'भगवान्' मत बना देना ! मेरी मूर्ति और संग्रहालय मत बनाना । मुझे छोड़ देना ।"

यहाँ तक जो व्यक्ति गया उसे ग्रन्थ-प्रामाण्य अभीष्ट नहीं, व्यक्ति प्रामाण्य नहीं, बुद्धि-प्रामाण्य भी नहीं चाहिये । वह देखता है कि बुद्धि के परे भी ऊर्जा है—अज्ञात, अकथ्य, अनाम, अमाप 'The Other !' उसके स्पर्श के बिना जीवन नीरस, निरर्थक है। क्या आप को ऐसी प्रामाण्य-मुक्ति की इच्छा है ? या और सबके प्रामाण्य को छोड़कर कृष्णमूर्त्ति को ही आप ने प्रमाण बना रखा है । उन्हीं में व्यक्ति-प्रामाण्य, उन्हीं की वाणी का प्रामाण्य तो चित्त में पकड़ नहीं बैठे हैं ? यह टटोल कर देख लें अपने भीतर । सर्वथा प्रामाण्यमुक्ति की अभीप्सा की जगह यदि प्रामाण्य-मुक्ति का सन्देश देने वाले व्यक्ति और वाणी को ही पकड़ बैठे हों तो वही उक्ति चरितार्थ होगी—

"Not knowing how to punish great men, fate punishes them with their disciples and followers. They deny him in the name of devotion and dedication and loyalty; they will be denying the essence of his communications, the essence of the light that he was. The light was shown to us in the human form."

आप ने वही तो नहीं किया न ! शब्दों का संग किया हो तो उनका अर्थ आप के पास दौड़ता आया होगा । जिस अर्थ के साथ जीवन भर का तप था, उस अर्थ को ग्रहण-धारण करना चाहिये न !

प्रामाण्य यदि अन्यों का नहीं मानना है, तो किन्हीं ग्रन्थों के शब्दों का नहीं, यहाँ तक कि अपने मन-बुद्धि का भी प्रामाण्य न पकड़ो । Neither

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

the authority of your thoughtstructure of one yesterday or thousand yesterdays.

क्योंकि जिसे आप 'मन' कहते हैं वह सामुदायिक-सामूहिक संस्कारों का घनीभूतपुञ्ज ही है। What you call the human mind is the total human past, condenced in your body. इससे भी आगे वह एक बात कह गये (जो किसी भी तरह मनुष्यों को रुचती या पचती नहीं) कि व्यक्तिगत मन की कोई हस्ती है ही नहीं ! There is nothing like an individual mind. The 'I', the 'ego' has no factual content; it has a conceptual existence and a conceptual content. मनुष्य की कल्पना के सिवा 'मैं'पन या 'अस्मिता' का कोई अस्तित्व ही नहीं है। उसका दूसरा कोई उपादान ही नहीं है शब्दों या कल्पना, विचार, भावना के सिवा। इसलिये उसे नष्ट भी नहीं किया जा सकता। आप आकाश पर प्रहार करें तो आघात किसे लगेगा ? अहंकार को निर्मूल क्या करेंगे जब उसका मूल कुछ है ही नहीं ! अपने तो जीवन में पसन्दगी-नापसन्दगी की ही गर्जना चलती रहती है। यह मेरा, 'वह तेरा' 'यह मुझे चाहिये, वह नहीं चाहिये'—ऐसा भाव धुन्धुआता रहता है। यह सब धुंआ और प्रतिक्रियायें हमारे अन्तराकाश में छाई रहती हैं। वही छूटती नहीं तो अहंकार, कल्पना, भावना आदि को चित्त में से हटाना या एक तरफ़ सरका देना कैसे होगा ?—यानी इनका प्रामाण्य कैसे हटा पायेंगे ? देह को पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही देह के भीतर भरी भावनाओं को हटाना सम्भव नहीं, क्योंकि वे कोई वस्तु या पदार्थ नहीं है कि उन्हें उठाकर आप खिड़की से बाहर फेंक दे सकें। मिथ्या का मिथ्यात्व पहचानना ही उससे छूटना है। मिथ्या को पहचानने के बाद भी यदि तुम उससे चिपके रहो तो वह तुम्हारा बन्धन बनेगा। प्रिय बन्धन है, उसे आप बनाये रखना चाहते हैं, इसलिये वह रहता है। बन्धन किसी को नहीं बाँधते, पर जो बन्धन मनुष्य को प्रिय लगते हैं उन्हें वह जतन से सम्हाल कर रखे रहता है, उन्हें पालता-पोसता है।

वेद-उपनिषद्-रामायण-महाभारत-श्रीमद्भागवत धम्मपद ग्रन्थ साहब कुरान ए शरीफ़ बाइबल आदि महान् ग्रन्थों ने हजार बातें कही हों, उन्हें एक ओर रखकर आप साधना शुरू करें कुछ न जानने (non-knowing) की दशा से। 'मुझे कुछ भी मालूम नहीं है' The state of pure innoc-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ency, the urge to learn and discover for yourself the content of Truth and Reality. जानबूझ कर, विचार-पूर्वक सब आधार छोड़ दें। सब आधार ग़लत हैं यह तात्पर्य नहीं, उन्होंने मनुष्य जाति को कुछ नहीं दिया ऐसा भी नहीं, पर तुम्हें खोज करनी है न! तो एक बात अवश्य ध्यान में रखनी है कि अध्यात्म जिज्ञासा का विषय है, प्राप्ति का नहीं।

The acquisitive movement of your brain or your mind, may take you to the predestined goal, described by scriptures; but that cannot be your discovery. जो ग्रन्थों में लिखा और सन्तों द्वारा कहा हुआ है उसे हम अपना गन्तव्य स्थान या मंज़िल (लक्ष्य) बनाकर जीवन की नित्य-नूतन दिव्यता से अलग़ हट जाते हैं। उस दिव्यता को कहीं किसी एक स्थान में बाँधकर नहीं रखा जा सकता। हिमालय की तरह कहीं एक दिशा और स्थान में रखी हुई स्थूल सीमित हस्ती नहीं है भगवत्सत्ता कि उसकी तरफ़ जाया जा सके, उसके लिये किसी प्रक्रिया या साधनविशेष का उपयोग किया जा सके। क्या वर्तमान क्षण में 'वह' (the 'Other') नहीं है? 'वह' 'इस' से कहीं बाहर है? Does the 'Other' exclude the present? Is the divinity, the eternity, the infinity of life outside the present moment?

यह प्रश्न उन्होंने मानव जाति के सामने रखा है। वर्तमान क्षण का प्रावरण ओढ़-पहन कर जो अकाल या 'नित्य' 'दिव्य' असीमता अनन्तता तुम्हारे सामने खड़ी है उसे देखना हो तो वर्तमानता का अवगुण्ठन हटाना आवश्यक है क्या? हाँ, वर्तमान में शाश्वत को पहचानना हो तो अपने सारे माने हुए आधार छोड़ देने होते हैं। निर्बल के बल राम।

"अपबल तपबल और बाहुबल, चौथो है बल दाम।
सूर किशोर कृपा तें सब-बल-हारे को हरिनाम॥"

वहाँ निर्बलता का अर्थ बल-हीनता नहीं। निराधारता का अर्थ असहायता नहीं। सब आधार छोड़ने का साहस होने पर भीतर से जो बल मिलता है वह इन सब लौकिक बलों की अपेक्षा बड़ा विलक्षण होता है।

हमें वे सारे आधार छोड़ने हैं क्या? कृष्णमूर्त्ति के शब्दों तक का आधार छोड़ना है? उनके अत्यन्त मोहक व्यक्तित्व, तथा उनके भेदक एवं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेधक प्रकाश-पर्यन्त का सम्पूर्ण आधार छोड़ सकेंगे क्या ? किसलिये ?— कि हमें स्वयं को 'वस्तु' 'सत्य', दिखे, हम स्वयं देख सकें। उनके चश्मे से नहीं देखना है, उनके शब्दों ने जो इङ्गित किया, जो संकेत दिखाये उस तत्त्व की ओर हमें देखना है क्या ? उसके लिये अपने भीतर जो एक निर्दोष रिक्तता चाहिये वैसे आन्तरिक रूप से रिक्त हो रहने का साहस हम करेंगे क्या ? Are we anxious to empty our consciousness, the total part and begin with emptiness within.

यह साहस क्या होता है हमें ? प्रश्नकर्ता ने बड़ा उपकार किया है यह पूछ कर, जिसके कारण हम इस हृदयविदारक परिस्थिति को देखने के लिये तत्पर हुए। मैं कभी श्रीकृष्णमूर्त्ति के विषय में बोलती नहीं, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि कोई उनके शब्दों की व्याख्या करे। His words were the breath of simplicity; the magnificence and elegance of simplicity.

उनके शब्दों पर भाष्य करने की अरसिकता हमसे नहीं हो सकती। किन्तु परिस्थिति यह है कि आस्ट्रेलिया, योरोप अमेरिका और भारत में भी अनेक लोग जो १०-२०-५० वर्ष तक श्री कृष्णमूर्त्ति के प्रवचन सुनते-ग्रन्थ पढ़ते और साक्षात् उनसे मिलते रहे हैं, वे अब मेरे सामने इसी प्रकार के सवाल रखते हैं तो जी कसमसाता है, पर कभी-कभी कुछ कहना ही पड़ता है। जानती हूँ कि कृष्णमूर्त्ति-भक्तों को मेरा कहना रुचेगा नहीं, पर विवश हूँ।

कहना मुझे यही है कि प्रामाण्य-निर्भरता सर्वथा हटा सकने की तैयारी चित्त में होनी चाहिये। प्रारम्भ यहीं से करना है कि हमें कुछ भी मालूम नहीं है। प्रत्येक क्षण में सावधान रहते हुए हम जीवन की ओर देखने वाले हैं। इस देखने के कर्म में से ही हमें जीवन का संस्पर्श होगा। "The communion between the fact and yourself will cause the understanding, sir !" ऐसा J. K. कहते थे। "The beautiful nakedness of your consciousness."

ऐसे अनावृत होकर आप वर्तमान के रूप में सामने खड़े जीवन की ओर देखेंगे। जीवन कभी समस्याओं का भयानक रूप लेता है, कभी संवाद में हँसता है; कभी मिलन बनकर, कभी विरह बनकर, कभी जन्म तो कभी मृत्यु बनकर, नाचता-ठुमकता जीवन हमारे सामने आता है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसे जी भर, आँख भर कर देखें। उस पर अपने भूतकाल के अर्थों का भार न लादें, अपने मन की वासनायें-आकांक्षायें न लादें, केवल देखें उसकी ओर। ऐसा देखना आ जाय तभी फिर वह—"ईंट पर खड़ा विट्ठल बस 'विट्ठल' दीख़ता है उसे न सगुण कह सकते हैं न निर्गुण!" और सगुण कहें तो वह सगुण दिखता है, निर्गुण कहें तो निर्गुण ही दिखने लगता है। उसका 'होनापन' दीखता है।

यह है जीवन की ओर देखना। अपने चित्त में भूतकाल का, ज्ञान का भी आधार नहीं है और आगे कुछ भी प्राप्त करने की 'तमन्ना' नहीं है। तभी सत्य की ओर देखना हो पाता है। भाई! सत्य प्राप्त नहीं किया जाता सत्य की प्राप्ति चाही नहीं जा सकती। You cannot seek Truth. There is a qualitative difference between the acquisitive activity of seeking, and the innocent movement of learning. सीखने की निरामय गति और चाह कर प्राप्त करने की कमाने वाली वृत्तियुक्त क्रिया में भारी गुणात्मक अन्तर है। सीखना स्वयं में ही परितोषकारक होता है, और सत्य दिखे—इससे बढ़कर उपलब्धि क्या है? सत्य का स्वरूप समझ में आये—इससे बड़ी कमाई इस मनुष्य जन्म में क्या हो सकती है? सत्य से हम मिलें—इस संयोग में से जो भी निष्पन्न होता हो वह होने दीजिये न! उस संयोग के लिये भी पहले से ढाँचे-नक्शे बनाना और वह घटित हो जाय तब उस घटना को किसी चौखटे में छबि की तरह मढ़ रखने की तैयारी रखना—इसमें जीवन क्या रहा? श्री रमण महर्षि, श्री अरविन्द, स्वामी रामतीर्थ, ठाकुर रामकृष्ण, भगवान् बुद्ध-महावीर, या कॅम्फ्यूशस, कृष्णमूर्त्ति—सभी की अपनी मढ़ी हुई तस्वीरें हटा दें! **जीवन जीने का अर्थ है वर्तमान से सम्बन्धित होना—यथार्थ सत्य को देखने और समझने के लिये।** हमारे भीतर यदि वस्तुतः आत्म-जिज्ञासा-ब्रह्मजिज्ञासा हो तो भी बहुधा केवल वही नहीं होती, और भी बहुत-सी वासनायें रहती हैं। अवान्तर इच्छायें रहती हैं कि "मुझे सत्य समझ में आ जायेगा तो मैं यह करूँगा; मैं उसके बारे में लोगों को समझाऊँगा; मैं उसके बारे में लिखूँगा;....." अरे! सत्य जानने के बाद क्या करना है उसका भी हिसाब आज ही लगाते हो? सत्य जानने के बाद क्या होना चाहिये यह तय करने वाले आप कौन? परमात्मा क्या आप का मुनोम है? नौकर है कि जो आप को चाहिये हो वही दे!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The interrelatedness of the whole cosmic life will then shake your life, your movement, it will utilise your talents and energies. It will shape and canalise all that. You cannot shape it.

सत्य या परम सत्ता या परमात्मा 'वह' ही आप के जीवन का संचालन करेंगे, आप की शक्तियों का उपयोग करेंगे। वहाँ आप का 'मैं' कुछ नहीं करेगा। इस तरह जीवन 'मैं' के बदले 'वह' के हाथों में चला जाय तो आप को रुचेगा क्या? या उस दशा को आप 'असुरक्षा' समझेंगे? 'हमारे जीवन के साथ क्या घटित होगा, यह मालूम ही नहीं'— इसे असुरक्षा मानते हैं लोग। किन्तु सत्य एवं प्रेम अपने आप में ही अपनी सुरक्षा है। Truth is its own security as Love is its own security. The manmade network of securities is completely irrelevant to the dimension of Truth and Reality.

हमारी कठिनाई यह है कि 'हमारे जीवन में कब क्या होगा' यह हम आज ही जान लेना चाहते हैं। इसलिये भूतकाल के आधार छोड़ देने पर भी भविष्य की कल्पना हम नहीं छोड़ते। भविष्य की इच्छा-वासनायें नहीं छूटती हैं, इसीलिये हम विशुद्ध सत्यार्थी, आत्मार्थी, ब्रह्मार्थी बन नहीं पाते, साथ-साथ और बहुत सी इच्छायें रहती हैं इधर-उधर की; उन अनेकों इच्छाओं में से यह सत्यार्थी होना या आत्माभीप्सा थोड़ी सी प्रबल होती है, बस इतना ही।....(यह आप की हमारी सहयात्रा है सत्य की ओर, प्रखर विश्लेषण-पथ पर पाँव लहूलुहान हो सकते हैं इस तैयारी से मेरे साथ चलें। सत्य यदि तीक्ष्ण न हो तो वह असत्य को निराकृत नहीं कर सकता, उसका लोप या भेदन नहीं कर सकता।)

आप, हम, सबने श्रीकृष्णमूर्ति को सुना। इस पृथ्वी-मण्डल पर रहने वाले करोड़ों लोगों ने उनकी आवाज़ में मनुष्य जाति के प्रति सन्देश (पुस्तकों या भाषणों के रूप में) सुना है। इनमें से लाखों ऐसे होंगे जिन्होंने मानव चेतना में खिले उस पुष्प के सौरभ का सम्पर्क पाया होगा। उनमें से एक हम भी हैं, यह बड़े सौभाग्य की बात है। क्या इसके लिये आप कृतज्ञता अनुभव करते हैं। वह वाणी हमने सुनी—यानी श्रोता होने की प्रेरणा हुई, यह भी सौभाग्य है।

"वक्ता नहीं होता श्रोता के बिना !"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि कोई सुनने वाला न हो तो कोई बोलेगा क्यों ? श्रोता होने से ही संवाद सम्भव है, नहीं तो वक्ता के शब्द आकाश में ही जायेंगे। वैसा आप ने नहीं होने दिया, आप श्रोता बने, यह बहुत बड़ा अनुग्रह है जीवन का। अतः प्रश्नकर्ता यह न मानें कि उनके जीवन में कुछ भी घटित नहीं हुआ। आप ने केवल सुना ही नहीं, बल्कि यह व्यक्ति (J. K) जो कह रहे हैं वह वस्तुतः सत्य है—यह भी आप की बुद्धि को प्रत्यय हुआ। **Your neuro—physical structure, psychological sturcture or the thought-structure was equipped enough to grasp the meaning behind those words.**

(आप की मानसिक-वैचारिक संरचना या ढाँचा उन शब्दों से संकेतित अर्थ को समझने में सक्षम रहा)—यह क्या कोई नगण्य छोटी घटना है कि आप पहचान पाये उन शब्दों को।

"हीरा परखै जौहरी, शब्द को परखैं साध।
जो कोई परखै साध को, ताकी मति है अगाध॥"

कोई पूर्व-पुण्योदय हुआ कि उन शब्दों के भीतर के सत्त्व, सत्य को पहचान पाये। क्योंकि शैली सर्वथा अलग प्रकार की थी। वह न तो किसी प्रतिपादन की शैली थी, न निरूपण की थी। वह संवाद की शैली थी। वे किसी महाविद्यालय-विश्वविद्यालय में पढ़कर तैयार नहीं हुए थे—पदवीधारी नहीं थे। साक्षात् जीवन-संयोग की अभिव्यक्ति थी उनकी वाणी। कभी एक ही बात को अनेक तरह से अनेक बार भी कहना पड़ता था। तब लोगों को लगता था कि बहुत पुनरावर्तन करते हैं। पर वे तो किसी तरह श्रोता के चित्त में बात पहुँचाने के लिये बड़ी करुणा से, भाँति-भाँति से बारम्बार कहते थे। उनके वक्तृत्व की आर्द्रता-उत्कटता मर्मस्पर्शी थी। ऐसी उनकी वाणी में 'सत्य' प्रकट हो रहा है, यह पहचान पाये आप—यह कितनी महत्त्वपूर्ण घटना है।

इसके बाद का मार्ग कड़ी चढ़ाई का है। "वे सत्य कह रहे हैं और वह मेरी समझ में आ रहा है"—यहाँ तक तो ठीक रहता है, किन्तु फिर—"वह सत्य उनके जीवन में जिस प्रकार संचरित-आचरित-व्यक्त हुआ, उसी प्रकार उसी शैली व रीति से मेरे जीवन में भी प्रकट होना चाहिए"—यह आग्रह और आशा कठिनाई खड़ी करते हैं।

अर्थात् उनके जीवन में **Transformation** (चैतसिक उत्क्रान्ति, समग्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवर्तन) की जो घटना घटित हुई, उसे हम एक प्रमाण, लक्ष्य, मंजिल (authority, point of destination) बना लेते हैं कि उन्हें 'Ohai' में बुद्ध का दर्शन हुआ, बुद्ध सामने आये फिर ज्योतिरूप होकर भ्रूमध्य में प्रवेश कर गये, वही हमें भी होना चाहिये। उनके जीवन की पृष्ठ-भूमि ही विलक्षण नाटकीय थी। उक्त अनुभव के बाद उत्क्रान्ति की घटना, फिर 'Star of the East' का विसर्जन, एक के बाद एक धक्के देते गये वे परम्परागत देखने वालों को। अपने जीवन में यदि चेतना-परिवर्तन घटित हो भी तो क्या वह उसी तरह के धक्के देने वाला होगा ? वह सारी दुनिया को मालूम होने वाला होगा ? वह आपके साथी लोगों व कुटुम्ब-परिवार को समझ में आयेगा ? उसमें कोई नाटकीय विलक्षण विस्फोट होगा ही—यह मानने की आवश्यकता नहीं।....हम केवल उनके शब्दों का प्रामाण्य पकड़ बैठें इतना ही नहीं, उनके चैतसिक परिवर्तन या उत्क्रान्ति का भी एक नमूना या दृष्टान्त (pattern) बना खड़ा किया अपने सामने; प्राचीन परम्परा से सुनी हुई साक्षात्कार की व्याख्याओं को हटा कर नये प्रकार के साक्षात्कार की व्याख्या बना कर सामने रख ली। उस को सबसे अलग एक दिशा बना लिया। यह भी मोह छोड़ना पड़ेगा। इसलिये मैंने कहा कि कठिन चढ़ाई है। **You cannot create a direction or a point of destination out of the communications of Krishnamurty. You have to be at your own. He mercilessly throws you on your own completely.**

कृष्णमूर्ति कभी आपको उनकी अंगुली नहीं पकड़ने देते; आप पूछने लगें कि अब क्या करूँ या किधर चलूँ तो एकदम कठोर होकर आपको दूर ढकेल देते हैं आपके अपने आप पर, कि अपना रास्ता खोजना आपका ही काम है—"**Sir ! it is upto you to find out. Sir ! I am not your Guru ! I am not your authority !**"

चढ़ाई चढ़ने की दिशा का संकेत कर देने पर भी वे चढ़ने के लिये आश्रय या अवलम्ब तो दूर रहा, आधार भी देने को कतई तैयार नहीं होते। विज्ञान ने जो सन्दर्भ आज मनुष्य जीवन को दिया हुआ है, जो परिपक्वता विज्ञान के कारण मनुष्य की बुद्धि में आई हुई है, जो समझ उगाई है, उसके नाते इतनी सी जिम्मेदारी तो मनुष्य को उठानी चाहिये न ! पर वह भी हम नहीं उठाते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आगे चलें; जिस तरह वे प्रामाण्य पकड़ने का निषेध करते थे, वैसे किसी एक ढर्रे या बनी-बनाई पद्धतियों का अनुसरण करते उन्हें दोहराते चलने को भी समर्थन नहीं देते थे। जिन पद्धतियों के साँचे में आप अपनी जीवनगति को ढाल कर प्रवाह-पतित होकर यन्त्रवत् चलते या बहते रहने में सुविधा अनुभव करते हैं—The patterns of discipline, which you follow, which you repeat mechanically, to which you approximate your actions and your life.

इस प्रकार वे यन्त्रवत् अनुसरण का निषेध करते थे, तो हमने उस निषेध या परम्परा छोड़ने को भी एक पद्धति (cult of rejection) मान लिया। परम्परा छोड़ने में भी आज की स्वच्छन्द-उच्छृङ्खलता-प्रेरक भौतिकता-प्रधान भोगवादी 'सभ्यता' को और सहूलियत लगी कि सब मर्यादायें छोड़ दो! किन्तु कृष्णमूर्ति को वाणी में निषेध नहीं, क्रान्ति अभिप्रेत थी। क्रान्ति में नवसर्जन का आशय रहता है, विध्वंस का नहीं। वे कहते थे—"A kind of orderliness on the physical, mental and the verbal level emerges out of understanding." (भीतर उसी समझ में से शारीरिक-मानसिक-वाचिक स्तर पर एक सुनियमितता, व्यवस्थितता अपने-आप निपज आती है।)

मुझे यदि लगता हो कि सुबह चार-पाँच बजे तक उठ जाना स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा है, फिर व्यायाम-आसन-प्राणायाम करना स्वास्थ्य के लिये लाभकारी है, तो वह हम अपने स्वास्थ्य के लिये स्वयं ही स्वेच्छा से, आनन्द से करेंगे, उसके लिये 'नियम' क्या बनाना? जीवन के साथ-साथ ही स्वाभाविक समझ आती है। लेकिन बाहर से जानना, फिर उस जाने हुए के अनुसार कर्म करने लिये कोई अन्य प्रेरक खड़े करना, तब उससे प्रेरित होकर किसी लीक पर चलना—इस तरह की आदत मनुष्य जाति ने डाली हुई है। कृष्णमूर्त्ति कहते हैं कि "आप अवधान-पूर्वक देखिये और परिस्थिति के अनुसार जो समझ में आये उस समझ का आचरण कीजिये। समझ का आचरण करते रहने में स्वयं ही एक व्यवस्था, संयम, संवाद का संगीत निपजने लगता है। व्यवस्थितता के लिये पहले से ही अपनी बुद्धि या दूसरों की बुद्धि के अनुसार व्यवहार के ढाँचे क्यों बना रखते हो? फिर उन ढाँचों की चौखट अपने ऊपर लादे हुए क्यों चलते हो? अपनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समझ को ही सीधे व्यवहार में उतारो ! ऊपर से लादे हुए अनुशासन या नियम में प्राण नहीं होता।"

यह कहना था उनका; पर आधी बात सुनी गयी कि 'किसी के अनुशासन या पद्धति पर मत चलो !' स्वयं उनका जीवन देखा है ! हमेशा सुबह पाँच बजे उठना, ८० वर्ष के होने तक प्रातः योगासन-प्राणायाम छूटा नहीं; ५ मील १० मील तक पैदल घूमने जाना—मैंने देखा है। 'सानेन' में मैं तो तब तीन-चार मील से अधिक उनके साथ चल भी नहीं सकती थी; बड़े वेग से चलते थे। हिन्दुस्तान में हों तो एक प्रकार का आहार, योरोप आदि में हों तो दूसरे प्रकार का आहार; कितने भी कार्य हों भोजन का नियमित समय कभी चूकता नहीं था। उनका जीवन लयबद्ध-संगीत था। उनकी बात को आधी-अधूरी पकड़ कर अपने स्वच्छन्द को बढ़ा लिया लोगों ने—अनुशासन या परम्परागत पद्धति छोड़ दी, वैज्ञानिक व्यवस्था, सम्यक् गति, नियमितता अपनाई नहीं। यह एक व्यक्ति का प्रश्न नहीं, आपका-हमारा-सभी का यह सवाल है, यह समझते हुए कह रहो हूँ। यदि केवल निषेध पकड़ में आया हो—'यह नहीं करना है, वह नहीं करेंगे, यह बुरा है–वह ग़लत है.....' यही कहते चलें और किसी भी प्रकार का शुभ जीवन में ग्रहण-धारण हुआ न हो तो वह J. K. की बात समझना न हुआ। परम्परा का अनुगमन छूट कर स्वायत्त संयम जीवन में आये तभी कुछ सर्जनात्मक कार्य हो सकता है। आँख खोल कर जीवन की ओर देखना, समझ लेने का प्रयत्न करना, समझ लेने के बाद उस समझ के अनुसार जीना—यही जीवन-पथ है। **"First and last step is understanding, because understanding is total action. Then you do not have to do time-bound efforts. The velocity of spontaneity permeates your being."**

कुछ भी कहने का बाकी नहीं रखा उन्होंने। वह समझ पर आचरण यदि अपने जीवन में घटित न हुआ हो तो मुझे लगता है कि हम बीस नहीं, पचास वर्ष भी यदि पढ़ते-सुनते रहें, उनके दृश्य-श्रव्य 'कैसेट्स' देखते रहें—तो आभ्यन्तर जीवन में कुछ विशेष घटित न हो सकेगा। थोड़ा-बहुत अन्तर विचार-सरणी में परिधि-स्तर पर आयेगा, बस। उस उतने से परिवर्तन के सुख से ही यदि कोई सन्तुष्ट हो जाये तो बात नहीं बनेगी; ये परिवर्तन जीवन की अभिवृद्धि या परिपक्वता (**growth or maturity**) नहीं हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"Growth is in totality and changes are compartmental and partial, and you become conscious of the changes. That which is partial remains as the attribute of the consciousness; that which vibrates in totality of the consciousness results in growth." शुद्ध विज्ञान था उनकी विचारसरणी में, विज्ञान और अध्यात्म का एक मधुर सङ्गम एवं समन्वय था। उसे समझ कर, उसे अपनी समझ में परिणत होने देकर जीवन-व्यवहार में जिये बिना सन्तोष कैसे हो सकता है ?

मान लीजिये उनके भाषण सुने, समूह-चर्चाओं में भाग लिया और समझ में आया कि प्रत्येक मानसिक क्रिया यांत्रिक पुनरावर्तनशील है तो इसका अनुबन्ध क्या अपने जीवन के साथ जोड़ा ? 'मैं भारतीय हूँ'—एक मान्यता ही है न! अरे 'मैं मनुष्य हूँ'—यह भी मानसिक धारणा (concept) ही है, क्योंकि इसका सम्बन्ध आकृति से है। आप जीवन की एक अभिव्यक्ति हैं, वैश्विक ऊर्जा की एक अभिव्यक्ति हैं। किन्तु उस वास्तविकता के भान में स्थिर न रहते हुए आप यही मानते हैं कि "मैं हिन्दुस्तानी हूँ" 'मैं एक परिवार का कर्ता-धर्ता हूँ—किसी का पुत्र-भाई-पति-पिता (या महिला पक्ष में तदनुरूप) हूँ', 'मैं हिन्दू-वैष्णव-बौद्ध-जैन-सिख-मुसलमान-ईसाई-पारसी हूँ', 'मैं अधिकारी या अधीन कर्मचारी या मालिक या नौकर हूँ' 'मैं गुजराती-मराठी-तमिल-उड़िया-बंगाली-असमी-पंजाबी-काश्मीरी····हूँ'—ये सभी तो मानसिक गतियों से बनी मान्यतायें हैं। क्या हमने इन सब विभागों, श्रेणियों-स्तरों को चित्त से झड़ जाने दिया है, जिस क्षण से समझा कि ये वास्तविकता नहीं ! मान्यता अर्थात् मानसिक यान्त्रिक गतियों का परिणाममात्र हैं। J. K. जिस तरह प्रांजलता से कहते रहे 'I belong to no nation, no religion····' वह आप भीतर-बाहर अनुभव करते हैं क्या ? क्या आप-हम जीवन-सत्य के प्रति समर्पित हैं ? यह हमारा समर्पण उक्त मान्यताओं-अस्मिताओं और उनकी अपेक्षाओं के प्रति है ? क्या उनके प्रति अपने सम्बन्ध व व्यवहार से जीवन-सत्य का समझौता करने को विवश हैं हम ?

यह बड़ी क्रान्तिकारी बात है। केवल ऊपरी कोरा निषेध नहीं, सम्पूर्ण-आमूलचूल-समग्र क्रान्ति अपेक्षित है उक्त मान्यताओं को चित्त से झड़ जाने देने में। उस सबको छूट जाने के लिये, यानी 'कहीं का, किसी का, कोई भी न रहकर विशुद्ध जीवन सत्ता की एक अभिव्यक्ति-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मात्र स्थिति में रहने-जीने को क्या हम प्रस्तुत हैं ? स्त्रीत्व-पुरुषत्व के भी पृथक्ता बोध से परे रहना, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा की व्याख्यायें चित्त से पुँछ गई हों ऐसे अनागस व्योम की सी स्थिति में रहना हमें स्वीकार-सहन होगा ? 'मैं-तुम-वह' के भान का केन्द्र जो 'अहं'-भाव है वह भी मिट गया हो, 'व्यक्ति'-पना क़तई बचा न हो ऐसी—'Nobody-ness, nothingness, nakedness, the nudity of Consciousness' चेतना की सर्वथा नग्नता, निरावरणता, कोशमुक्त सत्ता-मात्रता—जीने को क्या हम तैयार हैं ? एक-दो घण्टे सभा में बैठकर उस भावना में बने रहने भर की बात नहीं; प्रत्यक्ष दैनिक प्रत्येक व्यवहार में उसे जीने की बात है; जिसे J. K. जी गये। हमारे चित्त की वह तैयारी नहीं है। हम तो ये सब मान्यताओं के बाने (वस्त्र) पहने हुए, इनके नाते आने वाली अपेक्षाओं के साथ समझौता करते रहते हैं, समझ में आये और दिखाये गये सत्य का।

यह तो J. K. को अभिप्रेत न था, वे कहते थे निरुपाधिक मुक्ति unconditional freedom की बात। "ज़ीवो ब्रह्मैव नापरः" कहने वाले शङ्कराचार्य को भी वही अभिप्रेत था। और—

"जान कर भी अनजान बनाओ मेरा मन
दे कर तुम्हारा रहस्य प्रेम-कण !"

ऐसा कहने वाले महाराष्ट्र के सन्तों का भी इससे अलग कुछ आशय न था।

J. K. ने आज की परिस्थिति के सन्दर्भ में वही हमें दिखाया; हम समझ सकें ऐसी परिभाषा में रख कर बताया। हमें यह तो मंजूर है कि अज्ञान चला जाय, पर स्वयं ज्ञान (बाह्य विषय ज्ञान, आन्तर-अहं-भान) भी निकल जाय या सिमट कर लुप्त हो जाय—यह मंजूर नहीं। क्योंकि हम यह अभिमान कायम रखना चाहते हैं कि "मैंने सत्य को जाना", 'मुझे आत्मबोध हो गया", तत्त्व को दिखा कर ज्ञान स्वयं लुप्त हो जाय—इससे हम घबराते हैं। हमें केवल 'होनापन' या सत्ता-मात्रता नहीं चाहिये।

We are not contented with the beingness of life. हमें "कुछ बन जाने की प्रक्रिया चाहिये, जिससे कहा जा सके कि "इसने J. K. की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बात सुनी और इसका परिवर्तन हो गया।" लेकिन अध्यात्म में प्राप्ति की बात तो नहीं ही है, उपलब्धि की भाषा भी अधूरी पड़ती है।

इसीलिये J. K. के भाषणों, शिविर-चर्चाओं को घोल कर पी गये होने पर भी, भीतर चित्त में उक्त प्रकार की अपेक्षायें और प्रत्यक्ष जीवन में अनेकों समझौते रहने के कारण वस्तुतः परिवर्तन घटित नहीं हो पाता और हताशा-निराशा प्रतीत होती है। ऐसे हताश-निराश होने की ज़रूरत नहीं है।

The moment there is a resistance-free willingness. चित्त के कहीं कोने में भी प्रतिरोध न हो, पहले स्वीकार की हुई जिम्मेवारियों के नाम पर भी नहीं,—ऐसी यदि सर्वथा मुक्त अभीप्सा सत्यदर्शन की हो तो मुझे लगता है कि परिवर्तन की घटना अवश्यम्भावी है। वह इतने सहज अनायास रूप से घटित हो रहेगी कि आपको पता भी नहीं चलेगा। जैसे भ्रमर पुष्प में से पराग ले जाता है, वैसी ही रीति है अध्यात्म-सेवन की। आपको मालूम न होगा, आस-पास के साथी अनुभव करेंगे कि "अरे यह मनुष्य तो भीतर से बदल गया है। बाहर हम सबके साथ बोलता-उठता-बैठता-काम करता है पर भीतर कहीं खो गया है; यह वास्तव में हमारे साथ-हमारे बीच नहीं है। कहीं कोई विवाद नहीं है, लेकिन इसके जीवन का रस कहीं और है।"

हमें हताशा इस बात को होती है कि "मैंने जो आत्मबोध और समग्र उत्क्रान्ति का अर्थ लगाया व मानस चित्र बनाया था—उसके अनुसार मेरा परिवर्तन नहीं हुआ।" वह आग्रह यदि जहाँ का तहाँ शान्त हो जाय, उठे झाग की तरह बैठ जाय, निःशेष हो जाय, तो आज जो हताशा-निराशा के आँसू आते हैं किसी के सामने अपना दुःख कह कर, उससे सान्त्वना पाने की इच्छा होती है,—वह न हो। किसी के द्वारा माथे पर हाथ रखे जाने या पीठ थपकने से जो शान्ति मिलेगी, वह स्वायत्त नहीं होगी और परिवर्तन तो घटित नहीं ही हो सकता किसी के कुछ करने से।····यदि कभी कहीं संयोगवश ऐसा स्फोट-रूप परिवर्तन दिखाई देता है तो वह उस चेतना में सुदीर्घ समय से होते आये घटनाक्रमों व अभीप्सा की समग्र व्यापिनी उत्कटता का परिणाम होता है, सर्वथा आकस्मिक नहीं होता। यह भी समझ रखना चाहिये कि भीतरी तैयारी के बिना, ऊपरी किसी विशेष प्रभाव से आया हुआ परिवर्तन स्थायी नहीं होता। स्वायत्त कर्मपूर्वक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपनी समझ से उठाया गया एक कदम, ऊपरी प्रभाव से पार किये सौ कदमों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक व ठोस होता है। और, "जो समझ में आया वैसा आचरण मुझसे नहीं हो रहा है, जीवन में वह जिया नहीं जा पा रहा है"—यह भान स्वयं को होने का महत्त्व मेरी दृष्टि में बहुत बड़ा है। दिव्य असन्तोष है इसके लिये कि जीवन में उत्क्रान्ति (quantum jump) घटित नहीं हो सकी है।—यह भान अमोल वस्तु है कौस्तुभ जैसी। इसलिये हताश-निराश न हों।

उत्क्रान्ति कोई कालबद्ध घटना नहीं है, समझ या आत्मबोध काल से परे की वस्तु है, **Understanding is timeless.** संवेदनशीलता जब नस-नस में, रग-रग में नाचने लगेगी, तब वह घटना घटित होने ही वाली है।

आप जो कहते हैं कि "कोरे पाषाण जैसे रह गये हैं, अब क्या करें ?" इसमें पूर्वार्ध को तो मैं स्वीकार नहीं करती, आपकी संवेदनशीलता ही प्रमाण है। रहा 'क्या करें ?' का सवाल। इस पर मैं क्या कह सकती हूँ ? पर एक प्रसङ्ग स्मरण हो आता है। J. K. के एक निकटस्थ व्यक्ति—जो पचास वर्ष से उन्हें सुनते-पढ़ते-देश-विदेश में बहुधा साथ रहते आये थे,—साठ वर्ष पार करने के बाद एक बार भारत से सीधे 'सानेन' पहुँच कर J. K से मिल कर बड़ी आज़िजी से बोले—"मेरी इतनी उम्र बीत गयी, कुछ भी तो परिवर्तन घटित नहीं हुआ, बताइये अब मैं क्या करूँ ?"—इस पर J. K. ने कहा—"**Live as if you are dead, from this moment, from today and from this moment. Live as if you are dead to the whole world and to yourself.**"

(आज से, इसी क्षण से इस प्रकार जीने लगिये मानो आप मृत हैं अपने लिये भी, सारी दुनिया के लिये भी मानो मर चुके हैं।)

अतः सभी आग्रह छोड़ दीजिये। परिवर्तन के जो कदम व जिस क्रम से श्रीकृष्णमूर्ति के जीवन में उठे थे वैसे ही आपके जीवन में भी हों—यह अपेक्षा छोड़ दीजिये। जो कुछ समझा गया उसके लिये चित्त में कृतज्ञता एवं आर्द्रता रहे, जीवन का यह भारी अनुग्रह हुआ—यह समझें। और कुछ भी माँगना नहीं है—ऐसी एक दिव्य शून्यता लिये हुए जीयें।

"**Leave the door open for the Other to step in !**" ('वह' भीतर आ सके इसके लिये दरवाज़े खुले रखिये !)

हो सकता है आपको हताशा-निराशा के कारण ही जो घटित होना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है वह रुँधा हुआ हो। हताशा-निराशा भी प्रतिरोध है। यह मनःशारीरिक रुकावट है, इससे मनः शारीरिक रुग्णता भी आ सकती है। अहङ्कार की यह अन्तिम चाल है। उसके रोने-धोने, निराशा-हताशा की परवाह न करें, उसे महत्त्व न दें। उस प्रत्यवाय को एक तरफ़ रखते हुए शेष जीवन समझ के अनुसार जीते रहें। जाने हुए का अनुबन्ध जीने से जोड़े रहें और उससे परे के सत्य से जीवन का सम्बन्ध स्वयं ही हो रहता है। उसे कोई नाम न दें—उत्क्रान्ति-परिवर्तन-साक्षात्कार-बोध-मोक्ष-मुक्ति आदि। ये सभी शब्द और अर्थ भूतकाल के हैं। जीते समय जीवन-सत्य का और आपका निगूढ़ संस्पर्श (communion) होने दें। केवल communication नहीं है, वह मानसिक, यान्त्रिक क्रिया नहीं है, बौद्धिक भी नहीं। आपकी समग्रता जीवन-सत्य की समग्रता से मिलती है। Your totality, wholeness meeting the totality of Life, wholeness outside your skin. ऐसा वह मधुर मिलन होता है। उसे अभिव्यक्त करने के लिये "व्यक्ति-चेतना और वैश्विक चेतना" का मिलन कहा गया; सूफियों ने 'आशिक-माशूका' के मिलन की भाषा अपनाई, यहाँ कभी 'शिव-शक्ति-सामरस्य' कहा गया तो कभी 'कुञ्ज-निकुञ्जों में राधा-माधव के मिलन' का रूपक लिखा गया। इसी प्रसङ्ग में शरणागति, समर्पण की बातें कही गयी हैं। J. K. की वैज्ञानिक अभिव्यक्ति में communion की भाषा आई। There will be a new psychology in nuclear age and there will be a new scientific approach to Spirituality in which the whole spiritual terminology is going to be changed.

पुराने में से भी सीखें, उनमें जो सत्य के प्रकाशन हैं उन्हें ग्रहण-धारण करें; आप-हमको जीना है वर्तमान वैज्ञानिक युग में, इसलिये नवीन वैज्ञानिक दृष्टि से भी अध्यात्म को भलीभाँति समझें और जीने लगें यह प्रार्थना है।

प्रश्न—Krishnaji (J. K.) says—"The observer is the observed". Shree Jnanadeva says Drasta and Drsya are one. Does the observed exist by itself or not ? This is the main hurdle for us common men. Kindly expiain at length if convenient.

[श्री जे० कृष्णमूर्त्ति कहते हैं—"देखने वाला ही देखा जाने वाला विषय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है।'' श्री ज्ञानदेव भी कहते हैं—''द्रष्टा और दृश्य एक ही हैं।'' तो, दृश्य का अपना कोई अस्तित्व है या नहीं ? यह एक पहेली है हम सामान्यजन के लिये। यदि सम्भव हो तो कृपया इसे विस्तार से समझाइये।]

उत्तर—श्री कृष्णमूर्ति या ज्ञानदेव को अपने वचनों में क्या अभिप्रेत था यह तो वे ही जानें, लेकिन आप और हम जो सामान्यजन हैं वे उन वचनों में से क्या समझें—यह सवाल है। प्रश्नकर्ता पूछता है कि जो कुछ देखा जाता है उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है या नहीं ? उसकी निरपेक्ष सत्ता है या नहीं ? इसी सवाल को उन्होंने 'hurdle'····कहा है।

कोई भी वस्तु 'दृश्य' कब बनती है ? अपने में तो वह केवल अस्तित्व में है। वह 'दृश्य' बनती है जब कोई 'द्रष्टा'-भाव धारण करके उसकी तरफ देखता है, 'भोक्ता'-भाव धारण करके उसे 'भोग्य' बनाता है। तब 'दृश्य' या 'भोग्य' की सत्ता है। देखने वाला द्रष्टा, भोगनेवाला 'भोक्ता' एक भाव है जो उठता है जब देखने की इच्छा या संकल्प चित्त में उठता है, तभी मनुष्य 'द्रष्टा'····बनता है, नहीं तो मनुष्य बस मनुष्य है। अतः द्रष्टा-दृश्य आदि धारणायें ही हैं, जीवन तो एक सत्ता-मात्र है। यहाँ अन्तराय-बाधा या रुकावट कहाँ आई ?

वृक्ष वृक्ष के रूप में है, उसे 'वृक्ष' नाम किसने दिया ? जो कुछ भी वह है उसके होनेपन को 'वृक्ष' नाम किसने दिया ? वह कोई चीज़ है जिसका मस्तक गगन में ऊँचा उठा हुआ है और जिसकी जड़ें धरती में गहरी-गहरी गई हुई हैं। वह हिलता है, डुलता है, फल-फूल आदि देता है, उसको नाम मनुष्य ने दिया तब वह वृक्ष बना। इसी तरह द्रष्टा-दृश्य Observer-observed आदि भी मनुष्य की भाव-सापेक्ष, हेतु-सापेक्ष अवस्थायें हैं; यों तो जो कुछ भी है वह चैतन्य की अभिव्यक्ति है।

पदार्थ को पदार्थपन किसने दिया ?

Naming, identifying, recognising, observing—ये सब मनुष्य-चित्त में उठने वाली दशायें हैं, जो धारण होती हैं और शान्त होती हैं। यदि देखना शान्त-विसर्जित हुआ हो तो फिर हम द्रष्टा नहीं हैं। मनुष्य जाति ने नाम दिये—पर्वत-वन-सरिता-सागर। **We see in the curvature of the earth, water flowing, and name it river.** हमने धरती पर बहे जाते जल-प्रवाह को देखा—उसे 'नदी' नाम दिया—अपने दिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस नाम के दायरे में उस प्रवाह को देखते हैं। वह नाम तो वहाँ नहीं है, मन में है। All cognitions exist in human mind and brain. इसलिये, हमारे देखे न दृश्य का स्वतन्त्र अस्तित्त्व है, न द्रष्टा का है। एक सत्ता-मात्र है। अनन्त रूपों में सजी-धजी प्रसाधित एकता है। और कहूँ तो जीवन है। यह जो मनुष्य का multidimensional बहु-आयामी जीवन है, इसे देह के स्तर पर देखना हो तो देह की पृथक्ता है, देह की ऊर्जायें हैं। यह जो पृथक्ता का भाव—I-ness, the ego, the self the 'Me' हमने धारण किया; इसके आधार पर हम कहते हैं कि "वहाँ धरती है, मकान हैं, उसमें हम रहते हैं" उनको यदि सापेक्ष सत्य कहना हो तो कह दीजियेगा। लेकिन जब आत्मजिज्ञासा को लेकर बैठते हैं, परम सत्य की शोध में निकलते हैं तो निरपेक्ष सत्य (Ultimate Reality) के स्तर पर न द्रष्टा है और न दृश्य है। कवितामय पद्धति से कहना हो तो जो द्रष्टा है वही दृश्य बनता है, और दृश्य रूप में अपने आप को ही देखने का आनन्द लूटता है। आज जो अपने मन के, विचार-विकार इत्यादि को देख पाते हैं, अवलोकन करते हैं वे समझ सकेंगे कि ये विचार-विकार-भावनाएँ आपका ही रूप हैं, आप से भिन्न कुछ नहीं। You are the mind. You are the thought. There is a movement of energy without the 'thinker and without thought if you do not identify it. It is only a movement of energy, a movement of conditionings, taking place in your neurochemical system, you have named it as thought, as an idea.

श्री कृष्णमूर्ति जी आज के विज्ञानयुग में विज्ञान-परिष्कृत भाषा का उपयोग करते हैं, और ज्ञानराय आद्यशंकराचार्य से आगे चल कर मधुराद्वैत की बात करते हैं कि द्रष्टा और दृश्य दोनों एक हैं।

प्रश्न—"आत्मा अनिर्वचनीय है"—कहा जाता है। इस 'अनिर्वचनीय' का अर्थ स्पष्ट करने की कृपा करें। ऊर्जा और चैतन्य में क्या फ़र्क (अन्तर) है ? कृपया स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—जिसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता; शब्द में जिसे बाँधा नहीं जा सकता। व्याकरण के कारागार में जिसे लाया नहीं जा सकता। पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी में जिसे उतारा नहीं जा सकता वह है अनिर्वचनीय। शब्द की पहुँच द्वैत तक है, सापेक्ष व एकदेशी जगत् पदार्थों तक शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चलता है। लेकिन जहाँ निरपेक्ष सत्य की सत्ता है, जो सर्वाकार, सर्वमय, सर्वथा सर्वदा विराजमान है उसका क्या वर्णन करेंगे ? वहाँ शब्द चल नहीं सकता। इसलिये विज्ञान के पथ से चलने पर भी वहाँ negative enquiry (व्यतिरेक-जिज्ञासा) का पथ पकड़ना पड़ता है। क्या निरपेक्ष नहीं ? क्या त्रिकालाबाधित नहीं ? क्या है जो शब्द की पकड़ में नहीं आता ? 'वह यह है' (तत् इदम् इति)—कह कर उसका निर्देश नहीं हो सकता (अतः 'यही नहीं' न इति) उसका कोई देखा जा सकने वाला एकदेशी अधिकरण (location) तो है नहीं। 'सत्य अनन्त है'-—कहा गया है। अतः जो अनादि है—अनन्त है, जिसके लिये कभी कहीं 'नहीं' कहा नहीं जा सकता उसके 'होने'-पन या 'है'-पन का शब्दों से निर्देश कैसे होगा ? इसलिये अनिर्वचनीय का अर्थ है—जिसे Positive categorical terms में, affirmative terms में रखा नहीं जा सकता। अतः या तो उसको आकार-नाम-रूप से अतीत (– के अर्थ में अनिर्वचनीय) कहिये, या सर्वाकार सर्वरूप–'सर्व'-पद वाच्य कहिये। निरुपाय है मनुष्य। उसकी संवेदनशीलता को उस 'है' का बोध या भान होता है, पर उसे किसी शब्द के घेरे में व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह प्रतीति स्वसंवेद्य है, किसी ज्ञानकरण का विषय नहीं, स्वयम्भू है, वह प्रतीति सत्ता-रूप जीवन का हुँकार है।

इसलिये परमातमा 'क्या है' यह कहना सम्भव नहीं, क्या 'नहीं' है (अर्थात् कहाँ वह पूरा-पूरा सीमित नहीं)—यह कुछ-कुछ कहा जा सकता है।

"यस्यागतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातं हि अविजानताम् ॥"

(जिसके द्वारा वह सोचा नहीं जा सका, उसी का चिन्तन सही है, उसी के चिन्तन में वह आया है, जिसने उसे अपने चिन्तन का विषय मान लिया—वह उसे नहीं जान सका है। जानने वालों के लिए वह 'अविज्ञात' रहा और न जानने वालों के लिये 'विज्ञात' हुआ।

जाना तो इतना ही जाना कि 'मैं नहीं जानता', कहा तो इतना ही कहा गया कि 'उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता', यह कविता नहीं, यथार्थता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऊर्जा और चैतन्य में वही अन्तर है जो जल में तथा नदी, सागर आदि और उन पर उठने वाली लहरों या तरङ्गों में है। ऊर्जायें अगणित हैं, और चैतन्य उन्हें अवकाश प्रदान करता है। The emptiness of the Ultimate Reality provides the field for innumerable energies to carry on their dance. अनन्त ऊर्जाओं का महारास उसी जीवन सत्ता पर चलता है जो शून्याकार बन कर बैठी हुई 'सब-कुछ' को रहने का अवकाश देती है, स्वयं 'कुछ नहीं' (nobody-ness, nothing-ness) बनी बैठी है। उसी सत्ता में से ये ऊर्जायें उमड़ आती हैं, उसी के आधार पर अठखेलियाँ करती हैं, फिर उसी में शान्त होती हैं।

Energy emerges from the nothingness of the emptiness and merges back into it. नदी-सागर तरङ्गों का खेल जिसने देखा हो वह समझ सकेगा कि ऊर्जा और तरङ्ग में क्या अन्तर व सम्बन्ध है।

Question—I find motive as a barrier. Whatever I do it is all imbibed with 'I'. This distracts my observation. I am attracted to all the sensual pleasures, I am attached to them, and when it all ends in pain, I escape through your teachings, J. K's teachings etc. I cling to the past and state of attention is slacked. My basic motive of enquiry is questionable, I am really struck. Please guide me.

[**अनुवाद**—किसी हेतु या प्रयोजनमूलक प्रेरणा को मैं बाधा-रूप देखता हूँ। मैं जो कुछ भी करता हूँ वह 'मैं'-पन से ग्रस्त होता है। इससे निरीक्षण खण्डित होता है। मैं सभी इन्द्रिय-जन्य सुखों के प्रति आकर्षित व आसक्त होता हूँ, और जब उन सुख-प्रतीतियों की समाप्ति दुःख में होती है तब मैं आपके और श्री जे० कृष्णमूर्ति के उपदेशों या सिखावनों का सहारा लेकर दुःख से बच निकलने का रास्ता पकड़ता हूँ, मैं भूतकाल को चिपक रहता हूँ और अवधान चूक जाता है, अवधान से च्युत होता हूँ। मेरे मूल प्रयोजन—जिज्ञासा—की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। वास्तव में मैं अटका-फँसा पड़ा हूँ। कृपया मुझे मार्ग दिखाइये।]

Answer—Not guiding you Sir! not for guiding but for sharing please. I respect your sharing, which is so straight from the heart, so transparently honest. Such kind of sharing

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

in such kinds of gatherings is very-very rare. The capacity of self-deception is so great with the Indians, that they can cover-up the pain with any theory, justify the weakness with something or the other, so I respect the questioner and the question.

Not, not for guiding, but for sharing may I suggest that when you are attracted to all the pleasures, you live them, and it ends up in pain, be with the pain. The moment you feel the attraction, be aware, that you are attracted, your movement is controlled, regulated, the velocity provided, by the attachment. Be aware in the moment of attachment, be aware in the moment of attraction, and be aware in the moment of pain also. Do not criticise yourself, do not feel a kind of martyr complex. If it is so, it is so. If you are aware in the moment of attraction, infatuation or attachment, that it is attachment or infatuation, meaningless one, a painful one, and yet you are dragged towards the pleasure, that awareness without condemnation, without the feeling of guilt, then this awareness will operate, because Truth has its own dynamism. It operates upon us if we do not prevent its operation by our own resistance. So do not try to escape. The teaching of Krishnamurty can never provide an escape. He takes you along with him to the wall and with your back against the wall he corners you, he throws you to yourself, to be with the fact. How his words can provide any escape. It is good that you have stumbled across J. Krishnamurty, and his teaching.

So it seems to me, that in those moments, when you feel attachment and pain, if you could snatch a few minutes turn to your friend Krishnamurty. Because if you can recognise the pleasure as pleasure which is momentary, if you can recognize that it is repetitive, fragmentary, mechanical and its repeti-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

tion is a wastage of energy and vitality, once you understand that—that understanding is the only remedy. Sir! No teachings, no methods, no escapes will provide you with satisfaction.

[अनुवाद—भाई ! मार्ग दिखाने के लिये नहीं, आपकी समस्या में साझेदार होने, कठिनाई बाँट लेने के लिये हम मिल कर सोचें। आपके द्वारा इस तरह प्रामाणिकता से साफ़-साफ़ दिल खोलने का मैं आदर करती हूँ। क्योंकि ऐसी सभाओं में इस तरह खुले दिल से अपनी समस्या कहना बहुत कम होता है। भारतीयों में आत्मवञ्चना की शक्ति इतनी बड़ी है कि वे अपने दुःख-व्यथा को किन्हीं सिद्धान्तों से ढक लेते हैं, किसी न किसी बहाने से अपनी दुर्बलताओं का समर्थन करते हैं।

तो, प्रश्न और प्रश्नकर्ता का आदर करते हुए कुछ सुझाना चाहती हूँ। जब आप इन्द्रिय-सुखों के प्रति आकर्षित होते हैं तब पूरी तरह से उन सुखों को जी लीजिये; फिर जब उस सुख का पर्यवसान दुःख में हो तब उस दुःख को भी उतनी ही समग्रता से जी लीजिये, दुःख को ढक कर उससे भागने की कोशिश मत कीजिये। जिस क्षण आप आकर्षित हों उस क्षण में अवधानपूर्वक देख लीजिये कि आप आकर्षित हो रहे हैं, आपकी गति, क्रियायें, उस आकर्षण के वेग से प्रभावित और नियन्त्रित-परिचालित होती हैं। अपने आपकी आलोचना या निन्दा मत कीजिये, और शहादत की भावना न खड़ी करें। यदि ऐसा है, तो है। यदि आकर्षण, मोह या आसक्ति के क्षण में यह भान रहे कि आसक्ति या मोह है, जो कि निरर्थक है, जो कि दुःखपूर्ण है, फिर भी आप उस सुख की ओर खिंचे चले जा रहे हैं—अपराध -भावना के बिना वह भान अपना काम करेगा, क्योंकि सत्य की अपनी गतिशीलता होती है। यह हमारे प्रति कार्यशील होता है यदि हम अपने प्रतिरोध से इसकी क्रियाशीलता को रोकें नहीं। इसलिये पलायन की कोशिश न करें।

कृष्णमूर्त्ति की सिखावन कभी पलायन का रास्ता नहीं दिखा सकती। वे आपको घेर कर दीवार तक ले जाते हैं, आपकी पीठ दीवार से लगा कर आपको अपने-आप के साथ छोड़ देते हैं, ताकि आप तथ्य के आमने-सामने हो सकें। उनके शब्दों से पलायन का मार्ग कहाँ से मिल सकता है ? यह अच्छी बात है कि आप ठोकर खाते हुए श्री कृष्णमूर्त्ति और उनके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिक्षण तक पहुँच गये हैं। इसलिये मुझे ऐसा लगता है कि जिन क्षणों में आपको आसक्ति या दुःख का बोध हो, तब यदि आप कुछ क्षण निकाल सकें तो अपने मित्र कृष्णमूर्त्ति की ओर मुड़िये। यदि आप सुख को सुख के रूप में पहचान सकते हैं और यह भी पहचान सकते हैं कि वह सुख क्षणिक है, आवृत्तिपूर्ण है, खण्डित है, यान्त्रिक है और उसकी आवृत्ति ऊर्जा और जीवनी शक्ति का क्षय करने वाली है—तो यह समझ ही एकमात्र उपचार है। कोई तकनीक, कोई उपाय, कोई पलायन आपको सन्तोष नहीं दे सकता।]

सूचना—

श्री जे० कृष्णमूर्त्ति-विषयक तथा आत्म-साधना-इच्छुकों को प्रतीत होने वाली पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं के विषय में कुछ प्रश्नोत्तर "जीवन-परिमल"—१९९०-९१ के अङ्कों में प्रकाशित हो चुके हैं। वे अङ्क सीमित संख्या में उपलब्ध हैं, अभीप्सु व्यक्ति शीघ्र ही सम्पर्क करें तो प्राप्त हो सकते हैं।—सम्पादिका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ख

जीवनोन्मुख अध्यात्म

(सामाजिक-साधना)

प्रश्न—आज की राष्ट्रीय एवं सामाजिक परिस्थिति अत्यन्त असुरक्षित है आत्म-साधना के लिये अनुकूल नहीं, प्रतिकूल है। इससे आत्मोन्मुख व्यक्ति के चित्त में एक द्वंद्व खड़ा होता है कि समाज की समस्याओं के सुलझाव के लिये अपने से जो हो सके वह प्रयत्न करना चाहिये या अन्तर्मुख होकर साधना करनी चाहिये ?

उत्तर—यह सच है कि भारत की अपेक्षा अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड जैसे देशों में आज अध्यात्म जीवन जीने के लिये परिस्थिति अनुकूल है। इसके अनेक कारण हैं। भौतिकतावादी दर्शन, भोगवादी मनोदशा और अहं-केन्द्रित व्यक्ति-जीवन आदि के दुष्परिणाम और उनमें स्थित अन्तर्विरोध उन देशों के सुज्ञ समझदार लोगों के, खास कर तरुण-युवा पीढ़ी के ध्यान में आ गये हैं। अनुकूलता का दूसरा कारण यह है कि विज्ञान या यन्त्रविज्ञान का प्रचुर प्रयोग करके वहाँ जो समाज-रचना एवं अर्थतन्त्र खड़ा हुआ है उसके दुष्परिणाम भी उनके ध्यान में आ चुके हैं। इसलिये बुद्धि के परे क्या है ? और कोई वैकल्पिक समाज-रचना, वैकल्पिक अर्थतन्त्र-अर्थनीति, वैकल्पिक जीवन पद्धति, वैकल्पिक शासन-पद्धति हो सकती है या नहीं ?—इसकी खोज वे लोग प्रामाणिकता से कर रहे हैं। विज्ञान, यन्त्रविज्ञान हाथ में आया, पर दृष्टि और पर्यावरण का सुसम्बन्ध बाँधना नहीं आया। यन्त्रशक्ति एवं औद्योगिक शक्ति का केन्द्रीकरण हुआ, आर्थिक और राजनैतिक शक्ति का केन्द्रीकरण हुआ, इनके कारण जो जीवन-पद्धति बनी है, उसमें शोषण और विषमता अन्तर्भूत हैं—यह उनको समझ में आया है। इसलिये पाश्चात्य देशों में आज धर्मजिज्ञासा, आत्म-जिज्ञासा, वैकल्पिक जीवनपद्धति की जिज्ञासा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि देखने को मिलती हैं। पूर्व योरोपीय देशों के लिये मेरे ध्यानशिविर पोलैन्ड में होते हैं, उन शिविरों में युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, रोमानिया, अल्बेनिया, रशिया (रूस) इन देशों में से शिविरार्थी आते हैं। सभी योरोपीय देशों में परिस्थिति अनुकूल है।

भारत की ओर मुड़ें। यहाँ अन्तःसाधना के लिये परिस्थिति में प्रतिकूलता क्यों है? प्रश्नकर्ता ने कहा है कि सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थिति असुरक्षित है। यह असुरक्षितता क्यों है? (अध्यात्म में बुद्धि की चलती नहीं, लेकिन जहाँ तक बुद्धि जाय वहाँ तक उसे ले जाना, जबतक शब्द साथ दे सकें तब तक उनकी सहायता लेना अपना धर्म है) राष्ट्रीय असुरक्षितता के कारणों को यदि देश के बाहर खोजें तो एक कारण यह है कि १९४७ के बाद देश के विकास के लिये पंचवर्षीय योजनाओं के लिये यह देश बाहर भीख माँगता फिरा। फलस्वरूप आज इस देश पर पचास हजार करोड़ धनराशि का ऋण चढ़ा हुआ है। बारह हजार करोड़ रुपये तो प्रतिवर्ष व्याज के भरने पड़ते हैं। वह व्याज भी दे नहीं सकते हैं इसलिये और-और नया कर्ज लेते जा रहे हैं। विकास के नाम पर मानों सारा देश गिरवी रख दिया गया है।

दूसरा कारण यह है कि अपने उद्योग धन्धे (Private sector–तथा Public-sector दोनों) अन्तर्राष्ट्रीय, बहुराष्ट्रीय हाथों में चले गये हैं, उन्हीं पर आधारित हो गये हैं। इससे भी भयंकर बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय गुण्डा गिरोह का प्रवेश केवल संसद, लोकसभा, विधान सभा में Lobbies बनाने तक ही नहीं रहा, बल्कि जितने भी औद्योगिक एवं व्यापारिक संस्थान हैं सबमें इन 'माफ़िया' गिरोहों का प्रवेश गहरे तक हो चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय 'माफ़िया' के नागपाश में जकड़े हुए हैं हम।

असुरक्षितता का तीसरा कारण है—हमने अपना एकमात्र हितैषी रूस को मान रखा है। रूस की आकांक्षा है अमेरिका एवं चीन से मैत्री करने की और विश्व शान्ति स्थापित करने की। जिस समय मिखाइल गोर्बाचोव 'पेरेस्त्रोइका' और 'ग्लॉसनोस्त' के बारे में बोलता है, तब वह प्रामाणिक है, उसके लिये प्रामाणिक प्रयत्न भी चल रहे हैं। लेकिन, अमेरिका व चीन से मैत्री कायम करने के लिये रूस अब भारत को (अत्यन्त अपमानजनक होने पर भी) पाकिस्तान और चीन से सुलह-सन्धि करने का दबाव डाल रहा है—यह स्पष्ट दिखाई देता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इससे ध्यान में आता है कि असुरक्षितता का स्वरूप कितना गम्भीर है। अब देश के भीतर की हालत का ख्याल करें। पहले असुरक्षितता का आशय तो समझें। तब भारतीय सामाजिक राष्ट्रीय परिस्थिति में क्या अनुकूलता-प्रतिकूलता हैं—इसे समझा जा सकेगा। असुरक्षितता का पहला कारण तो यही है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता के बयालीस-चवालीस वर्ष बीत जाने पर भी यहाँ के ५०% लोगों को गरीबी की रेखा से भी बहुत नीचे भुखमरी जैसी हालत में जीना पड़ता है। ४०% को पीने का पानी तक उपलब्ध नहीं। करोड़ों तरुण व युवा बेरोज़गार हैं, लगभग चार करोड़ लोगों को रोजी-रोटी नहीं मिल रही। ऐसे देश में राष्ट्रीय एकता तथा समाज में कानून, अनुशासन-अमन-चैन टिकेंगे कैसे ? अस्सी करोड़ जनता के लिये चालीस करोड़ सैनिक खड़े कर दिये जायें तो भी सुरक्षितता और अमन-चैन नहीं आ सकता।

दूसरा कारण यह है कि हजारों वर्षों से इस देश में अनेकों धार्मिक सम्प्रदाय एक-दूसरे के साथ जीते आये. अनेकों भाषायें और प्रादेशिक अस्मितायें-विशिष्टतायें साथ-साथ जीती आईं। इन विविधताओं का समन्वयन राष्ट्रीय व राजकीय एकता के साथ कैसे हो ? सामाजिक विशिष्टतायें कायम रहें और राष्ट्रीय एकता भी बनी रहे, इसकी कोई युक्ति अबतक नहीं बन पाई है। वास्तव में तो इस विविधता एवं एकता में कोई विरोध नहीं है, ये परस्पर एक दूसरे को काटें ही या दोनों में से कोई एक ही रह सके, ऐसा आवश्यक नहीं। **Unity in diversity** अनेकता में एकता रह ही सकती है। अनेकता को मिटाकर एकता लाना इस देश में सम्भव भी नहीं है। अतः हमारी विविध अनेकता और एक राष्ट्र के नागरिक होने के नाते एकता के बीच समन्वय-सेतु बाँधने की महती आवश्यकता है। वह अभी तक न होने के कारण असुरक्षा भावना है। तीसरा कारण, अपने पूर्वजों, बड़े नेताओं, देश -नायकों ने विचार किया, चिन्तन किया और समारम्भपूर्वक लोकतन्त्र को यहाँ की शासन-प्रणाली के लिये चुना। किन्तु लोक क्या ? लोक-निर्माण कैसे किया जाय ? 'प्रतिनिधि' का आशय क्या ? प्रतिनिधि 'लोक' के प्रति अपनी जिम्मेदारी कैसे अदा करें, सत्ता का विकेन्द्रीकरण कैसे किया जाय ! यह समझने का प्रयत्न नहीं हुआ। इस बारे में सोचा ही नहीं गया।

इसीलिये लोक-निर्माण हुआ नहीं; लोक-प्रतिनिधियों का पता भी न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चला। क्योंकि चुनाव तो सट्टेबाजी, जुआ और शराब के अड्डे होकर रह गये। राजनैतिक पक्ष राष्ट्रीय नहीं रहे। पक्षों में गुट प्रधान हो गये, गुटों में भी व्यक्तियों की मुख्यता प्रधान हो गई। घरानों की हुकूमत शुरू हो गयी; पक्षशाही या प्रतिनिधिशाही तो लोकतन्त्र नहीं। इसलिये 'लोक' विरोधी सत्तानीति 'लोक'-विरोधी अर्थनीति और 'लोक'-विरोधी ही कानून व प्रशासन की प्रणालियाँ बनती गयीं, तब जनता में सुरक्षा-प्रतीति आती कैसे ?

चौथा कारण—राजकीय स्वातन्त्र्य आने के बाद सबसे पहला काम करना चाहिये था—लार्ड मैकाले की बनाई हुई और भारत पर लादी हुई शिक्षण-पद्धति को हटाना। भारतीय संस्कृति और मानवीय जीवन-मूल्यों को दैनिक जीवन में रचाने वाली भारत के अनुरूप शिक्षण प्रणाली बनानी व अपनानी चाहिये थी। यहाँ के सनातन व सार्वभौम जीवन, संस्कृति तथा मानवीय-मानवनिष्ठ जीवन-मूल्यों की जनमानस में प्रतिष्ठा करनेवाली शिक्षण-पद्धति क्या हो ? शिक्षक-विद्यार्थी के सम्बन्ध का स्वरूप क्या हो ?—इस सबका भलीभाँति चिन्तन, विचार होना चाहिये था। वह नहीं हुआ। अभारतीय ही संस्कृति और अभारतीय शिक्षणप्रणाली ज्यों की त्यों चलती आई है। इसी का परिणाम है आज की सांस्कृतिक, नैतिक, सामाजिक दुर्दशा। भारतीय संस्कृति पदार्थपरायण और भोगपरायण नहीं है, यह जीवनपरायण संस्कृति है, इसमें मानव का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

"न हि मानुषात् परं किञ्चित्" (मनुष्य से बढ़ कर कुछ नहीं।) सत्ता की विश्वाकार अभिव्यक्ति में मानव रूप अभिव्यक्ति सर्वश्रेष्ठ है। उसमें अगणित, असंख्य सम्भावनायें निहित हैं। उस मनुष्यता और उसकी सम्भावनाओं का विकास और परिपोष व विनियोग हो सके इसके लिये मानवीय मूल्यों पर आधारित समाज-रचना, शासन-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था होनी चाहिये। वह कहीं भी हुई नहीं है। इसलिये इस देश में भी भौतिक-भोगवाद-परायण मनोवृत्ति एवं उसी की प्रेरक व सहायक अर्थ-नीति, समाज-रचना, शासक-पद्धति चल रही है। साथ ही कुछ ऐसे भी लोग बचे हुए हैं जिन्हें भारतीय संस्कृति की अपनी गरिमा की पहचान है, जो सम्पूर्ण मानवजाति एवं निखिल सृष्टि का कल्याण करने में, समस्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृथ्वी पर जीवन में सुख-चैन लाने-बनाये रखने में समर्थ सनातन भारतीय संस्कृति को बचाये रखना चाहते हैं।

इन दोनों—भारतीय एवं अभारतीय संस्कृतियों के बीच संघर्ष मचा हुआ है, आज। भौतिक भोगवादी अभारतीय जीवन-पद्धति के पीछे सरकार का समर्थन भी है। उसी को समाज का प्रोत्साहन मिलता जा रहा है। किन्तु इसे विनाशोन्मुख अन्धी दौड़ समझने वाले समझदार लोग, वास्तव में हजारों होते हुए भी असंगठित और भीरु हैं। इसलिये उनकी चिन्ता कोई विधायक सर्जनात्मक रूप न लेकर कुण्ठा बन रही है। "सत्य ही विजयी" अवश्य होता है किन्तु इस युग में 'संघे शक्तिः' है। सत्य भी संगठित होकर ही विजयी हो सकता है, दूर-दूर कण-कण बिखरा हुआ जल किसी की प्यास न बुझा पायेगा। संगठित होकर ही सत्य को असत्य से टक्कर लेनी होती है। अधर्म, अन्याय, असत्य की शक्ति हमेशा बड़ी आसानी से संगठित होती है, इसीलिये प्रबल रहती है, और सज्जन बिखरे हुए, विशृंखल, अकेले-अकेले रहते हैं। इसलिये असुरक्षा का एक कारण यह भी है कि धर्म-निष्ठ, भगवत्-परायण अध्यात्मनिष्ठ सज्जन, सदाचारी नागरिकों की संख्या इस देश में बहुत कम न होने पर भी वे संगठित नहीं हैं। वे अपने-अपने घर में रहते हुए समाज को देखकर दुःखी-हताश-निराश होते हैं, कुढ़ते हैं, पर असत्-प्रसार से टक्कर लेने की शक्ति नहीं हैं। शक्ति के सिवा मुक्ति नहीं।

राष्ट्रीय और सामजिक असुरक्षा और अनिश्चितता के कारण हमने देखे। इनका स्वरूप समझे बिना आगे कुछ कहना सम्भव नहीं था। इसलिये कुछ विस्तार से वह कहा गया। मेरी दृष्टि से अध्यात्म जीवन की समग्रता को अपने आश्लेष में लेता है। जीवन के किसी भी अंग पर विचार करना, वहाँ की समस्याओं-उलझनों को सुलझाने का प्रयत्न करना अध्यात्म-विरोधी नहीं है। वह आत्म-साधना का भाग है, जीवन का अनिवार्य अंग है। प्रश्नकर्ता कह रहे हैं कि आज की यह परिस्थिति अन्तःसाधना के लिये अनुकूल नहीं है। ठीक है। **It is not supportive, encouraging or appreciative**, साधना के लिये इस परिस्थिति से कोई मदद मिलने वाली नहीं।

कोई कदर नहीं होगी, प्रोत्साहन भी नहीं मिलना है। क्या हम इसकी राह देखते रहेंगे ? या स्वयं ही सोच-विचार कर ऐसी कोई व्यक्तिगत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा सामूहिक आत्म-साधना की पद्धति खोज निकालेंगे जिसमें आत्म-साधना और समस्याओं का निराकरण दोनों समाये हुए हैं। यह आह्वान है हमारे सामने। चुनौतियाँ समस्यायें नहीं होतीं। (Challenges are not problems.) मरण के बाद मनुष्य के सामने कोई समस्या या चुनौतियाँ नहीं रहतीं। जीवित मनुष्य का लक्षण ही है कि रोज उठने पर नई चुनौतियाँ सामने रहती हैं। ये जीवन के आह्वान हैं। इन्हें संकट न मानें, और इनका सामना करने में हताश या निराश न हों। 'संकट' या 'समस्या' शब्द का ही चित्त पर भार पड़ता है, दबाव आता है, तनाव उत्पन्न होता है, शरीर-रचना में रासायनिक अवसाद भर जाता है। (The word 'problem' creates a pressure, tension and a chemical depression in you.) उसी को 'आह्वान' मानें तो वह भीतर सर्जनात्मक शक्ति जगाता है (It provokes the creative energy.) इसलिये शब्द का उपयोग बड़ी सावधानी से करना पड़ता है।

'अन्तःसाधना' में करना क्या होता है भला ? आत्मसत्ता या परमात्म-सत्ता कोई प्राप्त करने की तो वस्तु नहीं है। जो सहज-सिद्ध, स्वयम्भू है, अनादि काल से जो है ही है; जिसके लिये 'होता है' ऐसा क्रियापद नहीं लगाया जा सकता, जिसे 'नहीं है' भी कहा नहीं जा सकता। ऐसा जो वैश्विक सत्ता का स्वयंसिद्ध होनेपना है, उसे हम परमात्मा कहते हैं। वह तो कहीं छिपा हुआ नहीं है कि उसे खोजना पड़े। वह सत्ता जैसी ब्रह्माण्ड में है, वैसी अपने पिण्ड में भी है। श्वास-प्रश्वास आप संकल्पपूर्वक लेते-निकालते नहीं, वह प्रक्रिया जन्म के क्षण से ही आप में चल रही है। प्राणायाम द्वारा श्वास-क्रिया के विविध प्रकार व प्रस्तार भले ही मनुष्य ने बना लिये, वह दूसरी बात है। नींद अपने आप आती है, उसे भी संकल्पपूर्वक आप ला नहीं सकते, उसके लिये अनुकूलता आप कितनी भी कर दें, पर वस्तुतः नींद में जाना और स्वप्न देखना आपके अपने वश की बात नहीं। ऐसे ही खाये हुए अन्न या आहार को पचाना आपके संकल्प से नहीं होता। 'अब मैं खाया हुआ भोजन पचा रहा हूँ—उसमें से पोषक रस अलग करके शरीर के धातु बना रहा हूँ, और बाकी बचा सब स्थूल भाग शरीर के बाहर निकाल देने की तैयारी कर रहा हूँ'—यह आप नहीं कह सकते। बस आहार का चयन करना, समुचित आहार के कलात्मक रूप बना लेना, आहार को सुन्दर, सुसभ्य रीति से, स्वास्थ्य-नियमों के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुरूप तथा सुसभ्य रीति से मुख में डालना, भलीभाँति चबाना-निगलना जरूर आप कर सकते हैं। (वह भी यदि भीतरी शरीर-रचना, दाँत तथा निकालने की शक्ति सही हो तो।) वहीं तक आपका पुरुषार्थ है, फिर भीतर गये हुए अन्न को पचाना तो स्वयं ही पाचनतन्त्र में बैठी प्रज्ञा करती है। उसमें आपका कोई कृतित्व काम नहीं आ सकता; आपके ही किसी दोष के कारण पाचनतन्त्र में आयी कुछ रुकावटों को दूर करने में चिकित्साविज्ञान सहायता अवश्य कर सकता है, लेकिन प्रारब्ध-नियत आयुष्य पूरा हो जाने पर सर्वथा स्वस्थ-सुषम शरीर में भी फिर कोई जीवन-तन्त्र (श्वसन, पाचन, रुधिर अभिसरण, संवेदन, प्रजनन आदि) काम नहीं करता, चाहे स्वयं धन्वन्तरि अमृत भीतर ढालना चाहें तो भी वह मुख में से भीतर न जायेगा, शरीर में छेद करके डाला जाय तो भी ग्रहण नहीं होगा। आँख-नाक-कान-जीभ-त्वचा के भीतर जो रूप-गन्ध-ध्वनि-स्वाद-स्पर्श के संवेदन ग्रहण करने की शक्ति है, मस्तिष्क में इनका अर्थ-घटन करने की शक्ति है, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार नामके चतुर्मुख अन्तःकरण में जो जीवन के सभी क्रिया-कलाप चलाने की शक्ति है—वह क्या अपने वश की वस्तु है ?

विचार कीजिये कि जीवन में आपका कृतित्व कितना-सा है? जो शक्तियाँ स्वयम्भू स्वतन्त्र वैश्विक प्रज्ञात्मक जीवन सत्ता द्वारा अपनी पृथक्-पृथक् विविध अभिव्यक्तियों में सहज ही—निसर्ग से ही प्रकट हुई हैं। उनका ही सम्यक् विनियोग-भर कर लेने की कला और विज्ञान अवश्य मनुष्य जाति में बने मस्तिष्क और अन्तःकरण ने विकसित किये हैं। जब से मनुष्य जाति बनी और विकसित हुई, तब से उसके द्वारा कला और विज्ञान की दिशा में जो-जो किया गया, उसके संस्कारों का संचय समष्टि-अन्तःकरण में होता रहा। वह सारा संस्कारराशि सघनपुञ्ज रूप में प्रत्येक मस्तिष्क में पड़ा है; कहीं अधिक सजग है, कहीं अधिक गहरा, सुप्त या मूर्च्छित है। इतना ही अन्तर है जो व्यक्ति-मनुष्यों में भीतरी प्रज्ञा जागृति (intelli-gence) के अलग-अलग स्तरों के रूप में प्रकट हो रहा है। इस प्रज्ञा को काम में लेने की प्रणालियाँ 'शिक्षण' के रूप में समाज ने बनायी हैं। व्यक्ति वह शिक्षण लेकर उसका उपयोग-विनियोग वे कर सकता है—बस इतना ही कृतित्व या पुरुषार्थ कुछ अंश तक व्यक्ति के वश में हैं। उसमें भी उस व्यक्ति के वंश आदि का भूतकाल और समुदाय-सम्प्रदाय-क्षेत्र-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवेश आदि के संस्कार काम करते ही हैं। इसीलिये कहा है—"प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।"

संस्कार-विचार-विकार आदि में जो गति भरी हुई है वह आपकी बनाई नहीं है। वह जब व्यक्त होने लगे तब उसे समुचित दिशा देना, सुसंवादी रीति से उसका उपयोग करना, परस्पर-विरोधी गतियाँ हों तो उनका समन्वय साधना यह पुरुषार्थ अवश्य हमें करना होता है। इसलिये ब्रह्माण्ड में जो विश्व-व्यापिनी अखण्ड प्रज्ञा काम करती है वह अपने भीतर भी कार्य कर ही रही है। उसी को विज्ञान ने पहचाना है कि मस्तिष्क के सिवा भी एक (Organic intelligence) प्राणि-मात्र में काम करती है। चिकित्सकों के देखने में भी आया है कि किसी आघात या रोग से मस्तिष्क का कार्य ठप होने या रुँध जाने पर भी वह (Organic intelligence) काम करती ही है।

कहना यही है कि अन्तःसाधना द्वारा आत्मा या परमात्मा को 'पाना' प्राप्त करना तो नहीं है। जो है हो उसे उपलब्ध क्या करना? बस उसके होनेपन को पहचानना है। शरीर की जीवन व स्वास्थ्य-सम्बन्धी आवश्यकतायें पहचान कर वैज्ञानिक दृष्टि से उन आवश्यकताओं की पूर्ति करना, किस ऋतु में कैसा व कितना आहार देना, कैसा वस्त्र पहनाना, शरीर के भीतर-बाहर की गर्मी-सर्दी का सन्तुलन स्वास्थ्य-आरोग्य के लिये किस तरह बनाये रखना, उसमें कोई विकार आने पर कैसे उसका शमन कर लेना, अपनी उपजीविका में से इस सबके लिये व्यवस्था कैसे करना—यही तो साधना है। इसमें बाहर की—समाज, देश, दुनिया की समस्याओं का बहुत सम्बन्ध नहीं आता। उपजीविका का चयन भी प्रायः किशोरावस्था में ही कर लेना होता है अपनी परिस्थितियों तथा क्षमताओं के आधार पर; तब की प्राप्त-परिस्थिति में असम्भव प्रतीत होने वाली किसी विशेष क्षमता का बीज यदि किसी व्यक्ति के भीतर अंकुरित होगा तो 'जीवन' स्वयं उसके विकास के रास्ते खोल ही देगा, इसमें क़तई सन्देह नहीं। फिर भी जो प्राप्त है उसका अधिकतम विनियोग करके अपने जीवन की योजना तो मनुष्य को बनानी ही होती है।

जो समाज अधर्म-अन्याय-असत्य में ही रचा-पचा हुआ है, उससे हम यह अपेक्षा कैसे रख सकते हैं कि वह हमारी साधना-वृत्ति की, यानी सत्य-न्याय-धर्म को जीने के प्रयत्न की सराहना करे, क़दर करे! मदद करे!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिन राजनेताओं को, समाज-नेताओं को, शिक्षण-शास्त्रियों, शिक्षकों, विद्यार्थियों, अभिभावकों, और तो क्या धर्मगुरु कहलाने वालों तक को सत्य-असत्य, हिंसा-अहिंसा, न्याय-अन्याय की कोई परवाह नहीं है, किसी भी तरह से बस अपना-अपना स्वार्थ साधने की पड़ी है जिन्हें! ऐसों से क्या मदद की आशा रखेंगे आप? अन्त:साधना या आत्म-साधना करना चाहते हैं, यानी सत्य को पहचानना और अपने जीवन में सत्य का सतत अनुसन्धान व अनुबन्ध रखना चाहते हैं, तो आपकी गति-वृत्ति होगी तन-मन-बुद्धि-सम्पूर्ण जीवन-व्यापार के शुद्धीकरण की ओर। यहाँ कुछ कहीं से कमाना तो है नहीं। किसी ने भी नहीं कहा है कि आत्म-साधना किसी प्राप्ति का उपाय है। आत्मा-परमात्मा किसी भी प्रकार प्राप्ति का विषय नहीं। हाँ, आपको कोई सिद्धि या अतीन्द्रिय विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त करनी हों—जगानी हों—तो वह क्षेत्र ही अलग है। अनुभूतियाँ भौतिक हों या अतीन्द्रिय हों, अध्यात्म से उनका कोई सरोकार नहीं। वे सब अहंकार की क्रीड़ा और साहस के क्षेत्र हैं। जिन्हें उस साहस में रस हो वे अवश्य चलें उस रास्ते पर। उसमें जो जोखिम या खतरे हैं उन्हें पहचानते हुए, उनका सामना करते हुए अतीन्द्रिय अनुभूतियों के खेल खेलना चाहते हों तो अवश्य खेलें। यह समझ रखें कि प्रत्येक अतीन्द्रिय शक्ति जगने पर जीवन में असन्तुलन पैदा कर सकती है, यदि उसे समग्रता से ग्रहण-धारण न किया जा सके, यदि उस शक्ति के आधार में उसे पचाने का दम (बल) न हो। ऐसा प्रत्येक असन्तुलन अशुद्धि लाता है। इसलिये अतीन्द्रिय शक्तियाँ जगाना, उनके परिणाम-रूप अनुभूतियाँ एवं सिद्धियाँ प्राप्त करना आग से खेलना है। यह खेल करना चाहते हों तो भले करें। उसका अध्यात्म से या धर्म से कोई भी सम्बन्ध नहीं, यह समझ रखें।

आज की सामाजिक-राजनैतिक आदि परिस्थिति अन्त:साधना के लिये प्रतिकूल है इसी अर्थ में कि आज समाज की जीवन-शैली-पद्धति-दिशा अतिशय बहिर्मुखी, भौतिक उपभोगपरायण हो गई। अन्त:साधना में आप जीवन की बाहरी आवश्यकतायें कम से कम करते चलेंगे, समाज का अवलम्ब कम से कम रहे, आप आपने-आप में आनन्द से जी सकें, ऐसा निपट सादगी वाला जीवन अपनाते जायेंगे, और समाज कहता है आवश्यकतायें बढ़ाओ, फिर उनकी पूर्ति के लिये चाहे जैसी जोड़-तोड़-भाग करो! आवश्यकतायें अधिकाधिक बढ़ना आज के समाज में प्रगति का लक्षण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और आप विपरीत दिशा में चलेंगे; आप काया-मन-वाणी-बुद्धि में अधिकाधिक शुद्धि लाते जायेंगे, क्योंकि शुद्धि से ही सत्त्व-बल बढ़ता है, जो सत्य-शोधन एवं सत्यमय जीवन जीने के लिये अपेक्षित है। और समाज चल रहा है अशुद्धि बढ़ाने के रास्तों पर। साधक कहेगा कि शोषणात्मक समाज से न्यूनतम उतना ही लूँगा जितना जीवित रहने व जीने के लिये अनिवार्य आवश्यक है, और समाज को दूँगा अपनी पूरी शक्ति-भर।

Provision according to needs and
service according to capacity !

तब लोगों को तो यह पागलपन ही लगेगा न ! कि आप भ्रष्टाचार नहीं करते, 'ऊपरी' आमदनी नहीं कमाते, किसी की खुशामद-चापलूसी नहीं करते ! समाज ने तो पैसा और भोगविलास को ही 'बड़े'-पन का लक्षण बना रखा है, मनुष्य के रूप-गुण-बुद्धि सभी कुछ को बिक्री की वस्तु बना रखा है। सारे जीवन को व्यापार का बाजार बना डाला है। इसके विपरीत साधक अपने जीवन में मूल्यों का विक्रय तो नहीं ही करता, अपने आपको बेचने की बजाय वह तो अपना-आप लुटा कर परम-चरम सत्य की खोज के लिये सम्पूर्ण जीवनशुद्धि की ओर बढ़ता जाता है। इसलिये यह दो विपरीत दिशाओं की ओर जाने वाली संस्कृतियों और निष्ठाओं का संघर्ष है। यह भोगवादी संस्कृति पर खड़ा समाज कैसे आप को प्रोत्साहन देगा ? मदद या क़दर क्यों करेगा ?

इसलिये यदि आप आत्मसाधना के पर चलना चाहते हैं तो समाज की मदद या समर्थन-प्रोत्साहन की आशा-अपेक्षा क़तई न रखें। कहीं से कोई मदद, क़दर, प्रोत्साहन मिले तो प्रभु की कृपा और पूर्व-पुण्योदय समझें; क़दर न मिलना ही स्वाभाविक समझें।

अब प्रश्न के तीसरे भाग को लें। चित्त में द्वन्द्व है कि बाह्य समस्याओं के सुलझाने की दिशा में अपनी शक्ति,मति,सम्पत्ति अर्पित करें ? या आत्म साधना-सत्यशोध की ओर जीवन का सर्वस्य लगायें। इस पर मेरा कहना है कि दोनों एक-साथ करें, 'यह या वह' 'either this or that' नहीं। दोनों मोर्चों पर एक-साथ काम करना आना चाहिये। मुझसे सम्पर्क रखने वाले सत्सङ्गी-साधक लोगों से मैं कहती हूँ कि रोज़ के चौबीस घण्टों में से बारह घण्टे आप परिवार और समाज को दीजिये, बाकी बारह घण्टे (रात

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के ८-९ बजे से सुबह ८-९ तक) अपने लिये रखें। उस समय में अपनी प्रकृति-वृत्ति-संस्कार के अनुसार जो भी मार्ग पकड़ना चाहें उसमें स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, जप, भजन, मौन, योगाभ्यास आदि जो भी करना चाहें वह करें। इन बारह घण्टों में से ६-७ घण्टे तो नींद में जायेंगे ही, दो घण्टे नहाने-धोने-निजी व्यवस्था में लगेंगे, बाकी ३-४ घण्टे जो हाथ में रहें वे अन्तःसाधना के लिये सुरक्षित रखें। दिन के बारह घण्टों में समाज से सम्पर्क रखें, आपसे जो बन पड़े वह समाज की भलाई के लिये करें। [उसमें भी निजी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की वस्तुओं में स्वदेशी, ग्रामोद्योगी-गृहोद्योगी-कुटीरोद्योगी का ही उपयोग करें तो अनायास आपका धन देश के वास्तविक ज़रूरतमन्द ग़रीब व निम्नमध्यम वर्ग के लोगों के हाथ में जायेगा। आरोग्य व सुबुद्धि के लिये देशी नस्लों की गाय के दूध का ही प्रयोग परिवार में करें। औषधि की आवश्यकता पड़ने पर घरेलू, प्राकृतिक, आयुर्वेदिक या होमियोपेथी चिकित्सा ही अपनायें, एलोपेथी से दूर रहें और कुटुम्ब को भी एलोपेथी का विष-सेवन न करायें। इस सबसे सहज ही आप सपरिवार भारतीय संस्कृति एवं विरासत की रक्षा के साथ-साथ अनेकों सामाजिक तथा पर्यावरण के अनर्थों के निवारण में सक्रिय सहयोग दे रहे होंगे।] इस तरह मन पर भार नहीं रहेगा।

आत्मसाधना के लिये आपको जो पथ अनुकूल (स्वभाव-संस्कार-रुचि के अनुरूप) लगता हो उस पथ के परिचायक ग्रन्थों का अध्ययन करें, उस पथ के अनुभवी महात्माओं के जीवन एवं वाणी का स्वाध्याय करें; वैसे किन्हीं महात्मा व्यक्तियों का प्रत्यक्ष सम्पर्क सम्भव हो तो उनका सङ्ग करें; उनसे चर्चा करें। जहाँ आप खड़े हैं, वहाँ से प्रारम्भ करें। जैसे प्रतिदिन के १२ घण्टे समाज व कुटुम्ब के लिये और १२ घण्टे अपने लिये रखते हैं, वैसे सप्ताह का एक दिन पूरा आत्माभीप्सा के लिए सुरक्षित रखें। उसमें फिर समाज को-कुटुम्ब को बुरा लगे, असुविधा हो, इससे बुरा-भला सुनना पड़े—यह सब सह लेना होगा। परिवार कहेगा कि साधन-भजन ही करना था तो घर क्यों बसाया ? आप मन में उत्तर दे सकते हैं कि तब यह पता न था।

"जब से जगे रे भाई, तब से सबेरा !"

साधना केवल शुद्धीकरण की प्रक्रिया है। **Illumination, enlightenment or transformation is the by-product of the purification.**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तः प्रकाशन, आत्मसाक्षात्कार, चैतसिक उत्क्रान्ति हमें करनी नहीं होती; शुद्धि के रास्ते पर आगे बढ़ते-बढ़ते वह अपने आप निष्पन्न हो जाती है। हमारी दृष्टि शुद्धि पर रहे। शुद्धि के लिये आहार-विहार में कोई नियम लाने पड़े, परिवर्तन करने आवश्यक दिखें तो वह करते चलिये। अपनी ही बिगड़ी आदतों का दृढ़ता से सामना करना पड़ता है। साधना अर्थात् अन्तर्बाह्य जीवन शुद्धि के अनुरूप जो आहार-विहार है वही करना है दूसरा नहीं चलेगा।....मैंने बचपन में अपने मातामह (नाना) का जीवन अनेकों वर्षों तक उन्हीं के पास रहते हुए बड़ी निकटता व सूक्ष्मता से देखा है। वे छत्तीसगढ़ के जागीरदार थे, छत्तीस गाँवों का सब कारोबार सम्हालना होता था, कार्य-व्याप बहुत बड़ा था, परिवार भी बड़ा था। स्वयं नानाजी बड़े गहरे साधक व श्रीरामभक्त थे। उनके निजी १२-१४ घण्टे के साधना-समय में कभी-भी किसी भी परिस्थिति से खलल नहीं पड़ती थी, और घर में दीवाली हो, कोई भी त्यौहार हो या विवाहादि प्रसङ्ग हो, नानाजी के आहार में कभी परिवर्तन नहीं देखा। उनका जो रोज का नपा हुआ जैसा आहार था वही हमेशा रहता था। उसके बाहर कभी नहीं गये। क्योंकि वे साधक थे।

यह दृष्टान्त इसलिये बताया कि गृहस्थ जीवन में भी ऐसी नियमितता सम्भव है। इससे शरीर के नाड़ीतन्त्र एवं रसायन-तन्त्र में एक लयबद्धता आती है, संवाद-संगीत निष्पन्न होता है। शरीर की चपलता-तरलता-स्फूर्त्ति में कभी कमा नहीं आती, वयःमान के अनुसार (आयु बढ़ने के साथ-साथ) स्फूर्ति की अभिव्यक्ति बदलेगी किन्तु जड़ता-आलस्य-प्रमाद नहीं आयेगा।

शरीर के समान वाणी की शुद्धि भी करनी होगी। जो करना है, जो करते हैं, जितना करते हैं उसका अनुसन्धान रखते हुए जितनी खास जरूरत हो उतना ही दूसरों से बोले। केवल शब्दों की व्यर्थ बौछार करना, इधर-उधर से बटोरे हुए या उधार लिये हुए शब्दों के खजाने का प्रदर्शन न करें, स्वयं को जितना-सा सत्य समझ में आया हो उतना ही बोलें। मन में जैसा हेतु हो उसी को सीधे कहने वाली वाणी हो और मुख से जो कहा गया हो वैसा ही व्यवहार, बर्ताव, कर्म करें। अतिशयोक्ति न हो, अल्पोक्ति न हो, अन्यथा उक्ति न हो। सत्यनिष्ठा से वाणी की शुद्धि होती है। जप-तप-धारणा-ध्यान से अधिक महत्त्व सत्यनिष्ठा का है, क्योंकि चरमतत्त्व का स्वरूप सत्यात्मक है। सत्य का स्वरूप चिन्मय और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्दमय है। कोई भी पुस्तक, ग्रन्थ पढ़े बिना ही, सहज ही अपने हृदय में सत्य एवं प्रेम के प्रति, सत्याचरणी व्यक्ति के प्रति आदर क्यों रहता है? क्योंकि अपनी सत्ता का स्वरूप है सत्य एवं प्रेम। ऐसे ही प्रत्यक्ष दिखाई देते हुए जगत् और अपने शरीर आदि के पीछे इनसे परे क्या है?—यह जानने, समझ लेने की इतनी प्रबल आकांक्षा-आतुरता भी इसीलिये रहती है क्योंकि अपना स्वरूप-सत्त्व चिन्मय है, स्वयम्भू-स्वसंवेद्य ज्ञानात्मक है।

ज्ञान और अज्ञान के पार जो अपना स्वरूप है वह चिन्मयसत्तात्मक है, इसीलिये ज्ञान एवं आकलन के लिये इतनी अभीप्सा-आकांक्षा रहती है। आनन्द कभी न कभी अपने जीवन को सर्वाङ्ग भिगो देता है, सुख-दुःख के द्वन्द्व वाले स्तर पर जीते हों तो भी, आकलित रूप से, हठात् कभी अकारण ही भीतर से आनन्द उछलता, उमगता है, उस आनन्द के आलोक से सम्पूर्ण जीवन अभिभूत हो जाता है।

....विचार-विकारों के उपद्रवों से श्रमित चेतना, शब्दों के कोलाहल में व्यतिव्यस्त हुई, थक कर चूर हुई, और सनी हुई लथपथ चेतना का प्रक्षालन होता है मौन द्वारा। उस मौन में जाने के लिये समाज कहाँ आड़े आता है भला? हाँ, समाज आड़े आता प्रतीत होता है—क्योंकि उसका बहाना लेकर हम मौन से बचना चाहते हैं। क्योंकि मौन में जाने का पुरुषार्थ हमें स्वयं करना होता है। सगे-सम्बन्धी मदद कर सकते हैं शब्दों द्वारा; सन्त-अनुभवी-महात्मा मदद कर सकते हैं उनसे मिलने वाले प्रेम द्वारा। पर पुरुषार्थ स्वयं को ही करना होता है। स्नान जैसे स्वयं हो करना होता है, भोजन स्वयं भीतर लेना होता है, अतिशय स्नेही व्यक्ति भी अपने प्राणाधिक प्रिय व्यक्ति के लिए भी भोजन कर नहीं सकते, एक का किया हुआ भोजन दूसरे के शरीर की क्षुधा-तृषा मिटा नहीं सकता, पुष्टि दे नहीं सकता। पेट भरने के लिये भोजन स्वयं ही करना पड़ता है, शरीर की शुद्धि लिये स्नान स्वयं करना होता है, वैसे ही जीवन की सर्वाङ्गीण शुद्धि के लिये जो प्रयत्न स्वशिक्षण के लिये करने होते हैं, उन प्रयत्नों को हम साधना कहते हैं। उस शुद्धि-प्रयत्न के लिये सप्ताह में एक दिन या पक्ष में एक दिन केवल जल पर रहें, वह सम्भव न हो तो दूध-फल लेकर रहें। मौन रहें, अकेले रहें, हो सके तो घर से बाहर कहीं एकान्त में रहें, जहाँ आप को कोई किसी भी नाते से सम्बोधन न करे। कहीं बगीचे में, नदी-किनारे, खेत में, या जहाँ भी निसर्ग के साथ एकान्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मौन रहना सम्भव हो वहाँ जा बैठें; उपवास इसमें सहायक होगा। निसर्ग के साथ व आकाश के साथ निपट अपने आप के साथ सीधा सम्बन्ध जीना हो तो इसके लिये शरीर-मन को अवसर देना होता है।

कहिये तो! इस साधना-स्वशिक्षण के लिये राष्ट्रीय-सामाजिक दुरवस्था और असुरक्षितता या विषम परिस्थिति कहाँ आड़े आती है? राष्ट्रीय व सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिये समय देना स्वधर्म जान पड़ता है—राष्ट्र के नागरिक होने के नाते, समाज से अन्न-वस्त्र-आवास-जीवन के सम्बन्ध होने के नाते—तो सप्ताह के शेष छह दिनों में प्रामाणिकता से यथाशक्ति-यथामति अवश्य ही समाज-हितकर कर्म करें।

समस्या यह है कि जहाँ वर्तमान पद्धति से काम करने वाले संस्था-संगठन हैं, उनके द्वारा यह होना मुझे सम्भव नहीं दिखता। सख्यमूलक, सहयोग-परायण, संगठित पुरुषार्थ ही साधना के अनुकूल समाजसेवा करने देता है। व्यक्तिनिष्ठ, सम्प्रदायनिष्ठ या प्रभुत्ववादी, धनाधारित संगठन ऐसा नहीं कर सकते। वे संस्था-संगठन एक ढाँचा खड़ा करते हैं, उसी में स्वयं को बाँध लेना होता है। कुछ आदर्शों या ध्येयों से बँधे हुए भी संस्था-संगठन होते हैं—They expect from you exclusive loyalty for their chosen aims and objects, their mechanical methodology of functioning and the relationships based on employer-employee.

यह पूर्वी देशों में १६वीं-१७वीं सदी तक नहीं था। मुगलों के ज़माने में भी नहीं था। पश्चिमी अंग्रेजो सभ्यता में से क्रमशः यहाँ आया है। संस्था-संगठनों की मार्फत समाज-सेवा करने की कल्पना हमने उधार लेकर अपना ली पिछले दो-तीन सौ वर्षों में। इस परम्परा को अब छोड़ना होगा। अब की तरुण पीढ़ी यह 'मालिक-नौकर' या 'स्वामी-सेवक' सम्बन्ध स्वीकार नहीं करेगी। किसी ने पाँच लाख या पचीस करोड़ रुपये लगाकर कोई संस्था बनाई हो तो उसमें उस स्थापक की इच्छा के अनुसार ही सब काम चलें, उसकी राजनैतिक अभिसन्धियों के अनुकूल ही कार्य हो—यह अब नहीं होगा। व्यक्तिनिष्ठ या पूर्वनिर्धारित (स्वार्थ-हेतु-साधक) ध्येयनिष्ठ संस्था-संगठनों के दिन लद चुके। इसलिये जो सामूहिक पुरुषार्थ करना होगा उसका नवीन ही गतिविज्ञान और कार्यशैली खोज लेनी होगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदाहरण देती हूँ। इस देश में शोषण-मूलक अर्थनीति और अर्थतन्त्र है, यह समझ में आया। हम इसे बदलना चाहते हैं। आज जो रिश्वत खोरी और 'ऊपरी कमाई' वाला भ्रष्टाचार है, इसका हम अन्त लाना चाहते हैं कम से कम अपने जीवन में, तो ऐसे साधकों को मिलकर आजीविका-उपार्जन का कोई ऐसा मार्ग खोज निकालना या बना लेना होगा कि जिसमें रिश्वत का कोई सम्बन्ध न आये। 'मैं रिश्वत नहीं लूँगा। मुझे बिना मेहनत की 'कमाई' नहीं करनी है, किसी भी तरह का भ्रष्टाचार का धन घर में या उपयोग में नहीं लेना है। यहाँ से आरम्भ करें। इसलिये 'धनी' बनने की वासना का मैं त्याग करूँगा। 'वैराग्य' और 'त्याग' शब्दों के अर्थ भी सामाजिक सन्दर्भ के अनुसार बदलते हैं। भगवें कपड़े पहन कर परिवार व घर से निकल जाना त्याग-वैराग्य नहीं। घर से निकले; फिर समाज से चन्दा माँग-माँग कर बड़ी-बड़ी निधि इकट्ठी करने, मठ-आश्रम खड़े करने लगे; यह समाजसेवा नहीं। धनाधार न्यूनतम करते हुए जनाधार बढ़ाना चाहिये। सत्य और सख्य के आधार पर लोग इकट्ठे हों, व्यक्तिनिष्ठ एकता नहीं, सहयोग का मानस बने, स्पर्धा-तुलना का नहीं।

राष्ट्रीय, सामाजिक व आर्थिक तन्त्रों में सुधार लाने की दिशा में सामूहिक विचार, चिन्तन-गोष्ठियाँ करके उनके साररूप सद्विचार सरल-सुगम भाषा में लिखकर प्रकाशित किये जायें; नौवीं-दसवीं-बारहवीं कक्षाओं के किशोर-तरुण विद्यार्थियों को वे विचार समझाकर उनका मानस नई जीवनपद्धति के लिये तैयार किया जाय। मनुष्य में आत्मशक्ति के अनन्तर प्रकट करने योग्य शुद्ध शक्ति विचार की ही है। विचार शक्ति की सहायता से ही आत्मशक्ति भी जगाई जा सकती है। अतः सद्विचारों का प्रचार किया जाय; तदनुरूप छोटे-छोटे प्रयोग किये जायें। **Dodging tne state and state agencies, not opposing them, but not begging from them.**

ऐसा किया जा सके, तो मुझे लगता है कि सामाजिक-स्वधर्म निभाते हुए भी अन्तः-साधना करने में कोई अड़चन नहीं आयेगी।

और एक मुद्दा है। हम प्रतिकूल परिस्थिति में यह नया प्रयोग एवं कार्य करने वाले हैं, इसलिये थोड़े ही समय में इनका कोई खास परिणाम दिखाई नहीं देगा। साधक के जीवन में सफ़लता और विफलता ये शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं आते। उसके लिये कर्म की कसौटी एक ही है कि मेरे चित्त की, जीवन की शुद्धि हुई या नहीं ? मेरे साथी-सहयोगी लोगों की जीवनशुद्धि में मैं आड़े तो नहीं आ रहा हूँ ? यश-अपयश की कसौटी केवल 'कार्यकर्त्ता' की अलग होगी, साधक व्यक्ति की अलग। जीवन-साधक को जीवन जीने की वैकल्पिक पद्धति खोजनी है, सामाजिक-सम्बन्धों के वैकल्पिक आधार खोजने हैं, और व्यक्ति की वैकल्पिक मनोदशा खोजनी है, जो आज अहंकेन्द्रित है, भयग्रस्त है, महत्त्वाकांक्षा से ग्रस्त है। इसके बदले खोजनी है वह मनोदशा जो प्रशान्त होगी, प्रसन्न होगी, अभय होगी। कार्य में चित्त की दशा प्रतिबिम्बित होती है। कार्य की गुणात्मकता कार्य करने वाले व्यक्ति की चित्तदशा से बहुत निगूढ़ रूप से सम्बद्ध होती है। इसलिये साधक अपने कार्य का मूल्यांकन अपनी अन्तर्दशा के नाप से करता है।

और एक मुद्दा देखें—जीवनशुद्धि-चित्तशुद्धि के लिये हम जो कुछ कर रहे हैं उसके मानसिक स्तर के फल की आशा या चाह भी साधक के चित्त में नहीं होनी चाहिये। कर्म करने का अवसर मिला—यही सन्तोष का निमित्त रहे। **The opportunity to act, the opportunity to unfold your inner being, your concern for the people, for the under-dog, for the downtrodden, for the exploited. The opportunity to work is the grace of Divine unto you.** अपना अन्तःसत्त्व कर्म में प्रकट करने का अवसर मिलना ही प्रभुकृपा है। यही अनुग्रह है जीवन-विभु का कि सत्कर्म करने की मन में प्रेरणा है, बुद्धि में शक्ति और इन्द्रियों में उसकी क्षमता है।

वह अनुग्रह मिला हो तो फिर और क्या व क्यों चाहना ? 'लोग प्रशंसा करें, प्रतिष्ठा दें, मेरे काम की क़दर करें'—यह मन में आये ही क्यों ? जब "ईशावास्य है यह सारा जगत्" तो कोई कहीं किसी के लिये भी हितकर कर्म कर रहा हो, सब स्वयं ईश्वरार्पण ही है। प्रत्येक कर्म प्रभुपूजा का पुष्प है; प्रेम से जो भी सत्कर्म किया जाता है वह सब भजन-पूजन-अर्चन ही है—ऐसा जीवन का गतिविज्ञान हो तो जीवन जीने के कर्म स्वयं ही अपने आप में परितोष-प्रद होते हैं। कर्म में ही परितृप्ति होने के कारण उसके परिणाम या फल की ओर नज़र नहीं लगी रहती।

कोई ईर्ष्या करेगा, कोई द्वेष रखेगा, कोई दूर जायेगा, कोई पास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आकर सहयोग-तत्पर होगा। यह सब तो होने ही वाला है। विविधता, विचित्रता, विलक्षणता मनुष्य की चेतना में है, इन्हें धो-पोंछकर फेंका नहीं जा सकता। मन के ही स्तर पर जीने वालों में स्वभाव-भिन्नता रहेगी ही। कोई सुधार का 'स्टीम रोलर' या 'बुलडोज़र' चलाकर सबके मन की एक ही दशा तो बनायी नहीं जा सकती। इसीलिये, सुकरात को विष पीना पड़ता है, 'यीशु' को सूली पर चढ़ना पड़ता है, भगत सिंह, राजगुरु को फाँसी पर लटकाया जाता है, चन्द्रशेखर आज़ाद को मरना पड़ता है, वीर सावरकर को यातनायें सहनी पड़ती हैं; विनोबाजी, दादा धर्माधिकारी, जयप्रकाशजी, जवाहरलाल नेहरू जी आदि को लम्बी जेल भुगतनी पड़ती है; गांधीजी को कितनी ही जेलें भुगतना, उपवास करना, आखिर भी अपनों के हाथ से ही गोली खाकर मरना पड़ता है; अगरकर, गोखले, तिलक, एशियाटिक सोसाइटी बनाने वालों को कितने कष्ट झेलने व भूखे रहना होता है। पर उन्हें कभी ये प्रतिकूलतायें नहीं प्रतीत हुईं। Standard of living, fulfilment in the terms of wealth, appreciation and acknowledgement by people, वैभव-विलास, ऐय्याशीभरा सम्पन्न जीवनस्तर, धन और सुख सामग्री और लोगों में वाहवाही, बाहरी प्रतिष्ठा के ही नाप से सफलता बढ़ी-चढ़ी होना— ये सब जो आज के सामाजिक व व्यक्तिगत मूल्यांकन हैं, ये कहीं कचरे की टोकरी में जा पड़ते हैं। भक्ति के लिये राजवैभव लौटा देने वाले, भूखों रहकर भजन करने वाले तुकाराम भी क्रान्तिकारी ही थे। नदी-स्नान करके आते समय बाजी लगाकर एक सौ आठ बार शरीर पर थूकने वाले यवन को उपकारक मानने वाले एकनाथ ने अक्रोध की शक्ति प्रकट की, प्रेम द्वारा प्रतिकार की रीति सिखायी। हमें लगता है कि विरोध में हाथ-पाँव चलाकर, एक के बदले दस सुनाकर ही प्रतिकार हो सकता है।

प्रेम द्वारा प्रतिकार अलग ही प्रकार का हो सकता है।....थककर, लज्जित होकर यवन पाँव पड़ने लगा तो एकनाथ महाराज उसे गले लगाकर बोले—"अरे भाई! रोज मैं एक बार ही स्नान करता था, आज तुमने मुझे एक सौ आठ बार स्नान का अवसर दिया—इतना बड़ा उपकार किया मुझ पर!"....और एक बार, विशिष्ट भोज के लिये ब्राह्मण पंक्ति बैठी है, पत्तलें लगी हैं, सौ० गिरिजाबाई (एकनाथजी की पत्नी) झुक-झुक कर परोस रही हैं। तभी ईर्ष्यालुओं का सिखाया हुआ एक उद्दण्ड आदमी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कूदकर उनकी पीठ पर चढ़ बैठता है। एकनाथ जी बड़े प्रेम से कहते हैं—"देखना ! बेटा पीठ पर है, गिरे नहीं !" और वे भी उन्हीं की तो पत्नी हैं। कहती है—"आप चिन्ता न करें ! हरि (अपने पुत्र) को नौ महीने पेट में रखा है तो इसे घण्टा भर पीठ पर न संभाल सकूँगी क्या ?"....क्रोध वृत्ति का स्पर्श ही नहीं चित्त में कहीं।

यह वैकल्पिक जीवन-पद्धति है। चित्त की दशा बदलती है। इसका गौरव आदि समझ में आये तो अध्यात्म का अर्थ पकड़ में आ सकेगा। अध्यात्म सम्पूर्ण जीवन की ओर देखने वाली नवीन दृष्टि है। जीवन की समग्रता के स्वीकार में से जीने की एक नई पद्धति प्रकट होती है। उस पद्धति से चित्त की दशा बदलती है। चित्त दशा बदलती है तो सृष्टि, पदार्थ, व्यक्ति सभी के साथ सम्बन्धों का आधार बदलता है; इसी से फिर समाज का पोत (ताना-बाना, texture) बदलता है। इसलिये वैयक्तिक अन्तःसाधना आत्म-साधना और सामाजिक कर्म में विरोध नहीं है। अकेले या सामूहिक रूप से कोई काम करना चाहते हों, परिवर्तन की आकांक्षा हो, हृदय में क्रान्ति की ज्योति हो तो साधना के साथ-साथ कर्म भी हो ही सकता है। हाँ, ज्वाला (राग-द्वेष-ईर्ष्या-मद-मत्सर) न हो। हमें क्रान्ति की ज्वाला नहीं दहकानी है, ज्योति प्रगटानी है। प्रत्येक हृदय में क्रान्ति दीप प्रज्ज्वलित होना चाहिये, जिसमें शान्ति-स्नेह भरा हो, और आकलन (समझ) की 'बाती' हो। भले ही चहुँओर अमावस का गहन घोर अन्धकार छाया हो, हम अपने-अपने अन्तर्बाह्य जीवन में ये समझ-दीप जलाकर इस अमावस को दीपावली बना दे सकते हैं। व्यक्ति-चेतना-परिवर्तन और समाज-चेतना-परिवर्तन हाथ में हाथ डाले हुए साथ ही साध साधना होगा। समाज-व्यवस्था-परिवर्तन को हमारी आत्मिक साधना का उपकरण, माध्यम, वाहन बनाना चाहिये। 'कार्यकर्त्ता, नेता, सुधारक' के बदले जिज्ञासु, सत्सङ्गी, साधक बनें। ऐसे जीवनसाधकों का एक नया समाज भारत में खड़ा हो—ऐसी प्रार्थना प्रभु से करती हूँ।

प्रश्न—"समग्र जीवन का बिनशर्त स्वीकार ही अध्यात्म है"—ऐसे आप कहा करती हैं, तो जो व्यक्ति ऐसे जीवन में उतरा हो उसका कर्मयोग कैसे रहेगा ?

उत्तर—अरे भाई ! कर्मयोग में भी क्या फ़र्क या अन्तर रहता है ? कर्ताभाव के बिना कर्म की सरिता बहना ही कर्मयोग है, वह वहाँ रहता है। ज्ञाताभाव के बिना वहाँ ज्ञान की गंगा बहती है—"मैं कर्म कर रहा हूँ, मैं ज्ञान दे रहा हूँ...." ऐसी वृत्ति वहाँ उठती ही नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"मिटे कर्ता तो छुटे कर्म। अखा कहे यही धर्म का मर्म।"

कर्ताभाव मिटने पर 'कर्म' छूट जाता है, बस 'योग' रह जाता है। वहाँ 'क्रिया' नहीं रहेगी। 'कर्म' होगा (activity नहीं, action) होगा। क्रिया को जगाने वाले स्रोत हैं—इन्द्रियों में समाये हुये संस्कार। संस्कारों की अपनी गति है। इन्द्रियाँ जब खींच ले जाती हैं आपको, और कुछ करने के लिये विवश बनाती हैं वह क्रिया है। तब आप इन्द्रिय-वश हैं, परवश हैं, स्ववश-निजवश नहीं है। जिस समाज में आप रहते हैं उसके मूल्यांकन यदि आप ने स्वीकार कर लिये हों कि "इतना पैसा हो—इतने सामान घर में हों, इस तरह का रहन-सहन और खाना-पीना हो तो वह सुखी और प्रगतिशील प्रतिष्ठित व्यक्ति है" उनकी अग्रिमतायें तथा अग्रिमताओं का क्रम भी आपने स्वीकार कर लिया हो, तो आपका सारा जीवन उन अग्रिमताओं और मूल्यांकनों की प्रतिक्रिया-रूप होता है, वह कर्म नहीं है।

कर्म परायत्त नहीं हुआ करता, कर्म स्वायत्त होता है। "यह मैं समझता हूँ, यह मैं करता हूँ, यह करने में मुझे आनन्द आता है"—ऐसा समझते हुए अपने पूरे अभिक्रम से जो कर्म होता है वह स्वायत्त होता है, उस कर्म में आनन्द आता है। वह कर्म आनन्द का सेतु बनता है। इस प्रकार कर्म सेतु बने तब वह कर्मयोग है। यदि कर्म प्रभुसत्ता के साथ जोड़ने का सेतु न बने, अकर्मावस्था का आनन्द न दे, बल्कि उपाधि बन जाय तो वह कर्म योग का निमित्त नहीं होता। योगकारक कर्म बन्धनापादक नहीं, मोक्षदायक बनता है।

जिसने जीवन का पूरा स्वीकार किया है; जीवन में अपने-आप का भी स्वीकार किया है; जो अपने जीवन को समझता है इसलिये चुनाव किये बिना सहज रूप से प्राप्त कर्म करता जाता है या सहजता में कर्म होने देता है, वह कर्मयोगी का जीवन है। गीता के बारहवें अध्याय (श्रीज्ञानेश्वरी) में भक्ति-योग कहते-कहते इसका बड़ा मनोरम, हृद्य वर्णन ज्ञानराय करते हैं। वासुदेव मुख से अर्जुन के प्रति कहते हैं कि "तू जैसे जीता है, जो कुछ करता है, वह करता रहे। लेकिन 'मैं कर रहा हूँ'—यह भावना मुझे दे दे। प्रकृति स्वयं ही तुझ से कर्म करवा लेगी।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—आज की वर्तमान सामाजिक राजकीय, सांस्कृतिक आदि परिस्थिति के सन्दर्भ में कर्मयोगी के व्यवहार पर कृपया प्रकाश डालें !

उत्तर—आज स्थिति तो कुछ है नहीं। सांस्कृतिक पक्ष को देखें तो संस्कृति का घोर अवमूल्यन है। संस्कृति के भग्नावशेषों को भी शेष नहीं रहने देना है। नैतिकता का इतना ह्रास (demoralisation) है कि क्या चर्चा करें ? राजकीय परिस्थिति में राजनीति कोई रही नहीं है। सारे जीवन का ही अपराधीकरण कर दिया है। **It is a criminalisation of total life, not only criminalisation of Politics or Economics.** सामान्य नागरिक चेतना में ही अपराधवृत्ति घर कर गई है, **brutalise** हो गई है।

ऐसे हालात में कर्मयोगी जो होगा, जहाँ जीता होगा, वहाँ अपनी शक्ति-मति एवं साधनों की अनुकूलता को देखकर जितनी विकृतियाँ हैं उनके साथ पहले तो असहयोग करेगा, अपने व्यक्तिगत जीवन में उन विकृतियों को यथासम्भव नहीं आने देगा; अवमूल्यन का अस्वीकार करेगा, विकृतियों के साथ जूझेगा, प्रतिकार करेगा, असहयोग करेगा। फिर जैसे समाज की, जैसी विश्वनीति-लोकनीति और जैसी संस्कृति का दर्शन उसके हृदय में है उसे वह अपने जीवन में स्थापित करते हुए सबके सामने रखेगा, अपने परिवार के सामने, मित्रों के सामने, समाज के सामने रखेगा। उसका (विकृतियों एवं अवमूल्यन के प्रति) प्रतिकार विधायक होगा, विघातक नहीं। वह Cynic नहीं बनेगा कि 'इतना सब बिगड़ चुका है, अब कुछ बनने वाला नहीं, कोई सुधार हो नहीं सकता ! इसलिये मैं मेरे घर में, मेरे घोंसले में बैठा हूँ।''—कर्मयोगी का जीवन पक्षी के घोंसले जैसा नहीं बनेगा। कर्मयोग व्यक्ति को एकाकीपन (isolation) में नहीं ले जायेगा। **Cynic becomes an intellectual isolationist.** अहंकारी होगा तो self-righteous बनेगा कि ''मैं ही एक सही कार्य करने वाला बचा हूँ, बाकी सारी दुनिया रसातल को जा रही है। ऐसे अहं-पावित्र्यवाद के कारण वह समाज से व जीवन से अलग-थलग एकाकी हो जायेगा।

कर्मयोगी कहेगा कि समाज का मैं भी अङ्ग हूँ ! आज जो भी हालत है उसके होने में मैं भी सम्मिलित हूँ। इसको सुधारने का जो रास्ता मुझे दिखता है उसे सबको (जहाँ तक मेरी पहुँच है वहाँ तक) समझाऊँ, लिखूँ,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बोलूँ और जो कुछ मुझसे बन पड़े वह स्वधर्म-पालन के आनन्द से करूँ। कर्मयोगी की दृष्टि परिणाम-परायण नहीं, स्वधर्मपरायण होती है। इसलिये जितना उससे हो सकेगा वह करता रहेगा, क्योंकि वह उसका अवैकल्पिक कर्म (choiceless action) है। कुछ भी कर्म किये बिना तो कोई भी रह नहीं सकता—"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (गीता) कर्म करते-करते ही सौ वर्ष जीना है—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" (ईशावास्य) क्योंकि संस्कार देह में रचे-पचे बैठे हैं, उनकी अपनी गतियाँ हैं, वे विवश करके आप से कुछ करा लेंगी और क्रिया-प्रतिक्रिया की व्यहरचना में आप फँस जायेंगे। वह एक चक्रव्यूह है, उसमें से निकलना नहीं हो पाता। क्रिया-प्रतिक्रिया के चक्रव्यूह में इन्द्रियाँ और संस्कार न ले जायें, इसलिये कर्म करना होता है। इस अर्थ में कर्म मुक्तिदायक है। क्रियायें बन्धनापादक हैं।

प्रश्न—Secularism शब्द का प्रयोग हमारे विद्वान् विचारक और पार्टीबाजी करने वाले आज के नेता लोग बहुत करने लगे हैं, विशेषकर रामजन्मभूमि के सन्दर्भ में। इस शब्द से वास्तव में कौन-सा मूल्य सूचित होता है? जीवन की अध्यात्मदृष्टि और धर्मनिरपेक्षता का सह-अस्तित्व क्या रह नहीं सकता? Secularism हमारे राष्ट्र की नींव बन सकता है? क्या रामजन्मभूमि का पुनर्निर्माण करने की आवश्यकता है?

उत्तर—प्रश्न यदि प्रतिक्रियामुक्त होता तो इतना ही पूछा जाता कि 'सेक्युलेरिज्म' (धर्मनिरपेक्षता) का अर्थ क्या है? इससे कौन सा मूल्य सूचित होता है? चित्त की प्रतिक्रियायें जब जिज्ञासा में मिल जाती हैं तो उसे धूमिल बनाती हैं। उससे प्रश्न के मूल आशय का जोर कम होता है, जिज्ञासा को शुद्ध रखने के लिये उसे प्रतिक्रिया से मुक्त रखना आवश्यक है। (Reaction and enquiry are qualitatively different things) प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है लेकिन प्रतिक्रियाओं के आधार पर जिज्ञासा का समाधान या जानना नहीं हो सकता। उस शब्द का प्रयोग कौन करते हैं और कैसे करते हैं इससे हमें क्या मतलब? हमें जानना है कि जिस 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द का प्रयोग पिछले चालीस-बयालीस वर्षों से हो रहा है उसका अर्थ क्या है? इसमें कोई मूल्य है? यदि है तो क्या? यह रहेगा जिज्ञासा का शुद्ध रूप। जिज्ञासा अपने आप में बड़ी पवित्र वस्तु है, लेकिन जब प्रतिक्रिया उसमें घुस जाती है तो उसे मलिन कर देती है क्योंकि जिज्ञासा को साधन बनाकर प्रतिक्रिया अपना समा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धान उसमें से खोजना-पाना चाहती है। जिज्ञासा प्रतिक्रियाओं की सन्तुष्टि या निवारण के लिये नहीं होती है। उसमें सहज ही प्रतिक्रिया निवृत्त हो जाय तो बहुत अच्छा हो, पर प्रायः ऐसा होता नहीं है। इसलिये अध्यात्मसाधक के लिये जिज्ञासा में प्रतिक्रिया का मिश्रित हो जाना बड़ा ख़तरनाक है। अकारण ही एक अन्तराय खड़ा होगा।

खैर, अब प्रश्न को देखें। आख़िर यह प्रश्न मुखर हुआ ही जो आजकल सबके चित्त में मँडरा रहा है। मेरा तो राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक या धार्मिक भी कोई सम्प्रदाय है हो नहीं। **I am deeply in love with Life, and entirely dedicated to the act of living, which takes place in the movements of relationships. Nothing can divert me from the love of life and the dedication to the act of living.**

(मैं तो गहराई से जीवन के प्रेम में हूँ, पूरी तरह से समर्पित हूँ जीने के कर्म के प्रति, जो जीवन-कर्म चहुँओर से सम्बन्धों में सम्पादित होता है। इस जीवन जीने के प्रेम व कर्म से कोई या कुछ भी मुझे विरत नहीं कर सकता) सो इस प्रश्न को भी भलीभाँति देखा जाय जितना यहाँ की समयमर्यादा में सम्भव हो।

Secularism राज्यशास्त्र का शब्द है। प्रशासन का ढाँचा क्या हो ? राज्यसंस्था को चलाती हैं सरकारें। सरकारों को बनाते हैं मतदाता। लोकसभा-विधानसभा के लिये चुने गये प्रतिनिधियों में जिस पक्ष का बहुमत हो, उसी पक्ष के किसी सर्वमान्य या अधिकमान्य व्यक्ति को नेता बनाकर सरकारें बनती हैं। राज्यसंस्था और सरकार या प्रशासनतन्त्र का अन्तर ध्यान में रखना चाहिये। सरकार ही राज्य नहीं है और राज्य केवल सरकार में सीमित नहीं है। **The Government is not the State, and the State is not only the government.** हमने पश्चिमी देशों से जो राज्यशास्त्र (**Political science**) और प्रशासनिक पद्धतियाँ अपना ली हैं उनकी लोकतन्त्र की संकल्पना और हमारे वस्तुतः अपने प्राचीन इतिहास में गणराज्य की संकल्पना में कई मूलभूत भेद हैं। उनमें उतरने का आज औचित्य नहीं। **Secularism** का अभिप्राय है कि राज्यसंस्था धर्मनिरपेक्ष रहे। कुछ देशों में राज्यसंस्था और तदन्तर्गत प्रशासनतन्त्र ने धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार नहीं किया है। वे **Theocra-**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

tic states हैं—यानी राज्यसंस्था किसी विशिष्ट धर्म-सम्प्रदाय को स्वीकार करती है, उसके परम्परागत नियम-कानून को राज्य की नीतियों एवं प्रशासन में सर्वोपरि मान्यता-समर्थन दिया जाता है। जैसे नेपाल आजतक हिन्दू राज्य रहा है, पाकिस्तान और अरब देशों में इस्लामी राज्य हैं। राज्य और राष्ट्र अलग चीज़ हैं। अब फिर से सोचने की घड़ी आ गयी है कि भारत एक राष्ट्र बना रह सकता है या फिर अलग-अलग राज्यों का एक परस्पर गुँथा समूह? और भारतीय राज्यसंस्था धर्म-निरपेक्षता को अपना कर चल सकती है या फिर प्रत्येक राज्य अपने-अपने अभीष्ट साम्प्रदायिक धर्म के अनुसार चलें? इसपर राष्ट्रीय स्तर पर, विश्वविद्यालयों एवं सार्वजनिक संस्था-संगठनों द्वारा परिसंवाद एवं चर्चा-गोष्ठियों का आयोजन होना चाहिये। जो किसी विशिष्ट धर्म-सम्प्रदाय या राजनैतिक दल में बँधे नहीं हैं ऐसे स्वतन्त्र बुद्धिशील विचारकों-मनीषियों और युवकों को मिलकर एक वस्तुगत (objective) परिचर्चा (discussion) करनी चाहिये, परिसंवाद, गोष्ठियाँ करनी चाहिये। उसमें से जनमत (consensus) बनेगा। किसी पर कोई चीज़ लादी नहीं जा सकती। बल्कि इस देश में पिछले चालीस वर्षों में जो चीज़ें लादने की कोशिशें हुई हैं उसके खिलाफ़ अब जनता आवाज़ उठाने लगी है, खड़ी हो रही है—यह सौभाग्य की बात है। यह सूचक है कि भारत अब राज-नैतिक परिपक्वता की ओर बढ़ रहा है। जो क्रोध, कटुता, असन्तोष जनता की प्रतिक्रियाओं में से झाँक रहा है वह बताता है कि उन पर बहुत कुछ थोपा गया है।

राज्य धर्म-निरपेक्ष होने का अर्थ यही है कि राज्य-व्यवस्था किसी धर्म-सम्प्रदाय के प्रति पक्षपात नहीं रखेगी। अपने देश में यह धर्म-निरपेक्ष राज्यव्यवस्था की बात क्यों सोची गयी? जब इस देश का संविधान बन रहा था तब काका कालेलकर, दादा धर्माधिकारी, शंकरराव देव, हमारे परिवार के कुछ व्यक्ति भी उस परिषद् के सदस्य थे।

उस परिषद् में हो रहे चिन्तन को निकट से देखने-सुनने का अवसर मिला था। यह सोचा गया था कि इस देश में हजारों वर्षों से अनेकों धर्म-सम्प्रदायों के, अनेकों संस्कृतियों के, अनेकों नृवंशों एवं अनेकों भाषाओं के लोग एक-साथ रहते आये हैं। यहाँ सबका सह-अस्तित्व सह-अवस्थान, सहजीवन रहा है। ऐसे बहुभाषी, बहु-जातीय, (multi-racial multi-ethnic) बहु-साम्प्रदायिक, बहु-सांस्कृतिक इस देश में लोकतान्त्रिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवस्था वाला शासन किस तरह चल सकेगा ?—यह सवाल था, इसलिये सोचा गया कि सब के प्रति समान आदर-भाव रखने वाली शासन-व्यवस्था रहेगी। जनता में जो व्यक्ति जिस-जिस धर्म-सम्प्रदाय-जाति-वंश-भाषा आदि का है उस-उसकी जीवन व चिन्तन-सरणी के अनुसार अपनी-अपनी वैयक्तिक-कौटुम्बिक-सामाजिक-धार्मिक जीवनचर्या चलाता रहेगा, इसलिये सबके अपने-अपने श्रद्धा-अभिव्यक्ति के माध्यम मन्दिर-मस्जिद-गुरुद्वारे-चर्च आदि बने रहेंगे, जब तक मनुष्यों को इन अलग प्रतीकों की जरूरत महसूस होगी। और जिस दिन मनुष्य जाति का मानस इन बाहरी प्रभेदों, संगठित धर्म-सम्प्रदायों के ऊपर उठकर विशुद्ध अध्यात्म की साधना करने लगेगा, तब ये पृथक्-पृथक् संगठन-सम्प्रदाय, भेद स्वयं हो असंगत बन जायेंगे। विनोबाजी ने १९५७ में ही कहा था—"The days of organised religions are over, and the era of the integration of spirituality and science is on the horizon." (संगठित धर्मों के दिन लद चुके, अब अध्यात्म एवं विज्ञान के समन्वय का युग क्षितिज में उग रहा है।)

अतः 'धर्मनिरपेक्षता' का अर्थ व मूल्य यही है कि शासन सम्हालने वाले व्यक्ति स्वयं तथा शासन की नीति, रीति, व्यवस्था, पद्धति सभी धर्मों के प्रति समान आदर रखते हुए—किसी एक-दो के प्रति पक्षपात न करते हुए चलेगी। यानी किसी विशिष्ट धर्म की 'अपेक्षा' से नहीं चलेगी। वह हो नहीं पाया है अब तक। शासक-वर्ग की ओर से उसका आचरण हुआ नहीं है। यदि शासन को धर्म-निरपेक्ष बनाना सोचा था तो संविधान में पृथक्-धर्मों के लिये पृथक् नीतियों की गुंजाइश रखनी नहीं चाहिये थी। शासन यदि धर्म-निरपेक्ष बनाना हो तो उसका प्रतिबिम्ब कानून में उठना चाहिये। वह होता यदि १९५२ के चुनावों के बाद एक (uniform civil code) (सब नागरिकों के लिये एक समान आचारसंहिता एक ही सामाजिक कानून) बन जाता। तब धार्मिक लेखों के भेदों के ऊपर कानून की सर्वोपरिता स्थिर हो पाती।

धर्म-निरपेक्ष राज्य-व्यवस्था सचमुच यदि भारत में स्थापित की गई होती तो सार्वजनिक आवासों पर जाति-प्रजाति-धर्मसम्प्रदायादि के नाम जोड़े न जा सकते। महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों के नामों में भी धर्म-भेद के सूचक नाम न रखे जाते (—'बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी', 'अलीगढ़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुस्लिम युनिवर्सिटी' की तरह ।) शिक्षा क्षेत्र में ये धर्मभेद-सूचक विशेषण रखने की आवश्यकता क्या ? 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द एक महती क्रान्तिकारी वृत्ति एवं जीवन-पद्धति का सूचक शब्द है जिसका आशय है व्यक्ति की धार्मिक-साम्प्रदायिक-जातिगत-वंशगत-सांस्कृतिक-क्षेत्रगत, भाषागत आदि विशिष्टतायें व्यक्ति जीवन में खिलती रहें, पर कानून और शासन व्यवस्था में उन भेद-प्रभेदों की कोई दखल न हो। पर वह चाहिये किसे ? हमें तो भेद-प्रभेद अधिकाधिक बढ़ाने हैं, कायम रखने हैं, उन्हें पूँजी बनाकर धन और सत्ता हथियाने के दाँव-पेच खेलने हैं; 'जनता की सेवा' के नाम पर अपने तुच्छ निजी स्वार्थों के लिये—धर्म-संस्कृति-मानवता और सभी मानवीय मूल्यों की बाजी लगाने में कोई झिझक हमें नहीं होती। इसीलिये सार्वजनिक संस्थाओं-भवनों-छात्रवृत्तियों नागरिक-संगठनों आदि में धर्म-सम्प्रदाय-जाति-प्रजाति आदि के नाम जोड़े जाते हैं, तिस पर हम कहते हैं कि भारत की राज्यव्यवस्था धर्मनिरपेक्ष है—यह इस शब्द के साथ द्रोह है। दूसरी तरफ़ से देखें तो राजनीति के नाम से धर्मसम्प्रदायों का, जाति-प्रजातियों का शोषण (exploitation) हुआ है।

धर्मनिरपेक्ष राज्यव्यवस्था में शिक्षण और सार्वजनिक संस्थाओं को साम्प्रदायिक एवं जाति आदि क्षुद्र भेदक अस्मिताओं से मुक्त करने की जिम्मेदारी शासन पर आती है। वह तो नहीं ही किया, बल्कि राजनीति की आड़ में इन क्षुद्र अस्मिताओं को और भड़काया है। राजनीति ने द्रोह किया है, शासक-वर्ग ने, सत्तारूढ़ एवं सत्तालोलुप-राजनीतिक पक्षों ने, पक्ष प्रतिनिधियों ने द्रोह किया है 'धर्मनिरपेक्षता' के प्रति—क्षुद्र अस्मितायें जगा कर, उनके आधार पर अल्पसंख्यता-बहुसंख्यता की चेतना जगा कर।

यह 'संख्या-चेतना' जगाना और इसके लिये धार्मिक-नृवंशीय-क्षेत्रीय-भाषागत पृथक् अस्मितायें जगाना फिर उनका राजनीति में उपयोग करना पाश्चात्य दिमाग़ की उपज है, जिसे हमने बेतरह अपना लिया है। दुनिया भर में इस तरह शोषण हुआ है, और भारत में ऐसे प्रभेदों की सर्वाधिक प्रचुरता होने के कारण सर्वाधिक शोषण भी हुआ है।

भारत-राष्ट्र में तो असंख्य संस्कृतियों का संगम धरती में पड़ा हुआ है। सभी यहाँ रहते आये हैं, रहने वाले हैं। इनके सहजीवन के लिये राज्यव्यवस्था का धर्मनिरपेक्ष होना आवश्यक था, पर उसके किसी भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पथ्य का पालन यहाँ शासक-वर्ग के प्रमुखों-प्रतिनिधियों ने किया नहीं। इस **राष्ट्र के प्रमुख-पदस्थ** (राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, या मुख्य मंत्री-गवर्नर आदि) **होने के नाते** साम्प्रदायिक समारोहों में शामिल होना धर्म-निरपेक्षता के प्रतिकूल है। व्यक्ति के नाते आप कहीं भी जायें ?·····आज जापान यहाँ के बौद्ध देव-स्थानों के जीर्णोद्धार के लिये मदद देकर वह करवाने-वाला है; कल अरब देशों के करोड़पति लोग यहाँ के मुस्लिम स्थानों को मज़बूत बनाने के लिये राशि देना चाहेंगे तब किस मुंह से इन्कार किया जायेगा ? इस देश की सरकार के अविवेकों का कोई अन्त नहीं है।

मित्रो, धर्मनिरपेक्षता एक मानवता का मूल्य है, शासन-व्यवस्था में मानवता लाने का पथ है। शासन और कानून को व्यक्ति-निरपेक्ष और धर्मनिरपेक्ष रहना ही पड़ता है, नहीं तो न वह 'कानून' होगा न 'शासन'। आप ने पूछा है कि क्या आध्यात्मिक दृष्टि और धर्मनिरपेक्षता का सह-अस्तित्व नहीं रह सकता ? इस पर कहना है कि क्यों नहीं रह सकता ! आप अच्छे से अच्छे हिन्दू या मुस्लिम आदि रह सकते हैं। मैं अपने आप को वैदिक कहती हूँ। वैदिक दर्शनों में मेरी श्रद्धा है। इन दर्शनों में विश्व की समस्याओं का निराकरण करने की शक्ति है ऐसी मेरी इच्छा है। आपको जहाँ जिस भी धर्म सिद्धान्त या साम्प्रदायिक दर्शन में श्रद्धा हो उसे अपने व्यक्ति जीवन में भली-भाँति अपनाये रहें। लेकिन जब आप घर से निकलते हैं और भारत के नागरिक के नाते व्यवहार करते हैं—वह राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्र के घटक एक नागरिक के स्तर व आयाम से होना चाहिये। अपने घर में, मन्दिर-मठ आदि में आप हिन्दू होंगे, बाहर आते ही आप भारतीय होंगे, और देश से बाहर कहीं जाते हैं तो आप खालिस इन्सान, विशुद्ध मानवभर होंगे। कचहरी में या किसी भी कार्यालय में बैठे हैं तब आप हिन्दू-मुसलमान-ईसाई आदि नहीं, एक राष्ट्र के नागरिक हैं, भारतीय मानव हैं। वहाँ आप मानव के नाते बैठेंगे, मानवीय मूल्यों की बात आप करेंगे। इसलिये धार्मिक श्रद्धा या धर्म-निरपेक्षता का मानवता, राष्ट्रीयता से और आध्यात्मिक दृष्टि से कोई विरोध नहीं है।

रामजन्मभूमि का पुनर्निर्माण करने की आवश्यता आप सबको प्रतीत हो रही है न ! यह प्रश्न आपने ग़लत व्यक्ति को पूछा है, जिसके जीवन में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन्दिर-मस्जिद-गिरजा इत्यादि का न स्वीकार रहा न अस्वीकार रहा। बहुसंख्यक लोग मन्दिर बनाने की आवश्यकता मानते हैं तो बनेगा मन्दिर। लेकिन उसको सिद्धान्त न मानियेगा। यह भावनात्मक आवश्यकता है, एक प्रतिष्ठा का प्रश्न है, क्योंकि हिन्दू समाज एक घायल समाज है। इस देश में पिछले बयालीस-तिरालीस वर्षों से जो शासक वर्ग रहा वह अल्प-संख्यकों को सिर चढ़ाता रहा, (pampering the minorities) आज भी शायद वैसी ही नीति है। यहाँ के अल्पसंख्यक वर्गों में मुसलमान प्रमुख हैं, उनके प्रति खुशामद का व्यवहार रहा हैऔर हिन्दू समाज के प्रति अन्याय भी हुआ ही है। इसलिये 'हम सही हैं' की भावना आती है, घायल 'अहं' जब वर्ग या समुदाय का रूप ले लेता है तो युक्ति, तर्क या बुद्धि की बात सुनने का साहस या तितिक्षा चित्त में नहीं होती। हिन्दू समाज के साथ मेरी सहानुभूति है। राम-मन्दिर का आग्रह-आन्दोलन पहले से सहते आये अन्याय की प्रतिक्रिया में से उठ रहा है। और यदि कुछ लोगों के चित्त में 'हिन्दू राज्य' बनाने की आकांक्षा जाग उठी हो तो राम-मन्दिर के मुद्दे को उसका प्रतीक बनाना चाहते होंगे। यह राजनीतिक आन्दोलन हो सकता है। इसके साथ राम का या राम-मन्दिर का सम्बन्ध नहीं हो सकता। लेकिन बनाना है तो जो राजनीति चल रही है, उसी का एक पैंतरा है यह, अब तक अल्पसंख्य-वाद चला तो अब बहुसंख्य-वाद चलेगा। जैसे घर में कभी सास का राज तो कभी बहू का, कभी बाप का तो कभी बेटे का हुक्म चलता है। वैसे ही अल्पसंख्या को बढ़ावा देने का अतिरेक हो रहा था, जिसने देश का बहुत नुकसान किया है, उसके बदले अब बहु-संख्यवाद आ रहा है। इससे बचना है या नहीं ? राज्यसंस्था को धर्मनिर-पेक्ष बनाना है या नहीं ?—यह पूरे राष्ट्र के सामने भारी चुनौती है। मुझे विश्वास है कि भारतीय चेतना इस पर विचार करेगी।

आज एक दुखाया हुआ दिल बोल रहा है, लेकिन हिन्दू समाज की जिम्मेवारी को समझने की शक्ति व क्षमता (sense of responsibility) पर मुझे श्रद्धा है। क्योंकि हिन्दू समाज ने वेदान्त सुना है, सन्त ज्ञानेश्वर की वाणी सुनी है, गीता सुनी है, इसलिये हिन्दू समाज आखिर कोई रास्ता निकालेगा ही। आप हिन्दू राष्ट्र बनाते हैं या धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनाते हैं इससे मुझे कोई वास्ता नहीं; क्योंकि हम राज्यनिरपेक्ष जीवन जीने वाले प्रभु-भक्त हैं, लेकिन जो भी व्यवस्था भारतीय समाज बनायेगा उसमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमें जीना होगा। कहना यही है कि धर्मनिरपेक्षता का ग़लत अर्थ न समझियेगा। पं० जवाहरलाल नेहरू या इन्दिरा गांधी ने जो किया उसे ही धर्मनिरपेक्ष नीति मान कर उसकी प्रतिक्रिया से अपनी जिज्ञासा को दूषित न करें। स्वयं ही निर्णय करें, धर्मनिरपेक्षता रखना चाहें तो रखें, न चाहें तो न रखें। उत्तर में (नेपाल) हिन्दू राष्ट्र रहा, पश्चिम में इस्लामी राज्य रहे, आप भी शायद फिर भारत को हिन्दू राष्ट्र बना लें, लेकिन जो करें वह सोच-समझ कर जिम्मेवारी से करें, प्रतिक्रियाओं के शिकार होकर न करें, इतना ही आध्यात्मिक व्यक्ति द्वारा कहा जा सकता है।

मैं मुसलमान होती तो उस कौम के नेताओं को इकट्ठा करके कहती कि "इस देश के हिन्दू समाज ने इतनी उदारता से हमें यहाँ रख लिया, हमारे पहले भाइयों ने धर्म के नाम या आधार पर इस बड़े देश का विभाजन हठपूर्वक करवाया, फिर भी हमें बयालीस वर्षों से इतने सम्मान से यहाँ रहने को मिला, जितना सम्मान एवं सुख-सुविधा हमें पाक़िस्तान या बंगला देश में क़तई न मिला होता। इस देश के हिन्दू समाज की भावना अयोध्या के उस स्थान से जुड़ी है और उसमें ये राम-मन्दिर फिर से बनाना चाहते हैं तो भले बनायें। किसी समय बाबर के आदेश पर, जीत की उमंग में वहाँ मस्जिद बना दी थी, पर अब उसका क्या महत्त्व है? वहाँ नमाज़ तो कभी पढ़ी जाती नहीं थी। उस आधी अधूरी मस्जिदनुमा इमारत को वैसा ही बनाये रखने का आग्रह क्यों रखते हो? यह तो राजनैतिक पहलू से भी ग़लती है। उस मस्जिद को वैसा ही बनाये रखने के आग्रह से देश के इतने बड़े समाज का goodwill खो बैठोगे? जिस समाज ने हमें इतना दिया उसी की भलमनसाहत और विश्वसनीयता गँवा कर एक पुरानी और धार्मिक काम में न आती हुई मस्जिद को लेकर करोगे क्या? ज़रा व्यवहार तो देखो? थोड़ी दूरदृष्टि तो रखो?"

प्रश्न—एक साधक एक गाँव को अपना कार्यक्षेत्र-साधनाक्षेत्र बना कर, वहाँ के निवासियों का जीवनमान ऊँचा उठे—इसके लिये काम में लगा हुआ अनुभव करता है कि उसके प्रयासों से कुछ सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन आया। किन्तु प्राप्त परिस्थितियों में समग्र परिवर्वन लाना मुश्किल ही नहीं, असम्भव-सा लगता है। अतः प्रश्न है कि कोई साधक इस कार्य को ही साधना मान कर निजी समग्र सामाजिक परिवर्तन के लिए क्षेत्र-संन्यास से लेकर अपना समग्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवर्तन जारी रखे ? क्षेत्रसंन्यास के बाद स्वधर्माचरण क्या हो—इस पर कृपया कुछ कहियेगा।

उत्तर—भाई, हम क्यों कहें ? ('स्वधर्म' आपका है, 'आचरण' आपको करना है)। साधना सहज होती है। उसमें अन्तःप्रेरणा प्रमाण होती है। बुद्धि उसकी मदद में दलील दे सकती है, लेकिन साधना तो अन्तःप्रेरणा का विषय है। साधक स्वयं क्या चाहता है ? समग्र परिवर्तन लाने की जिम्मेवारी तो उस पर नहीं। वह जो कर रहा है उसमें यदि सन्तृप्ति है, सार्थकता-कृतार्थता-धन्यता का अनुभव उसी से हो रहा है तो वही वह करेगा, वैसा ही जियेगा।

समग्र परिवतंन अलगाव (isolation) से नहीं आ सकता। उसके लिये सम्पूर्ण देश में परिवर्त्तन आना अनिवार्य है। आज जीवन के नियामक दो तन्त्र बन गये हैं—अर्थनीति, अर्थतन्त्र और राजनीति, राजतन्त्र। The controling, regulating, modelling factors of modern life.

जैसी जीवन-शैली हमने इस देश में बना ली है; उसमें अर्थतन्त्र और राजतन्त्र जोवन के नियामक बन बैठे हैं। ऐसा होना जरूरी नहीं था, लेकिन समाज-सभ्यता का व्यापारीकरण हो गया (commercial civilisation) है, consumerist culture (उपभोग-परायण संस्कृति) बन गई है, इसलिये व्यक्तियों के जीवन का नियमन भी अर्थनीति-राजनीति करती हैं और ये नीतियाँ आज सख्य-सहयोग-प्रेम-करुणा पर नहीं, शोषण व अन्याय पर खड़ी हैं। जिन व्यवस्थाओं में सहज ही अन्याय हो और अन्याय करने वाले को संरक्षण भी मिले ऐसे तन्त्र हैं ग्राम-पंचायतों से लेकर देश के प्रधानमन्त्री तक। ऐसी अन्याय व शोषणमूलक शासन-व्यवस्था में कैसे होगा समग्र-परिवर्तन ? फिर समग्र-परिवर्तन की भूख, प्यास, उत्कटता एक साथ सारे समाज में जाग्रत् न हो तब तक वह होना सम्भव नहीं। निरक्षरता का प्रमाण, द्ररिद्रता का अनुपात बहुत ज्यादा है। जिस देश में ४५-५० फ़ीसदी लोग ग़रीबी की रेखा से नीचे जीते हैं, वहाँ इन शोषण-मूलक व्यवस्थाओं को कायम रखने में जिनके स्थापित हित हैं, वे लोग इन दरिद्र-निरक्षर लोगों को खरीद लेते हैं, उनकी सम्मति खरीद लेते हैं, बन्दूक की नोक पर छीन-झपट लेते हैं। This is not a "government of the people, by the people, for the people"—where the consent is purchased, consent is snatched away forcibly, even through canonisation. This is a mockery of democrasy.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यहाँ 'जनता की भलाई के लिये, जनता के द्वारा चलती हुई' सरकार कहाँ है? यह तो लोकतन्त्र का मज़ाक है। केवल औपचारिक काग़ज़ी लोकतन्त्र का ढाँचा खड़ा है, सत्ता हथियाये हुए लोगों को अपने-अपने स्तर पर अप · क्षुद्र निहित स्वार्थ साधने की पूरी परवानगी मिली हुई है।

प्रश्न—भारत में इतने सारे भगवान् के अवतार, दैवी विभूतियाँ, महात्मा सन्तजन हो गये हैं, फिर भी मनुष्य जाति पशु-पक्षी-प्राणियों जैसी दशा में जी रही है; बल्कि उन प्राणियों से भी निचले स्तर का जीवन दिखाई देता है जिसमें अतिशय बुराइयाँ, धोखाधड़ी, शोषण, अन्याय, अत्याचार, लूट-खसोट, षड्यन्त्र, जालसाजी, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तरह-तरह की हिंसा भरी पड़ी है। ऐसा क्यों? इसका निराकरण कैसे हो?

उत्तर—भाई! पूरी दुनिया में और अपने देश में जो भयानक और द्रावक परिस्थिति आप-हम देख रहे हैं उसके जनक हम ही हैं—पहले यह समझें स्वीकार करें। अपने छोटे-छोटे स्वार्थों, स्थापित हितों की किसी न किसी हद तक पूर्ति में आज की ये शोषण-मूलक व्यवस्थायें सहायक हैं इसीलिये ये बनी हुई हैं। अनिवार्यता सम्पूर्ण-समग्र परिवर्तन की है, और हम—हमारे निजी स्वार्थ को आँच न आये, सुविधा-सुरक्षा को धक्का न लगे, इसे देखते हुए—उतने ही क्षेत्र में, उसी ढंग और सीमा में परिवर्तन की बात करते हैं। उन टुकड़ों में ही अदल-बदल की कोशिश हम करते हैं। और ऐसा प्रत्येक खण्डशः परिवर्तन समग्र क्रान्ति का विरोधी है। Every fragmentary change is enemy of wholistic revolution. Every reform causes indiffernce to wholistic transformation.

इसलिये हम बड़ी दयनीय दशा में पड़े हैं। आज के समूचे सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक, अन्तःचेतनगत सभी ढाँचों (structure) को आमूलचूल बदलने की आवश्यकता परिस्थिति में है।

It is a structural crisis. Economical structure, political structure, administrative str. party-str. educational str., the structure of consciousness within us. और हम चाहते हैं कि यथास्थिति बनी रहे, बदलना ही है तो दिल्ली में बदले, हमारा घर-गाँव-शहर ज्यों का त्यों बना रहे, हमारी सुख-सुविधा किसी भी कीमत पर बनी रहे। इसीलिये समग्र-परिवर्तन आना मुश्किल लगता है, असम्भव लगता है। कठिनाई अपने भीतर की (subjective) है। The difficulty or

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

crisis is within us, and we do not have the moral courage even to admit to ourselves, in the privacy of our room and houses that we are the enemy of wholistic transformation in this country.

इस देश में समग्र-परिवर्तन आने देने के सबसे बड़े विरोधी हम स्वयं हैं। हम चाहते ही नहीं कि सब कुछ बदल जाय और शुद्ध मानवता पर आधारित सब व्यवस्थायें समाज में प्रतिष्ठित हों। हमने तो अपने-अपने घरौंदे और निजी स्वार्थ, स्थापित हित बना रखे हैं। उनमें धक्का लगने, उलट-पलट होने से हम घबराते हैं। यह सुविधा-सुरक्षा-परायणता और उपभोग-परायणता का अभ्यास तो हमने बड़े व्यवस्थित ढंग से किया है। आज़ादी के बाद तो खास तौर पर मानसिक रीति से अपंग समाज भारत ने बनाया है। यह मानसिक अपंगता शारीरिक अपंगता से अधिक भयानक है। हम सपने देखते हैं समग्र परिवर्तन के, बौद्धिक आकांक्षा भी है उसकी; बात भी करते हैं समग्र-परिवर्तन की—लेकिन वहीं तक जहाँ तक उसकी छाया हम तक न आये। यह एक बहुत बड़ा आन्तर-विरोध भारतीय मानस में पड़ा हुआ है। इसलिए जो कोई समग्र परिवर्तन के लिये कदम उठाने चलेगा उसे समाज से क़तई मदद मिलने वाली नहीं। ऐसे व्यक्तियों का कोई छोटा-सा दल या समूह बने भी तो वह नगण्य संख्या में ही रहेगा। और समग्र परिवर्तन की बात न करके जहाँ-तहाँ थोड़ा-बहुत सुधार कार्य (जीर्ण शीर्ण कपड़े में जगह-जगह छोटे-छोटे पैबन्द लगाने जैसा) करने लगेंगे तो आपको प्रशंसा और धनराशि दोनों मिलेंगी। नंगी-भूखी दारिद्रय-पीड़ित जनता को थोड़ा बहुत रोजी-रोटी दे-दे कर उनके भीतर उठती शोषण के प्रतिकार की ज्वाला को जहाँ-तहाँ शान्त कर दिया, समूचे परिवर्तन एवं मानवीय अधिकारों की माँग को प्रबल-मुखर होने से रोक रखा तो पूँजीपति लोग आपकी खूब मदद करेंगे। क्योंकि आप उनके हितकर्ता हो गये। साम्प्रदायिक भावना को जगा कर यदि राजनैतिक नेता दंगे कराते हैं तो वह राज्यकर्त्ता के हित में हैं—'divide and rule' के मददगार हैं। क्योंकि तब प्रशासन को अधिक मज़बूत बनाने के लिए एक दलील मिल जाती है। अब तो भारत में कोई civic rule नागरिक प्रशासन रहा ही नहीं है। सशस्त्र पुलिस के बिना महाविद्यालयों तक में छात्र-संघ के चुनाव तक नहीं हो पाते। नगर महा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पालिका के चुनावों में भी वही हाल है। पूरा नागरिक-जीवन अपराध के चंगुल में चला गया है। इसलिये पूरे समाज के समग्र परिवर्तन को आज तो असम्भव ही मान कर चलना होगा।

कोई साधक यदि समाज सेवा को अपनी जीवन-साधना का माध्यम बनाता है तो वह अपने भीतर झाँक कर देखता रहे कि वह जो कुछ करता है उससे उसकी अपनी चित्तशुद्धि होती है या नहीं। गाँधीजी ने भारतकी स्वाधीनता के लिये जो संग्राम किया वह उनकी जीवनसाधना थी। सत्य की साधना में स्वाधीनता की साधना अनिवार्य लगी, उसमें फिर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की साधना अनिवार्य प्रतीत हुई। उसमें अहिंसा का मार्ग मिला, अहिंसा का बल जगाने के लिए उन्हें रचनात्मक कार्यक्रम सूझे। एक के बाद एक रास्ता खुलता गया, माध्यम मिलते गये, क्योंकि वह उनकी साधना थी। इसलिए सर्वत्र सम्पूर्ण परिवर्तन आये या न आये, यदि साधक के जीवन में वह कार्य सहज आनन्द का माध्यम बनता है, उसकी जीवन-शुद्धि होती है, तो आप विश्वास कीजियेगा कि वह जो काम करता होगा उसमें जिनके साथ सम्बन्ध आता होगा उनके जोवन में शुद्धि आने लगेगी। पूरे देश व समाज में परिवर्तन लाने के लिये तो विधायक-प्रतिकारात्मक एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन खड़ा करना पड़ेगा। वह अपनी ताकत न हो तो जिस क्षेत्र में आप बैठे हों उस क्षेत्र में जो सूझता है वह मंगल-शुभ कर्म करते रहें।

आपने क्षेत्र-संन्यास का सवाल उठाया है। क्षेत्र-संन्यास का सामान्य अर्थ यही होता है कि इस क्षेत्र के बाहर नहीं निकलेंगे। वह साधना में एक पर्व या एक अवस्था-स्तर के रूप में आवश्यक हो भी सकता है एक विशिष्ट कालखण्ड के लिये, जब साधक को ऐसी प्रतीति होती है कि उसके द्वारा जो होता है उसमें कहीं कुछ कमी आ रही है। या तो, वह जो कुछ कर रहा है वह यान्त्रिक पुनरावर्तन-सा होता चला जा रहा है। जो होता है उसमें पहले जैसा आनन्द नहीं आता। या चित्तशुद्धि एवं जीवन-शुद्धि के कारण जो प्रतिदिन बढ़ने वाली संवेदनशीलता थी वह कहीं कुण्ठित हो गयी है। तब वह साधक कहता है कि ६ महीने या साल-दो-साल मैं अपना क्षेत्र नहीं छोड़ूंगा। क्योंकि व्याप्ति बढ़ेगी तो गुणात्मक अशुद्धि या कुण्ठा को दूर करने का समय नहीं मिलेगा। अपने भीतर और गहराई में उतरना पड़ेगा कि बोले जाते हुए शब्द निष्प्राण तो नहीं हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहे हैं ? उसमें से कुछ संक्रान्त हो पा रहा है या नहीं ? बोलना यन्त्रवत् हो रहा है या अपनी पूरी हस्ती शब्दों में उमड़ पड़ती है ? इसे खोजना होगा। कभी-कभी जीवन में ऐसे पर्व या कालखण्ड आते हैं कि मनुष्य अपने कार्य की व्याप्ति को कुछ अवधि के लिये रोक देता है और जहाँ है वहीं बैठकर कार्य करता रहता है। यहाँ हठधर्मियों के नकारात्मक क्षेत्रसंन्यास की बात नहीं है। कर्म की गुणवत्ता और उसके भीतर स्फूर्त होते आनन्द में न्यूनता महसूस हो तो कुछ समय के लिये रुक जाने में हर्ज़ नहीं है। जैसे स्वशिक्षण में शारीर-संस्थान को सक्षम-स्वस्थ-सुदृढ़ बनाने के लिये (for equipping the biological rganism with required suppleness, alertness, sensitivity etc.) आप साल–६ महीना समय निकालते हैं, योगासन-प्राणायाम-व्यायाम, सम्यक् आहार-निद्रा आदि के द्वारा शरीर को नया-तरोताज़ा और भली-भाँति कार्यक्षम बना लेते हैं; मन-वाणी को भी स्वस्थ प्रशिक्षण देकर तैयार कर लेते हैं, उनकी क्षमता-तेजस्विता बढ़ा लेते हैं; उसके लिये समय देना होता है। वैसे यदि कर्म में कोई अशुद्धि आयी हो, निस्तेजता एवं यान्त्रिकता आ गई हो तो रुककर उसे दूर किया जा सकता है।

यह क्षेत्र-संन्यास तो साधक की आगे चलकर होने वाली प्रवृत्ति को शक्ति-प्रदान करेगा। आख़िर हमें जाना तो वहाँ है न ! जहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के 'प्र' और 'नि' निकल जायें, साथ ही, 'वृत्ति' भी निकल जाय। हमारा सत्त्व निजपद में विराजमान रहे। प्रवृत्ति-निवृत्ति में, जहाँ तक वृत्ति रहती है वहाँ तक, पञ्चविध क्लेश (अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश) बने ही रहते हैं। अतः वृत्ति रहे ही नहीं; वृत्ति उठे भी तो कर्म तक आपको खींच न ले जाय। वृत्ति का उठना चेतना द्वारा देखे जाते ही वृत्ति शान्त हो जाय। वहाँ पहुँचना है न ! जहाँ वृत्तियों का निःशेष रूप से शमन हो जाय।

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"। "समत्वं योग उच्यते।"

"योगी भव अर्जुन !"—यह योगावस्था में जीना ही भारतीय संस्कृति का जीवन-सन्देश है। To live in the dimension of yoga : Inner equanimity and sensual equibalance. The dignity and grandeur of a spontaneous poise inwardly and outwardly. अन्तःकरण में समता और इन्द्रियों में सन्तुलन, भीतर बाहर सहज शान्त सुस्थिरता की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गरिमा व शालीनता, यह जो (Consummation of human growth) (मानवीय विकास को समग्रता में जिया जाना) है यह योग की दशा है, इसमें हमें उत्थित होना है।

'कोई साधक सामाजिक उत्थान के लिये सेवा को साधना मानकर उसी में लगा रहे, घूमे-फिरे, या निजी परिवर्तन के लिये एक स्थान पर टिक कर साधना करे?'—इसका निर्णय साधक को स्वयं ही करना चाहिये। मेरे देखे, समाज-परिवर्तन तो आपकी जीवन-साधना में से अपनो आप रास्ते चलते सामने आने वाला फल या आनुषङ्गिक परिणाम (by-product) होगा। The fundamental thing is to live, without getting arrested,....rectified; to live through the corridor of grandeur and equanimity.

मूलभूत बात है जीवन जीना—कहीं भी अटके-फँसे बिना द्वैत के गलियारों में से गुज़रते चले जाना, शालीनता-गरिमा भरे समत्व-सन्तुलन की चाल से ज़िन्दगी की राह शान से चलते जाना। ऐसे जीते हुए कोई सामुदायिक कर्म हो रहा हो तो भले ही उसे 'कार्य' कह लीजिये। वस्तुत: आप 'कार्यकर्ता' मिटें और 'जीवनसाधक' ही रहें। आप की स्वयं की चित्त-शुद्धि एवं जीवन-शुद्धि तथा साथ में सहयोग करने वाले व्यक्तियों की भी जीवनशुद्धि—बस यही कसौटी रहे 'सफलता' या 'विफलता' की। शुद्धि हो तो संतृप्ति है ही है। संतृप्ति शुद्धि का स्पन्द है, सौरभ है। वह रहे तो भले ही 'सामाजिक कार्य' चलता रहे। उससे आंशिक परिवर्तन हो, सम्पूर्ण परिवर्तन हो, जो भी हो, या न हो, आपकी संतृप्ति भीतरी शुद्धि पर रहे।

अपने 'बापू' की दिखाई राह जैसी ही राह पर स्वतन्त्र रूप से चलते हुए मिखाइल गोर्बाच्रोव एक के बाद एक असफलताओं का वरण करता जा रहा है। लोग उसे 'योरोप का गाँधी' कहते हैं। वह सत्ता के ढाँचे (Power structure) में रहते हुए ढाँचे व सत्ता को बदलने (structural transformation) का पुरुषार्थ कर रहा है। यहाँ जयप्रकाशजी से तो हमारा परिचय है ही। उनके जीवन में विफलतायें ही विफलतायें आई, कहा भी उन्होंने "मैं विफलताओं का धनी हूँ"; पर कहाँ समग्र-परिवर्तन हुआ? गाँधीजी के सामने समग्र परिवर्तन का दर्शन था, लेकिन उनके साथी उन्हें धोखा दे गये, झूठ बोल गये; उनके नेतृत्व से लाभ उठाया,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

exploit किया, लेकिन अपनी चेतना में परिवर्तन लाने की कोशिश बहुत थोड़े साथियों ने की।

अतः समग्र-परिवर्तन का हेतु या अभिसन्धि लेकर हम चलें। बस उस दिशा में कदम बढ़ते रहें—यथाशक्ति, यथामति। उसमें आनेवाली छोटी-छोटी सफलतायें हमारा रास्ता न रोक सकें, इतना सावधान रहना है। जयप्रकाश जी ने कहा था—"सफलतायें चरण चूमने आयीं तो हमने ठुकरा दिया और विफलताओं की माला पहन ली। ताकि हमारी विफलताओं में से, हमारे बाद आने वाले युवकों के पथ प्रशस्त हों।"···· तो, आज की सामाजिक परिस्थिति में विफलताओं की माला हमारे गले पड़ेगी तो वह उपहार ही है। विफलताओं को वरण करने का साहस जो करते हैं, वे ही समाज को समग्र परिवर्तन की दिशा में ले चलते हैं।

प्रश्न—मानवीय इतिहास में चैतसिक समग्र परिवर्तन या सम्पूर्ण विकास (total transformation) नितान्त व्यक्तिगत रूप में एवं कभी कभार ही होता पाया गया है। जब तक यह प्रत्येक व्यक्ति में या पूरे समाज में बड़े पैमाने पर नहीं होगा, तबतक दुनिया से हिंसा मिटेगी नहीं। तो क्या कभी यह सम्भव है?

उत्तर—चैतसिक समग्र-परिवर्तन के पीछे व्यक्ति गये हैं, उस पथ पर साहस-पूर्वक व्यक्ति चले हैं; लेकिन समाज के घटक रूप में अपने स्थान पर रहते हुए, अपने सभी दायित्वों को निभाते हुए इस सम्पूर्ण परिवर्तन की साधना में लगने वाले बहुत कम हैं। जो सामाजिक परिवर्तन में जीवन लगाते हैं उन्हें प्रायः अपने व्यक्ति-जीवन की ओर देखने की पड़ी नहीं होती; व्यक्ति-जीवन का समग्र परिवर्तन भी वास्तव में समाज-परिवर्तन में सहायक तत्त्व है, या वस्तुतः वही उसकी नींव है—यह उनके ध्यान में नहीं आता। और इधर जो व्यक्तिगत अध्यात्मसाधना में लगे हैं, उनके द्वारा सामाजिक जीवन की एवं व्यावहारिक-भौतिक-प्रत्यक्ष जीवन की उपेक्षा होती आई है।

अब इस वैज्ञानिक युग की माँग है (a historical material necessity has arisen) कि व्यक्तिगत एवं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियायें भिन्न न हों। हो सकें तो एक ही हों, नहीं तो कम से कम भिन्न-भिन्न मंच से चलती हुई भी ये प्रक्रियायें परस्पर संवादी हों, इसकी एक आवश्यकता परिस्थिति में खड़ी हो गई है। व्यापक पैमाने पर यह आवश्यकता है इसकी समझ पैदा होने के लिये दो ही रास्ते हैं :—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१—औपचारिक शिक्षण Academic formal education विद्यालय-महाविद्यालयों में मिलने वाला।

२—अनौपचारिक शिक्षण Informal education (दैनिक जीवन में परिवार, समाज, मनीषी-चिन्तन, विचार-गोष्ठियों, शिविर, सत्संग आदि से मिलने वाला) तथा परिवर्तन की आवश्यकता एवं चाह को शिक्षण-प्रणाली में दाखिल करना। परिवर्तन की आकांक्षा-अभीप्सा नई पीढ़ियों में पैदा रहे इस प्रकार की शिक्षा देना।

ऐसे दोनों ओर से प्रयत्न चलेंगे तब सबका एक साथ समूचा परिवर्तन सम्भव होगा। इसके आसार, लक्षण आप के नज़र में आयेंगे यदि आप आज की वैश्विक गतिविधियों (global movements) का अध्ययन करें। आन्तर्राष्ट्रीय-राजनीति सारी दुनिया में किस दिशा की ओर जा रही है, अर्थनीति-अर्थतन्त्र और चिन्तन किस दिशा में जा रहा है? 'युद्ध के बिना का सहअस्तित्व-सहजोवन चाहिये" 'युद्ध के बिना विश्व चले' 'World without war' इसकी माँग मुखर हो रही है। मिख़ाइल गोर्बाचोव ने पिछले साल अमेरिका के साथ बैठकर शीतयुद्ध का अन्त किया। धीरे-धीरे सही, लेकिन निरस्त्रीकरण की तरफ़ बढ़ रहे हैं। वृत्ति इधर जा रही है। वही हाल आर्थिक क्षेत्र में है कि सारी दुनिया को एक अर्थनीति कैसे विकसित हो, विश्वभर के पर्यावरण को शुद्ध रखने के लिये सभी देशों की एकमति-एकनीति और पर्यावरण-शुद्धि के प्रति समर्पित जागरूकता कैसे होगी? Post-Industrial Civilisation (औद्योगिकीकरण के बाद की सभ्यता-समाजरचना) में यह सब चिन्तन चल रहा है। मनोविज्ञान को योगशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य लगने लगा है। Physics को Metaphysics समझने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है।

इस तरह आप देख सकते हैं कि मनुष्य की व्यक्तिचेतना में सम्पूर्ण-समग्र परिवर्तन और सांस्कृतिक सामाजिक-आर्थिक-शैक्षणिक-राजनैतिक आदि सभी ढाँचों में सम्पूर्ण परिवर्तन दोनों को एक साथ आवश्यकता है। लेकिन बात ऐसी है कि मनुष्य जाति सीखने में बहुत धीमी है। Very quick to acquire, but very slow to learn.

लेकिन फिर भी अब मनुष्य जाति उस दिशा की ओर मुँह करने लगी है, इसमें मुझे सन्देह नहीं।

प्रश्न—यह बात समझ में आई कि सच्चा अध्यात्म सच्ची समझ, सच्ची

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवनोन्मुखता, सच्ची समग्रता लाता है। इसलिये खासकर युवकों का अध्यात्म में रुचि लेना व्यक्तियों के और समाज के हित में है। इस सत्य को आम लोगों तक और युवापीढ़ी तक कैसे पहुँचायें ?

उत्तर—जैसे दीपक प्रकाश को अन्धेरे तक ले जाता है, वैसे। बौद्धिक प्रतीति अपने जीवन की यथार्थता बने, वह केवल शब्दों में न रहे। वाणी द्वारा जानकारी दी जाती है, मूल्य संक्रान्त नहीं होते। यह कहने का आशय मेरा यह नहीं कि जानकारी को शाब्दिक रूप में भी समाज में न पहुँचाया जाय। वह तो जरूर पहुँचायी जाय। ऐसे युवकों का एक दल बन जाय जो अपने भीतर समझ का दीपक जलायें और उसे हाथ में लेकर जन-जन तक पहुँच जायें। जहाँ जैसा अवसर मिले और अभिव्यक्ति का जो माध्यम अपने पास हो, उसी प्रकार वह समझ का प्रकाश फैलायें। कोई चित्रकार होगा, वह चित्रों के माध्यम से सन्देश देगा, कोई कवि-साहित्यिक होगा उसकी रचनाओं में वह समझ उभर आवेगी। शिक्षक होगा तो विद्यालय में अपना विषय पढ़ाते हुए उसी में यह मानवीय समझ और शुभ संस्कार गूँथ देगा। जिसके भीतर समझ जगी हुई है वह व्यक्ति जहाँ होगा वहाँ उसकी समझ का उजाला स्वयं फैलेगा, उसके व्यवहार एवं जीवन में से वह सहज ही संक्रान्त होगा। दीपक की लौ आलोक को अन्धेरे तक ले जाती है। उसी तरह जहाँ-जहाँ भी ऐसे युवक जायेंगे वहाँ वे अपनी समझ ले जायेंगे। शिविर कीजिये, विचार-गोष्ठियाँ कीजिये, सम्मेलन आदि में चर्चा कीजिये। बहुत आवश्यकता है सच्चा अध्यात्म जनजीवन में लाने की। आज यह राष्ट्र सङ्कटमयी परिस्थिति में से गुजर रहा है। छोटे विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक के विद्यार्थियों, उनके अभिभावकों व शिक्षकों तक को यह समझाने की ज़रूरत आ पड़ी है कि सम्प्रदाय, धर्म और अध्यात्म में क्या फ़र्क है। कहाँ क्या मनुष्य को मनुष्यता से नीचे उतार देता है और क्या सच्ची मानवता का आचरण सिखाता है ? राज्य धर्मनिरपेक्ष रहते हुए जनता धर्मप्राण किस तरह होनी चाहिये, धर्मनिरपेक्षता (Secularity) का धर्म-अध्यात्म (Religiocity-Spirituality) से विरोध किस प्रकार नहीं है, यह समझना पड़ेगा। बहुत ही असमंजस का अन्धकार है चित्त व बुद्धि पर। A darkness of confusion in the intellectual level is looming large in the horizons of Indian Consciousness. चेतना के इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संकट को दूर करना होगा और जो मानवविमुख अध्यात्म है, पलायनवाद है, उसका बौद्धिक-वैचारिक प्रतिवाद करना होगा।

जिनके जीवन में यह अन्तर्ज्योति प्रज्ज्वलित है, समझ का दीपक जल उठा है, वे इकट्ठे हों या अकेले भी जहाँ-जहाँ हों वहाँ जैसे बन सके, अपने भीतर के प्रकाश को चहुँओर फैलने का अवसर दें। जीवन को ही सन्देश बनने दीजियेगा, जीवन में से ही जीवन को संक्रान्त होने दीजियेगा। इसका प्रचार, विज्ञापन (Propaganda) नहीं हो सकता, प्रसार हो सकता है। प्रसरण जीवन का धर्म है।

प्रश्न—(१) दुनिया में इतनी बुराइयाँ क्यों हैं? ऐसा सवाल चित्त में उठता है। (२) यदि ईश्वर ने ही माया के द्वारा यह सृष्टि बनाई है तो उनकी माया को और उसके कार्य को 'बुरा' कैसे कहा भी जाय? उसे बन्धन कैसे मानें? (३) सत्त्व रजस् तमस् में से रजस् और तमस् इन दो गुणों के द्वारा कोई शुभ या अच्छा काम होता तो दिखता नहीं, फिर सच्चिदानन्द परमात्मा की सृष्टि में यह सब क्यों व कैसे है?

उत्तर—प्रश्नकर्ता को प्रतिप्रश्न पूछना चाहती हूँ कि—(१) 'खराब' या 'बुरा' शब्द का आशय क्या है? अंग्रेजी भाषा में जिसे 'Evil' या 'शैतानी सत्ता' कहा जाता है—क्या उसी को आप 'बुरा' कह रहे हैं? (२) 'परमात्मा' का भी क्या अर्थ आप समझते हैं? वह क्या Cosmic mind वैश्विक मन वाला विराट् कोई व्यक्ति है? उन विराट् व्यक्ति ने अपने से अलग यह सृष्टि-निर्माण किया है? यानी बनाने वाला अलग और जो बनाया वह अलग, ऐसी दो अलग स्वतन्त्र चीजें या हस्तियाँ हैं—ऐसा आप मानते हैं?

हम जो तीन दिन से यहाँ तत्त्व-सत्य को देखने की दिशा में चिन्तन करते आ रहे हैं, उसमें यही देखा गया कि 'परमात्मा'—संज्ञा से एक सत्ता का संकेत होता है, जो सत्ता प्रज्ञामयी है, जिसका उपादान ही प्रज्ञा (Intelligence) है। उस प्रज्ञा के स्फोट में से ही हम जिसे 'विश्व' कहते हैं वह उपजा है। अर्थात् वह प्रज्ञा या सत्ता ही विश्वाकार हुई है। सर्वत्र सर्वदा सर्वथा सर्वाकार स्वरूप हैं परमात्मा। परमात्मा ने विश्व बनाकर अपने से अलग कहीं एक तरफ़ रख दिया है और उससे दूर बैठे हुए परमात्मा इस विश्व-रूपी अपनी रचना को देख रहे हैं—ऐसा अर्थ तो परमात्मा शब्द से नहीं निकलता। वह तो सत्-चित्-आनन्दमयी सत्ता है। वह कभी नष्ट या समाप्त नहीं होती, उसका अन्त नहीं होता,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसलिये कहा गया कि वह 'सत्' 'अमृत' है। वह अन्ध नहीं, जड़ नहीं, अतः कहा गया वह 'चित्' है और जहाँ जन्म-मृत्यु और कोई भी द्वन्द्व नहीं, वहाँ आनन्द का आलोक रहता है. इसलिये वह 'आनन्द' है 'रस' है। ऐसी सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मसत्ता है।

अब, "इस जगत् में बहुत बुराइयाँ हैं"—कहने में 'बुरा' आप किसे मानते हैं? क्या 'बुरा' है? दुष्टता, क्रूरता, अन्याय, अनीति, अधर्म, शोषण, अत्याचार, हिंसा, स्वभाव को कुटिलता-जटिलता-विचित्रपना? क्या कहना चाहते हैं आप? जिस ईसाई धर्म के माने हुए पराभौतिक सिद्धान्तों (Metaphysics) पर सारी पाश्चात्त्य संस्कृति और सभ्यता टिको है उस धर्म में दो सत्तायें मानी गयी हैं—एक ईश्वर God और दूसरा शैतान Devil the power of evil or black powers, इसलिये उनके लिये आसान है कहना कि शैतान या काली शक्तियों के प्रभाव से बुराई पैदा होती और बढ़ती रहती है।....

यदि आप अन्याय-अधर्म-हिंसा-शोषण को 'बुरा' समझते हों, तो उस सबका कारण परमात्मा नहीं; उसका कारण यह है कि मनुष्य जाति को अभी मानवीय समाज की रचना करना आया नहीं है। मूलतः मनुष्य सामाजिक और विचारशील, बुद्धिसम्पन्न प्राणी है; उसे पशु-पक्षियों की तरह जंगलों में दौड़-भाग करते रहना रुचा नहीं, कहीं टिककर समूह-समुदाय बनाकर एक दूसरे के साथ रहना चाहा। मनुष्य बुद्धिसम्पन्न और स्वसंवेदनशील है, अतः उसके प्राणों में अभीप्सा समायी हुई है कि मिल-जुलकर साथ रहें, एक दूसरे को सहयोग दें, परस्पर सम्बन्ध बनाये हुए एक-दूसरे के साथ सुख-दुःख बाँटते हुए जियें। पर उस अभीप्सा को सम्यक् तुष्टि देते हुए जीवन जीना अभी तक मनुष्य जाति को सधा नहीं है; समाज-रचना, अर्थव्यवस्था, राज्यसंस्था, परस्पर विविध सम्बन्धों के आधार में उस पारस्परिकता और आनन्दभाव या सख्य-सहयोग-प्रीति को प्रतिष्ठित करना हो नहीं पाया है। इसीलिये अन्याय-अधर्म-अनीति-शोषण हिंसा आदि मनुष्य की दुनिया में दिखाई देते हैं। निसर्ग में और नैसर्गिक प्राणियों में भी यह सब कोई बुराई नहीं, वहाँ निसर्ग-नियम का अचूक पालन होता है। मनुष्य अपनी बढ़ी हुई—बढ़ाई हुई भोगलालसा से प्रकृति पर भी आक्रमण करके नैसर्गिक सन्तुलन को नष्ट करता है तो उसके दुष्परिणाम अवश्य नैसर्गिक सृष्टि व प्राणि-जगत् को भोगने पड़ते हैं, पर वह सब बुराई मनुष्य ने उपजाई है। महर्षि मार्क्स ने Direct

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Materialism का दर्शन समाज के सामने Materialistic Interpretation of History रखकर अवश्य उपकार किया क्योंकि स्पष्ट शब्दों में यह तथ्य दुनिया को दिखा दिया कि 'गरीबी-अमीरी-ऊँच-नीच, शोषण, दमन, अन्याय, अत्याचार और इनके द्वारा प्रभावित दलित-शोषित वर्ग मनुष्य ने बनाये हैं, ये अलग स्तर, अलग वर्ग और इनके बीच की खाइयाँ परमात्मा ने नहीं बनाई हैं। यह सत्य नहीं है कि किसी ने पहले जन्म में पाप किये हैं इसलिये इस जन्म में वह ग़रीब, दलित, शोषित बना है। स्वार्थी उच्च वर्ग ने उस ग़लत धारणा की—पाप-पुण्य की श्रृंखला की अफ़ीम की गोली खिलाते-खिलाते मनुष्य की चेतना को पूरी तरह अपंग बना दिया है।"

इसलिये कृपया इन बुराइयों का सम्बन्ध धर्म या अध्यात्म से न जोड़ियेगा। परमात्मा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। मनुष्य ने अभी तक मानवीय जीवन जीना सीखा नहीं है। आकृति तो मनुष्य की बन गई है, पर प्रकृति से मनुष्य होना बाकी है। इस धरती पर मनुष्य के नाते जीना हमने अभी सीखा नहीं है। How to live on earth like human beings, we have not yet learnt.

इसके अलावा, जो अन्य मानसिक संवेगात्मक विकार हैं—क्रोध, द्वेष, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या असूया, तोड़-फोड़ या हिंसा करना, दूसरों का दिल दुखाना आदि—उन्हें बुराई मानते हों तो यह सब सृष्टि के साथ अपने सम्बन्ध के रहस्य को न जानने (अज्ञान, ignorance about the mystery of relationship) के कारण है। वह सम्बन्ध क्या है? और उस सम्बन्ध को जीना ही मनुष्य-जीवन की 'इतिकर्तव्यता' है—यह किसी ने बताया नहीं। बस यही सुनते आये कि "इस जीवन का ध्येय परलोक में कुछ पाना है।" इहलोक में भी समस्त सृष्टि के साथ एवं समस्त प्राणियों तथा मनुष्यों के साथ संवादी सम्बन्ध से जीना है, सबसे समन्वय साधना है, परस्पर सबका उदय हो इसका प्रयत्न करना है, "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम् अवाप्स्यथ"—यह सुनकर भी अनसुना किया गया और जीवन का लक्ष्य इस जीवन के बाहर दिखाया गया। ऐसा एक extra-territorialism धर्म-अध्यात्म के नाम पर लोगों को सिखाया गया। इसीलिए "सम्बन्धों में रहना, सम्बन्धों को जीना यह जीवन का मर्म है और सर्वतः संवादी समग्र जीवन जीना—यह मनुष्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का धर्म है।'' इस जीवन में टेढ़ा-मेढ़ापन न आये, किसी प्रकार का असन्तुलन न आये। आप जिसे क्रोध (और उसके आगे-पीछे गुँथे हुए सब विकार) कहते हैं वह वास्तविकता से समन्वय न होना (maladjustment with Reality) है। जो सामने आया (व्यक्ति, वस्तु, घटना, परिस्थिति) वह पसन्द न आने से जो चिढ़ मन में उठी उसी को दिखाने की प्रक्रिया या उस चिढ़ की न रोकी जा सकी अभिव्यक्ति है क्रोध। जो चाहा था वह मिला नहीं—इस परिस्थिति से सम्यक् सम्बन्ध न हो सका। इतनी-सी बात है। ऐसे विसंवाद की अभिव्यक्तियाँ जो विकार हैं, उन्हें 'बुराई', 'शैतानी वृत्ति', 'पाप' जैसे नाम देकर आप (मनुष्य) ने उनसे घृणा का बीज बोया। इसीलिये फिर उसकी ओर देखने की, उस का विश्लेषण करके कारण समझने की इच्छा या वृत्ति नहीं होती। वास्तव में तो हम (अन्तःकरण में चैतन्य) ही क्रोधाकार, द्वेषाकार, लोभाकार या मद-मत्सर आदि आकार वाले होते हैं। किसी भी विकार के आकार वाली वृत्ति होने पर क्षणिक या दीर्घकालिक असन्तुलन की दशा जीवन में आ जाती है। इसे देखें, परखें, समझ लें, तो घृणा नहीं होगी।

मुझे लगता है कि प्राथमिक विद्यालयों से ही वैज्ञानिक रीति से जीवन जीना सिखाने लगें तो चेतना आरम्भ से हो संवादिता की अभ्यासी बन सकती है। आरम्भ में ही यदि विद्यार्थियों को परिचय करा दिया जाय कि मन क्या है ? विचारों की गति कैसे चलती है ? भावनाओं का रसायन-विज्ञान किस तरह काम करता है ? कुल मिला कर शरीर के भीतर व्याप्त मन की संरचना और गतिविधि से परिचय यदि किशोरावस्था में ही करवा दिया जाय और समस्त सृष्टि में जीवन की एकता, तथा मनुष्यों का बाकी सारी सृष्टि तथा मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों से संवादी सम्बन्ध समझा दिया जाय, तो मुझे लगता है—'बुराइयाँ' बहुत कम हो सकती हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि विद्यालयों में तथा घर में भी शुभ संस्कार सींचते रहें तो दुनिया से 'बुराई' सर्वथा मिट ही जायेगी; क्योंकि कितने भी अच्छे बीजों से पौधे तैयार करके आप बगीचे या खेत में लगायें पर सब की बढ़त एक समान होगी या सब सीधे-सीधे ऊपर बढ़ते जायेंगे यह नहीं कहा जा सकता। कोई टेढ़े-मेढ़े भी होंगे। The ratio of the chemicals and the vitamins in the body, the ratio of the blood-cells, the conditioning of the brain cells शरीर में वर्तमान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रसायनों सप्तधातुओं और जीवनतत्त्वों के अलग-अलग अनुपात तथा जाति-वंश या बहुत पुराने किन्हीं संस्कारों से प्रभावित मस्तिष्क तन्तुओं के अनुपात—इन सबके कारण अलग-अलग, स्वभावों की गढ़न बनती है, temperamental idiosyncrasies (प्रकृतिगत विशेषतायें) उत्पन्न होती हैं। एक ही खेत में उपजी मिर्च तीखी क्यों ? करेला कड़वा क्यों ? इमली या नींबू खट्टा क्यों ? गाजर मीठी क्यों ?—यह तो हम नहीं कहते हैं न ! फिर अमुक व्यक्ति गुस्सैल क्यों ? अमुक डरपोक क्यों ? अमुक का चित्त इतना क्षुद्र क्यों ?—यह हम कैसे पूछ सकते हैं ? हाँ, दूसरे व्यक्ति की स्वभाव-गत विशेषता से अपना नुकसान न होने देते हुए हम हो सके तो उस व्यक्ति की मदद कर सकते हैं कि वह अपना भी नुकसान न कर बैठे, और ज़रूरत पड़े तो उसका प्रतिकार भी करते हुए सबके साथ जीना आना चाहिये। यह जीने की कला सीखना बाकी है।

"योगियों ने साध ली जीवनकला"

प्रश्न का दूसरा भाग लें। 'माया की मदद से परमात्मा ने सृष्टि बनाई....' ऐसे तो भाई अनेकों सिद्धान्त हैं. तर्क-अनुमान हैं, आप्तवाक्य भी हो सकते हैं, पर वह सांकेतिक भाषा है। जिसकी मदद से अखिल जगत्-सृष्टि के मूल जीवनस्रोत व परमतत्त्व का कुछ-कुछ अन्दाज़ लगाया जा सके, किसी तरह बुद्धि परमतत्त्व की ओर झाँक सके वह उपाय है माया (मीयते अनया)। माया का अर्थ असत् (जो नहीं है, जिसका अस्तित्व नहीं, केवल भ्रम या अभावात्मक कल्पना) नहीं है; मिथ्या का अर्थ भी 'भ्रम' 'झूठा' 'अवास्तव' नहीं है। ये परिभाषिक शब्द हैं। इन्द्रिय-गम्य विश्व में भी अगणित विचित्रतायें हैं यह हम देखते हैं। सौ हजार जन्मों में भी इस जगत् की प्रत्येक वस्तु को देखा-समझा नहीं जा सकता—प्रत्येक वस्तु से अपना सम्बन्ध प्रकट रूप से जोड़ा नहीं जा सकता—ऐसे अनन्त रंग, रूप, सुगन्ध, ध्वनियाँ हैं। इनकी नित्य नवीनता कभी कम होने वाली नहीं। लाखों वर्षो से मनुष्य जाति इस पृथ्वी पर है, पर छहों ऋतुओं का लावण्य-तेज-सौम्य व रौद्र रूप कभी भी कम नहीं पड़ा, बासी नहीं हुआ; इनके द्वारा होने वाला नव-नव सर्जन कभी रुका नहीं। इसलिये—'माया की मदद से हम समझ पाते हैं कि इस विविधता-विचित्रता-नित्य नवीन अनन्तता के पीछे कोई एक अजस्र स्रोत है, जो नन्हें से नन्हें कण से लेकर बड़े से बड़े आकाश को भी अपने आगोश या गोद में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिये हुए है; वह एक अखण्ड है और सर्वव्यापी है, अनन्त है, सनातन है, असीम है। उसको कहने की इच्छा होने पर 'न इति न इति' (बस इतना ही नहीं, इतने में सीमित नहीं) ही कहा जाता है, ऐसे शब्द नहीं मिलते जो उसे पूरा-पूरा कह सकें। अतः कहना पड़ा—

"यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जो वाणो से कहा नहीं जा सकता, मन से पकड़ा या मनन किया—सोचा—नहीं जा सकता, आँखों से देखा नहीं जा सकता, कानों से सुना नहीं जा सकता, त्वचा से छुआ या रसना से चखा नहीं जा सकता, जिसे 'यही है' नहीं बताया जा सकता वह ब्रह्म है। जो कुछ 'यह' दिखता है बस इतना ही ब्रह्म नहीं। इन्द्रियाँ जिसके समीप पहुँचती हैं (उप आसते) वह (उतना भर) ब्रह्म नहीं, यह सापेक्ष है। जो ऐसे सापेक्ष नहीं, वह ब्रह्म है—ऐसे नकारात्मक (negative) भाषा द्वारा उस अनन्त अव्यक्त की ओर संकेत किया जाता है। वासुदेव ने भी (गीता में) अपने विशेष पहचान के स्थानों (विभूतियों) का वर्णन करते हुए कुछ गिनाये, फिर कह दिया कि सब तो गिनाया नहीं जा सकता बस इतना समझ लो कि जहाँ-जहाँ श्री, ऊर्जा और विशेषभूति है, वह मेरे ही तेजस् की अभिव्यक्ति है।....इन अनन्त रूपों को धारण करने की शक्ति को ही माया कहा गया है। यह नहीं कि एक कोई परमात्मा हैं, उन्होंने दूसरी किसी 'माया' व्यक्ति को मदद के लिए रखा हो, तब दोनों ने मिलकर यह जगत् बनाया हो! The Primal energy of expansion, explosion, Primal energy of diversity! The Primal desire—एक में से अनन्त विविध विचित्र स्फोट की शक्ति को ही 'माया' या 'माहेश्वरो' 'महासरस्वती' 'महाकाली' 'महालक्ष्मी' कहा गया।

"सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।"

"उसने चाहा एक मैं बहुत हो जाऊँ!" "उसकी इच्छा से जगत्-सृष्टि हुई"—यह सांकेतिक भाषा है। इसे न समझ कर मान लिया कि उसमें इच्छा है यानी उसका भी कोई मन है। हम अपनी ही प्रक्रियायें या दशा परमसत्ता पर भी थोपते हैं। शब्दों में उस शब्दातीत सत्ता का वर्णन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कोई भी करने चले तो मानवीय भाषा का ही तो प्रयोग करना पड़ेगा ! पर वह रूपक है, दृष्टान्त है, उपमा है। उसके शब्दार्थ को लेकर खींच-तान न करें। वे तो काव्यात्मक सांकेतिक वर्णन हैं। यथार्थता कहने जाने पर सन्त कहते हैं—"यह विश्व नहीं रे माया ! यह विश्व प्रभु की काया" "ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या" में भी मिथ्या शब्द का अर्थ (hallucination) (विभ्रम) या illusion (भ्रम) नहीं है; [अद्वैत वेदान्त में भी स्वप्न या भ्रम के दृष्टान्त देकर उन दृश्यों की अनिर्वचनीय सत्ता, ऐसा 'होना'-पन जिसे किसी भी श्रेणी में बैठाया न जा सके, फिर भी जो अभावात्मक प्रतिपादन नहीं है बताई गई है।]

आज की वैज्ञानिक भाषा में कहना हो तो इसे आइंस्टाइन की सापेक्ष सत्ता (Relativity) तक ले जा सकते हैं।

परमसत्ता और उसमें विराजमान शक्ति को ही रसिक पूर्वजों ने 'युग्म' रूप में देखा और शिव-शक्ति या राधा-माधव-गौरी-शंकर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम आदि नाम दिये। उनके गुणों और लीलाओं के वर्णन व स्तोत्र रचे। कल्पना में दारिद्र्य क्या ? हृदय में रसिकता हो तो अभि-व्यक्ति का ऐश्वर्य खिलता है।

प्रश्न का तीसरा भाग—सत्त्व, रजस्, तमस्, कफ-वात-पित्त, पञ्च-महाभूत—इन सबसे मिलकर शरीर बनता है, मनुष्य का ही नहीं, सभी प्राणियों का, वनस्पति आदि का भी। कफ-वात-पित्त वाली प्रकृति और सत्त्व रजस्-तमस् की प्रेरणा वनस्पतियों में होती है ऐसा आयुर्वेद कहता है। मेरे बचपन में श्री गौरीशंकर महाराज के साथ बहुत सम्बन्ध रहा था। वे आयुर्वेद के भी मर्मज्ञ प्रयोक्ता थे। कभी-कभी औषधि-वनस्पति लेने जाते समय मुझे भी साथ ले जाते। पहले दिन शुभ मुहूर्त देखकर वनस्पति-लता आदि के पास जाकर अक्षत-कुङ्कुम आदि से भली-भाँति पूजा करते, नमस्कार करके वनस्पति से कहते कि "कल हम आप को ले जाना चाहते हैं, ओषधि के लिये आप का उपयोग करना है, कृपया आइयेगा, अपना फल दीजियेगा।" फिर दूसरे दिन निर्दिष्ट समय पर वहाँ जाकर वनस्पति को सम्मानपूर्वक ले आते। वे वनस्पति के सत्त्व-रजस्-तमस्, कफ-वात-पित्त प्रकृति की पहचान बताया करते थे।

इसलिये, यह नहीं कहा जा सकता कि केवल सत्त्व ही उपयोगी है, रजस्-तमस् भी उतने ही उपयोगी हैं, जीवन-धारण में। तमस् न हो तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिदिन निद्रा कैसे ली जा सके ? गुरुता, स्थिरता तमोगुण के ही लक्षण हैं। रजस् न हो तो कोई हलचल या क्रिया नहीं हो सकती। इसलिये तमोगुण-रजोगुण को 'बुरा' कैसे कहा जा सकता है ? सत्त्वगुण का लक्षण है निरामय (व्याधि-रहित) होना, निर्मलता, प्रकाशकता। अवश्य ही सत्त्वगुण प्रधान हो और रजस्-तमस् उसके अधीन रहें तो जीवन में सौष्ठव रहता है, अधिकांश संकट खड़े ही नहीं होते। लेकिन तमोगुण का साम्राज्य हो जाय तो रजस् और सत्त्व को पास फटकने नहीं देता, केवल प्रमाद, आलस्य छाया रहता है। आलस्य शब्द बना है—'अलस' से, उसका भी पहला रूप है 'अरस'। जीवन जीने में रस न होना ही आलस्य और प्रमाद के रूप में प्रकट होता है। यह स्थिरता की विकृति है। तमोगुण का प्रमाण बढ़ जाये तब कुछ भी करने-देखने-जानने से अरुचि होती है, इसीलिये जहाँ-तहाँ जैसे-तैसे पड़े रहना, हाथ-पाँव न हिलाना होने से मैल जमा होने लगता है, अव्यवस्था बढ़ती है, अराजकता आती है। स्नायु, मज्जा, नाड़ी आदि में भी गति शिथिल, मन्द हो जाती है। रजोगुण का प्रमाण बढ़े तो गति अत्यधिक बढ़ जाती है, क्रिया-प्रवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि उसके कारण चैन नहीं रह पाती, मन-बुद्धि (उन्हीं से बँधा हुआ तनु भी) क्रिया-ग्रस्त हो जाते हैं। व्याधिग्रस्त की तरह क्रिया-ग्रस्त रहता है मनुष्य।

रजस्-तमस् यदि सत्त्व के अधीन रहें तो जीवन में सन्तुलन आता है। पर आखिर ये तीनों गुण ही हैं। 'गुण' का एक अर्थ पाश भी है। वासुदेव ने अर्जुन को कहा—(अर्थात् मनुष्य को जीवन का आदर्श दिखाया गया—) "निस्त्रैगुण्यो भव !" इन तीनों के परे भी जीवन जीना सम्भव है, और वह जीवन जीने की क्षमता मनुष्य में ही है। गीता सर्वग्राही शास्त्र है, जो वेदोपनिषदों (रूपी गायों) का दोहन करके निकाला हुआ सार अमृत पीयूष गोपाल-वासुदेव ने प्रस्तुत किया है मनुष्य जाति के लिये ! A wholistic approach to life. सम्पूर्ण जीवन जीने की समग्र दृष्टि व पथ दिखा दिया है।

कहना यही है कि रजस् और तमस् से कोई शुभ-कार्य घटित नहीं होता—ऐसा न मानें। प्रत्येक गुण उपयोगी है यदि उसका सन्तुलित व सम्यक् विनियोग किया जाय।

> "अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति वनस्पतिरोषधि विना।
> अयोग्यो पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः॥"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[मन्त्र न हो ऐसा कोई अक्षर नहीं, ऐसी कोई वनस्पति नहीं जिसमें ओषधि-गुण न हो; कुछ भी न करने लायक (नालायक) यानी अयोग्य कोई मनुष्य नहीं; किन्तु इनका एकत्र सम्यग् विनियोग करने वाला व्यक्ति मिलना मुश्किल है।]

वह आयोजन करने में ही मनुष्यता की सफलता है, स्वास्थ्य और जीवन के आनन्द को कुंजी (Master Key) आयोजन में ही है। सभी विषयों में—सभी पदार्थों-प्राणियों-व्यक्तियों-घटनाओं-परिस्थितियों में जीवन की एकता का स्पर्श पाना जिसे सध जाय उसके लिये यह जीवन प्रभु की आनन्द-लीला ही हो जाता है। सभी कुछ 'नारायण' ही हो जाता है, उसे फिर 'कृष्ण विना कुछ न दीखे !' 'अखिल ब्रह्माण्ड में तू ही एक श्री हरि !"—वे कह पाते हैं। यहाँ सर्वत्र सत्त्व व तत्त्व का ही निर्देश है। जीवन की समग्रता के आयाम में जीने वालों की नज़र उस तत्त्व पर ही जाकर ठहरती है इसलिये 'विषय ही सारे हुए नारायण !' तत्त्व तेज और पदार्थ (Isness or to be-ness, energy; and matter) एक हो रहते हैं।

प्रश्न—राजस्थान-गुजरात-महाराष्ट्र में आपके निर्देशन में जो सार्वजनिक (समाज-हितकर) कार्य चल रहे हैं, वे किस प्रकार चलते हैं। उनमें कार्यकर्त्ताओं में परस्पर जो अड़चनें, कठिनाइयाँ, समस्यायें खड़ी होती होंगी उन्हें कैसे सुलझाया जाता है ?

उत्तर—इस जीवन में मैंने अब तक कभी भी संकल्प-पूर्वक कोई काम प्रारम्भ नहीं किया। भारतीय जनता की ग़रीबी-दुःख-कष्ट सहन न होने के कारण विनोबाजी ने मानो विवश होकर भूदान-आन्दोलन प्रारम्भ किया था, उसमें काम करने मैं गयी थी, क्योंकि सन्तों के नेतृत्व और अध्यात्म के अधिष्ठान से समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया वे प्रारम्भ कर रहे थे। उसके बाद १९६३ से मैं आबू रहने लगी, कोई काम शुरु करने का विचार नहीं था। मित्रों के अनुरोध से विदेशों में जिज्ञासु-जनों के प्रश्नों के उत्तर और मानवीय चेतना के नये आयाम की बात कहना होता था। इसे देखकर यहाँ भारतीय (खास गुजरात के) मित्रों ने सोचा कि ये विदेशों में अपनी बात कहती हैं, यहाँ भारत में वैसा कुछ नहीं होता, इसलिये श्री उमाशंकर जोशी, किशन सिंह चावड़ा, परमानन्द कापड़िया, वजुभाई शाह आदि लोगों ने १९६८ में एक प्रकाशन ट्रस्ट बना दिया जिसके द्वारा मेरे प्रवचन आयोजित होते, फिर उनका सम्पादन-प्रकाशन होने लगा। दो तीन वर्ष बाद जीवनयोग-फाउंडेशन बनाया कि गुजरात में छिटपुट प्रकीर्ण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवचनों के बजाय अलग-अलग जगह व्यवस्थित शिविर हों। मैं न इस फाउंडेशन की सदस्य हूँ न ही ट्रस्ट की। १५७०–७८ तक जीवनयोग-फाउंडेशन की ओर से ध्यान-शिविर, सत्सङ्ग शिविर, युवा शिविर आयोजित होते, तब उन शिविरों पर प्रवचन व प्रश्नोत्तर देकर मैं मुक्त रहती थी। परन्तु १९७८ में जयप्रकाश नारायण (भूदान आन्दोलन के समय से जिनसे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध बना था, उनके साथ ही बिहार, पंजाब, तमिलनाडु में पदयात्रा हुई थी, संयुक्त शिविर भी हुए थे) ने १९७८ में बम्बई (अस्पताल में) बुलाकर मुझे कहा कि "हम तो अब जा रहे हैं, लोक जागृति का काम अब तुम हाथ में लो। केवल 'मानवीय चेतना के आयामों की शोध' के अपने कार्य में न रहो; अपने देश का भी ख्याल करो।"—उनके अनुरोध पर मैंने कहा था—"आप चिन्ता न करें, आपकी जलायी यह मशाल बुझने न पायेगी।"

तब १९७९ में मैंने अपने सत्संगी मित्रों की सहायता से, इन मित्रों को ही साथ लेकर एक 'लोक जागरण यात्रा' निकाली। सत्संगी साधक मित्र ही बारी-बारी से साथ चलते। एक मित्र ने एक 'मिनी बस' इस यात्रा के लिये दी। उसीमें अपना सब यात्रा का तथा रसोई का सामान साथ लिये हम ७-८ लोग—गुजरात (कच्छ)-राजस्थान-हरियाणा-पंजाब-हिमाचल-मध्यप्रदेश में गाँव-गाँव घूमे अन्य भी ६ प्रदेशों में अनेक स्थानों में गये। एक-एक दिन में दो या तीन गाँव या छोटे शहरों में पहुँचते। रास्ते में ही कोई बड़ा नगर आ जाता और ज़रूरत लगती तो दो दिन वहाँ रुक कर नगर के प्रभागों में सम्पर्क करते। जहाँ जाते वहाँ स्वयं ही ठहराव-पड़ाव स्थल की सफ़ाई, अपनी रसोई बनाना-समेटना आदि सब अपने हाथों करते हुए, किसी से कुछ भी न लेते हुए, प्रार्थना-सभा आयोजित करते या उस गाँव-कस्बे के मोहल्लों-विद्यालयों में सम्पर्क करते, गाँव-नगर के समझदार व बुद्धिजीवी प्रमुख व्यक्तियों से बात करते। ऐसे प्रायः बारह प्रदेशों में यह लोक-जागरण-यात्रा हमने की। उसी बीच, राजस्थान में बीकानेर जिले के, पहले से ही सर्वोदयी तथा गोसेवा संघ के सघन कार्यनिष्ठ उद्यमी व्यक्तियों ने कहा कि आप जो ग्राम-स्वराज्य की बात कहती हैं, उसके आधार पर एक ग्राम-स्वराज्य शोध-संस्थान बनाना चाहिये। उन्हीं व्यक्तियों ने मिल कर मेरे मार्ग-दर्शन में, छतरगढ़ में खादी ग्रामोद्योग तथा अ० भा० गो सेवा संघ द्वारा सार्वजनिक हितकार्य में लगाई गई भूदानी जमीन पर ग्राम-स्वराज्य शोध-संस्थान स्थापित किया। वहाँ सौर ऊर्जा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा वैकल्पिक ऊर्जा के विविध उपयोगों के प्रयोग, मरुभूमि में तथा बंजर भूमि में खेती करने के प्रयोग, खारे पानी को सौर ऊर्जा द्वारा पेय बनाने के प्रयोग चले; जो किसान अभाव के कारण गाय-बैल रख न पाते हों वे उन्हें कसाइयों को न बेच कर इस संस्था में छोड़ जाये तो उन्हें तब तक जिलाने-देखभाल करने का जिम्मा संस्था ने लिया जब तक वे किसान अपने गाय-बैल वापस लेने में समर्थ न हो जाँय। इसके लिये बड़ो गोशाला बनायी गयी। आसपास के पचास गाँवों के युवकों को खादी-ग्रामोद्योग-कुटीरोद्योगों के प्रशिक्षण देने का कार्य यह संस्था करने लगी। इनमें अधिकांश गाँव मुसलमानों के हैं जिनका मुख्य धन्धा गोपालन और खेती है।

इसी प्रकार फिर एक ग्राम-स्वराज्य-प्रशिक्षण संस्थान सौराष्ट्र में—घेला सोमनाथ के पास स्थापित हुआ। गढडा खादी-ग्रामोद्योग संघ की जमीन पर सौराष्ट्र-रचनात्मक-समिति के मन्त्री (secretary) बारह वर्ष तक रहे हुए और योरोप-अमेरिका आदि का प्रवास करके हस्तोद्योग (Handicrafts) का विशेष अध्ययन तथा प्रयोग कर चुके हुए श्री छेलभाई शुक्ल ने गुजरात के लिये ग्रामस्वराज्य-शोध एवं प्रशिक्षण संस्थान चलाने का बीड़ा उठाया, मुझसे मार्गदर्शन माँगा, वह जितना मैं कर सकती हूँ देती हूँ। १९८२-८३ से वह चलता है। इसी बीच वह स्थान (गोपालधाम-घेला सोमनाथ) तथा अनुकूलता मिलने से प्रोत्साहित होकर, वहाँ तथा गुजरात में अलग-अलग अनेक स्थानों पर सौराष्ट्र विश्वविद्यालय तथा आसपास के विद्यार्थियों के युवा शिविर भी चलने लगे। इन सात-आठ वर्षों में प्रायः चार हजार विद्यार्थी हमारे युवा-शिविरों में शुभ-संस्कार पा चुके हैं। इन शिविरों में विद्यार्थी स्वयं ही सारी व्यवस्था सम्हालते हैं, सफ़ाई, भोजन बनाने में (जो एक दो बड़े व्यक्ति मुख्य रसोई कर रहे हों उनकी) मदद करना, रसोई की व्यवस्था और सफ़ाई संभालना, बर्तन मांजना, भोजन परोसना; इसके अलावा भी तीन घण्टे उस-उस गाँव या संस्था के लिये श्रमदान करना, और चार घण्टे में मौन-ध्यान-प्रार्थना, प्रवचन सुनना, प्रश्नोत्तरी, वैचारिकी चर्चा, सबका सार निकाल कर हाथ लिखी दैनिक बुलेटिन निकालना, रात में कुछ न कुछ सांस्कृतिक आयोजन करना—यह सब करते हैं। शिविर में चर्चा, संवाद के विषय भी पहले से दे दिये जाते हैं, उसके लिये क्या-क्या अध्ययन करके आना है यह कह दिया जाता है और विद्यार्थी भली-भाँति पढ़-लिख-सौच कर तैयार होकर आते हैं। वहाँ उन्हें स्वतन्त्र अभिव्यक्ति करनी होती है। लोकतन्त्र क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है? साम्यवाद क्या? समाजवाद क्या? विश्व में कितनी व कैसी-कैसी क्रान्तियाँ हो चुकी हैं? भारत का तथा विश्व का राजनैतिक व सांस्कृतिक इतिहास क्या? धर्म-निरपेक्षता क्या है? अध्यात्म क्या है? इस तरह के विषय रहते हैं। इन विषयों के विशेषज्ञ एवं शिक्षणविद् चिन्तकों को इन शिविरों में आमन्त्रित करके विद्यार्थियों से मिलाया जाता है।

१९८४ में अहमदाबाद जिले में वीरगाम-तालुके में एक छोटा प्रयोग किया कि उस क्षेत्र में बेरोज़गारी सम्पूर्णतया मिटायी जा सकती है या नहीं? पाँच वर्ष का समय निर्धारित करके वहाँके लिये एक सिंचाई योजना बनाई। गाँव के लोगों ने श्रमदान करके एक बड़ा सा तालाब बनाया, उसे देखकर स्थानीय बैंक ने उस योजना के लिये गाँव को सत्तर हजार राशि उधार दी। और भी समर्थ लोगों ने कुछ मदद की, तो वह सिंचाई योजना तीन वर्ष में ही पूरी हो गई। वहाँ एक उत्तर-बुनियादी विद्यालय भी बन गया, उसके विद्यार्थी, शिक्षक और अभिभावकों ने मिल कर एक छात्रालय भी बना लिया। मार्गदर्शन के लिये दो-तीन इंजीनियर आते रहे, पर श्रम सारा गाँव वालों तथा विद्यार्थियों-शिक्षकों ने मिल कर; (अपना-अपना दैनिक कर्तव्य निभाने के बाद) उत्साहपूर्वक कई महीने लगाकर किया। ऊपर कहे हुए ग्रामस्वराज्य शोध-संस्थान की भी सब इमारतें इसी प्रकार विद्यार्थियों-शिक्षकों-गाँव वालों ने ही मिल कर बनायी हैं, कोई भाड़े के मज़दूर-कारीगर नहीं रखे गये। पवनचक्की का काम, Drip-irrigation का प्रयोग, सब चलते हैं। वर्ष भर में कुल तीन इंच बरसात होने पर भी हमने वहाँ खेती से दो फ़सलें उतारीं।

१९८०-८१ में, पोरबन्दर में एक साल में ७० से ऊपर हत्यायें हो चुकी थीं, वहाँ के चिन्तनशील नागरिक कहने लगे "दीदी! यहाँ कुछ करना पड़ेगा। आप बताइये।" मैंने अपने मित्रमण्डल (जिसमें सर्वोदय-क्षेत्र के साथी-मित्र भी शामिल हैं) में घोषणा कर दी कि जो मरने को तैयार हों वे मेरे साथ चलें। तब पहले १२ बहनों और २० भाइयों को लेकर पोरबन्दर गयो, एक सप्ताह तक हम वहाँ रहे, नगर के प्रत्येक मोहल्ले में एक-एक दिन प्रभात फेरी लेकर भगवान् का नाम गाते हुए हम जाते, वहाँ जाकर प्रार्थना-सभा होती फिर सब साथी घर-घर में अलग-अलग टुकड़ियों में जाकर सम्पर्क करते, घरों से-बहनें, भाई, युवक मेरे पास आते अपनी आपबीती सुनाते, समस्यायें सुनाते, तीसरे पहर-शाम तक की प्रार्थना-सभा में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्मिलित होते। एक हफ़्ते में हवा बदल गयी, लोगों का परस्पर भय-अविश्वास छँट गया, एक-दूसरे मोहल्लों में जाना-आना मिलना होने लगा। तभी वहाँ एक शान्ति-अनुष्ठान-केन्द्र स्थापित किया जो दो वर्ष तक वहाँ बना रहा। इस बोच पुनः ३० बहनों व ५० भाइयों को लेकर (टुकड़ियाँ बाँट कर) पोरबन्दर जिले के सभी गाँवों-कस्बों में सघन यात्रा की।

१९८५ में अहमदाबाद में साम्प्रदायिक दंगों ने जोर पकड़ा था। भयङ्कर स्थिति थी, सब चिन्तित थे, सर्वोदयी-मित्रों ने तीन-दिन उपवास किया। आखिर हमने उसी जगह शान्ति-अनुष्ठान-केन्द्र वनाया जहाँ सबसे ज्यादा हिंसा की वारदातें होती थीं। और पदयात्रा करते हुए नगर के उन सब मोहल्लों में गये जहाँ हत्यायें हुई थीं। नौ महोने वह केन्द्र भी चला। इस तरह आपद्धर्म निभाने ही पड़ते हैं। ये सब आनुषङ्गिक काम हैं।

ग्रामस्वराज्य-केन्द्रों में सौर ऊर्जा के विविध उपयोगों के प्रयोग चलते हैं। सौर ऊर्जा से ग्रामोद्योग चलाना, हाथ से कागज़ बनाना, आश्रम के लिये पानी गरम करने के लिये सौर-भट्ठी चलाना, रसोई सौर-ऊर्जा वाले 'कुकर' में करना, खारे पानी से मीठा पीने योग्य पानी बनाना—ऐसे सौर ऊर्जा के अनेकों उपकरण बनाये हैं। जनता-जनार्दन के सहस्रों वरद हाथों से इन कामों में मदद मिलती है। वर्षा-ऋतु में गाँवों के काम करने वाले लोग, ग्रामस्वराज्य-केन्द्रों के लोग तथा उन-उन क्षेत्रों के सरकारी कार्य-वाहक अधिकारी लोगों के साथ बैठने का सुयोग ये केन्द्र जुटा देते हैं। अधिकारियों से कहा जाता है कि "खुद गाँव वालों के पास विकास के लिये उपयोगी क्या-क्या योजनायें हैं वह सुन तो लीजिये! आपकी योजनायें इन्हें कहाँ तक कैसी मदद दे सकती हैं वह इन्हें समझा दीजिये, कुल मिला कर वस्तुतः ग्राम विकास कागज़ से धरती पर आ सके इसके लिये गाँव वालों से मिल कर परस्पर सहयोग कीजिये"—इत्यादि। मुझे प्रसन्नता है कि यह बात समझने वाले और करने को तत्पर तरुण-युवा अधिकारी भी मिलते हैं। ऐसी गोष्ठियों में हम अधिकारियों को नीचे बैठाते हैं, गाँव वालों की ओर से आये प्रतिनिधियों को ऊपर मंच पर बैठा कर उनकी बातें सब मिल कर सुनते हैं, यह संकेत देने के लिये कि असली मालिक तो गाँव वाले ही हैं, सरकारी अधिकारी-कर्मचारो तो उनके सेवक हैं।....पंजाब की भीषण हालत में भो सारे पंजाब में मेरे साथ जगह-जगह प्रवास, लोक-सम्पर्क यात्रा करने वाले ८२ लोग मिले।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१९८५-८६ में 'गुजरात-बिरादरी' नाम से एक संगठन बना। उन्हें भी मुझसे मार्गदर्मन की अपेक्षा थी, अनेक स्वयं सेवी संस्थाओं के लोग एकत्र आ सकें एवं स्वतन्त्र रूप से नागरिक तथा युवा-पीढ़ी देश व समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझने एवं भाई-चारे से स्वधर्म पालन के लिये एक मंच के अन्तर्गत खड़ी हो सके इसके लिये हमारी पंजाब-इन्सानी-बिरादरी से प्रेरित होकर गुजरात-बिरादरी बनी; पंजाब-बिरादरी तो राजनीतिक चालों के कारण वहाँ के हालात काबू से बाहर हो जाने मे बहुत सीमित ही काम कर पायी, किन्तु गुजरात-बिरादरी यहाँ की जनता एवं युवा-पीढ़ी के सहयोग से अच्छी फूल-फल रही है। 'अध्यक्ष' एवं 'मार्गदर्शक' रूप में मेरे नाम का उपयोग करने में उन्हें सहूलियत होती है, इसलिये वह करने देती हूँ, जहाँ वस्तुतः मार्गदर्शन माँगा जाता है वहाँ देती भी हूँ, बस इसके सिवा उस संगठन की रचना में मैं कहीं भी नहीं हूँ।

गुजरात-बिरादरी एक सांस्कृतिक अभियान चला रही है; वे लोग गुजरात की विभिन्न सार्वजनिक समस्याओं पर परिसंवाद आयोजित करते हैं, सिन्ध की ओर से भारत में घुसपैठ की समस्या का अध्ययन करने के लिये कच्छ की सीमाओं के तीन सौ गाँवों में हमारे तीन सौ युवक (साथ ही कुछ प्रौढ़ वरिष्ठ लोग भी) टुकड़ियाँ बना कर घूमे, वहाँ की परिस्थिति का अहवाल लिखा गया, वह गुजरात-सरकार तथा केन्द्रीय सरकार (दिल्ली) को, मुख्य मन्त्री एवं प्रधानमन्त्री तक को भेजा गया। उस पर तुरन्त करने योग्य कार्रवाई सरकार ने की भी।

इस समय (१९८९ प्रारम्भ) भी गुजरात के नौ जिलों में हमारे युवक मतदाता-जागृति-अभियान में लगे हुए हैं। इसमें वे लोगों से तीन बातें कहते हैं :—

(१) आप यदि किसी राजनैतिक पक्ष के सदस्य हैं तो इतनी निगरानी रखिये कि आपका पक्ष किसी गुण्डे, भ्रष्टाचारी, दुःशील व्यक्ति को अपना उम्मीदवार न बनाये। वैसा किया जा रहा हो तो पक्ष-कार्यालय में जाकर सामूहिक रूप से विरोध प्रकट करके कहें कि ऐसे अनैतिक उम्मीदवार को हम मत नहीं देंगे।

(२) यदि आप किसी पक्ष में नहीं हैं और किसी भी वर्तमान राजनैतिक पक्ष में आपका विश्वास न हो तो, अपने समान विचार वाले सज्जनों को एकत्र एकजुट करके अपना अपक्ष उम्मीदवार खड़ा करें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) चुनावों के समय आप उदासीन और अपने में ही केन्द्रित अलग-थलग न रहें। अपने-अपने क्षेत्र का एक लोकतन्त्र-प्रहरी दल बनायें। गुजरात-बिरादरी इसमें मदद करेगी। वह प्रहरी दल चुनाव के दिन मतदान केन्द्रों पर निगरानी रखे, और लोक-बल से व्यवस्था रखे कि वहाँ 'बोगस' मतदान न हो, झूठे-जाली 'वोट' न डाले जायें, मतपेटियों की चोरी न हो, मतदाता लोगों को डरा-धमका कर मत छीने न जायें, या भगाया न जाय।

ऐसे ही सब काम गुजरात-बिरादरी करती है।

आपका प्रश्न है कि इन कार्यकर्त्ताओं में झगड़े-मनमुटाव और अन्य समस्यायें पैदा हों तो क्या किया जाता है ? इस पर कहूँ—तो पहली बात यह है कि ये काम धनाधारित नहीं, कोई वेतन-भोगी कार्यकर्त्ता नहीं, सब स्वयं अपनी आजीविका-व्यवस्था ईमानदारी से करने के बाद शेष समय स्वेच्छा से समाज-सेवा में सहर्ष देने वाले स्वयंसेवक हैं। गुजरात-बिरादरी की ही मूल में कार्यवाहिका-पूँजी यदि है तो आठ-दस हजार है। गुजरात-बिरादरी 'बिरादर' नाम से एक गुजराती मासिक प्रकाशित करती है। जीवनयोग फाउन्डेशन 'जीवन योग' नाम से गुजराती (जो अब बन्द कर दिया गया हैं) 'जीवन परिमल' नाम से हिन्दी और 'The Invincible' नाम से अंग्रेजी त्रैमासिक पत्रिका चलाता रहा है; (जीवन परिमल अब क्रमिक-पुस्तक-मालिका रूप से चलता है।) हमारा मन्त्र है सख्य-मूलक सहयोग-परायण सहजीवन। हमारा कोई विधिवत् पृथक् कार्यालय नहीं, घर का ही एक कमरा इन कामों के लिये रहता है। सब लोग मिलकर कुछ समय यह सब काम करते हैं, बाकी समय में अपना-अपना जीवन सम्हालते हैं। सभी मित्र व साथी सत्सङ्गी-साधनेच्छु-जिज्ञासु लोग हैं जो अनेकों ध्यान-शिबिरों में रह चुके हैं, सत्सङ्ग-ध्यान शिविर आयोजित कर चुके हैं, चेतना के नये आयाम के परिचय और उसमें जीने की आकांक्षा रखते हैं, वे अपनी सुविधानुसार इन समाजसेवी-कार्यों के लिये समय व सहायता देते हैं। उन सबको मैं कहती रहती हूँ कि स्वान्तःसुखाय सत्कार्य अवश्य करो, लेकिन वह कार्य तुम्हें ग्रस न ले, उपाधि (आफ़त) न बन जाय। जब भी इस कार्य का भार महसूस होने लगे तब न करना। यह कर्म तुम्हारी साधना बने।...

यह सब करते हुए कभी भी इन साथियों में आपस में झंझट खड़े न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होते हों ऐसा नहीं; पर सबको साथ रखने वाला एक सूत्र है जीवन साधना की अभीप्सा; इसलिये थोड़े-बहुत झंझट होने पर भी उनका परिणाम अधिक कुछ नहीं हो पाता। थोड़ा समय मन-मुटाव होने पर भी फिर अपने लक्ष्य के स्मरण से पश्चात्ताप होता है। तब परस्पर माफ़ी भी माँग ली जाती है। और फिर से काम में लग जाते हैं। इस प्रकार यह जनाधारित काम है, धनाधारित नहीं। यह मेरा एक प्रयोग है—Collective work without a very stiff organisalion, without hierarchy, without employer-employee relationship. किसी भी कड़े औपचारिक संगठन और नेतृत्व के स्तर क्रम के बिना, वेतन दाता और वेतन भोगी के नाते बिना सख्य-सहयोग-स्वान्तःसुख के लिये सामुदायिक कर्मयज्ञ का। यहाँ भारत में ही नहीं, विदेशों में भी हमारा काम इसी तरह चलता है। 'Friends of Vimala' ऐसे नाम से मित्र-समुदाय मिलकर शिबिरों का आयोजन, उन शिबिरों में हुए प्रवचनों-प्रश्नोत्तरों-विशेष व्याख्यानों को लिखना-प्रकाशित करना, Newsletters और त्रैमासिक या छमाही पत्रिका निकालना इत्यादि वे मिल-जुलकर करते रहते हैं। वहाँ भी कोई पृथक् कार्यालय, कार्यकर्त्ता, प्रचारक आदि नहीं हैं। व्यक्तियों के परस्पर सम्पर्क से ही सब होता है, बहुत छोटे पैमाने पर होता है।

इधर कुछ महीनों से अवश्य वहाँ भी कुछ उल्लेखनीय कार्य होने लगा है, वह कहती हूँ। यहाँ अपने देश में राजनैतिक क्षेत्र में बहुत-सी 'तिराड़ें' पड़ी हैं, गांधी-निष्ठ परिवार में भी सर्वोदय समाज, सर्व सेवासंघ, विनोबा प्रवण, जे० पी० प्रवण, फिर इनमें भी अनेकों गुट बन गये। उन सभी गाँधी-जनों को परस्पर मिलकर एक मंच पर आने की जरूरत देश को महसूस हुई, इसलिये सभी गुटों व पक्षों से निरपेक्ष स्वतन्त्र व्यक्ति—यह आपकी विमला बहन मिली जिससे सलाह लेने में किसी को एतराज न हो। इसी नाते गुजरात के गाँधीजनों ने मुझे बुलाया; देश भर के तथा गुजरात के भी जो लोग सन्निष्ठ कर्मप्रवण होने पर भी अस्मिताओं के टकराव से एक साथ उठ बैठ नहीं सकते थे, वे एकत्र आए और 'गुजरात लोकशाही मंच' बनाया। खादी-ग्रामोद्योग में काम करने वाले लोगों में कोई भा० ज० पा० में हैं, कोई कांग्रेस में हैं, कोई जनता दल में; वे सब इस गुज० लोक० मंच के लिए एकत्र आगे आये। यह मंच गुजरात के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रायः सभी समाजसेवी लोगों का प्रतिनिधित्व करता हे। इसी मंच ने फिर यह प्रयत्न प्रारम्भ किया कि राजनैतिक पक्षों के सदस्य और जिन लोगों को किसी भी राज-पक्ष में निष्ठा नहीं है वे, परस्पर किस प्रकार सहयोग करें, अपक्ष मुक्तजन उम्मीदवार कैसे खड़े किये जायें। ये जन-प्रतिनिधि चुने जाने के बाद भी किसी पक्ष में शामिल नहीं होंगे। संमिलित मन्त्रिमण्डल में भी नहीं जायेंगे, सरकारें तोड़ना और गढ़ना उनका काम नहीं है। किन्तु—A moral influence and a voice of the consensus of Gujrat will be represented inside the legislature by them.....

इस तरह गुजरात में एक लोकमानस तैयार होने लगा है कि जो लोग पक्षीय राजनीति से बाहर हैं, वे सत्ताधारी पक्ष और विरोधी पक्षों पर नैतिक दबाव ला सकते हैं। ऐसे इस लोकशाही मंच के मार्गदर्शन का काम मुझे करना होता है। और भी एक राष्ट्रीय स्तर का कार्य वरिष्ठ चिन्तक एवं कर्मनिष्ठ लोग मिलकर करने जा रहे हैं—National Resurgence राष्ट्रीय नवनिर्माण नाम से काम चल रहा है। वे भी अपनी राष्ट्रीय स्तर की 'पैनल' की बैठक में मुझे बुलाते हैं, सलाह पूछते हैं। जो बुलाये, सलाह माँगे, वहाँ मैं जाती हूँ। यह मेरा आपद्धर्म है; और मेरा स्वधर्म है वह बोलना जिसके लिये आप ये शिविर रखते हैं। परन्तु देश की स्थिति इतनी गम्भीर होते हुए मैं केवल ध्यान-मौन-समाधि की ही बातें करूँ यह उचित नहीं लगता। ध्यान की भूमिका से देश की समस्याओं का क्या स्वरूप दिखता है, किस तरह इनका हल संभाव्य प्रतीत होता है—वह कहूँ नहीं तो मुझे लगता है कि यह राष्ट्रद्रोह है। अध्यात्म जीवन-विमुख हो, जीवनरसिक न हो, मानवपरायण न हो तो ऐसे अध्यात्म से भगवान् इस देश को बचायें।

सहजीवन और सहकर्म के लिये विनोबा ने एक मन्त्र दिया हुआ है कि समाज-सेवा के लिये उत्साह पूर्वक लगे लोग एक पथ्य पालें कि पर-निन्दा और आत्मश्लाघा न करें। वही मैं सब सत्संगी-भाई-बहनों से कहती हूँ कि दूसरों के गुण देखो, अपने दोष परखो। अपने भी दोष देखकर आत्मग्लानि में न जाओ, दूसरों के गुण देखकर ईर्ष्या न करो। दोष और गुण दोनों देह व मन के स्तर के हैं, इनमें उलझो नहीं।....When the call comes, respond to it. जो चुनौती सामने आये उसको

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिसाद देने भर के लिये हम बचे हैं। अपना कोई संकल्प नहीं, कोई संस्था-संगठन नहीं, किसी को बैठा कर कभी दीक्षा नहीं दी। पर यदि किसी ने बुलाया तो मना भी नहीं किया। "नहीं, नहीं, मेरी योग्यता नहीं, मेरा अधिकार नहीं...." ऐसा अयोग्यता का अहंकार क्यों रखना? लघुता-ग्रन्थि भी अहंकार का ही एक भयंकर रूप है। हमने इच्छा नहीं की फिर भी यदि कोई कार्य सामने आ खड़ा हुआ हो तो उसे यथाशक्ति प्रतिसाद देना अपना स्वधर्म है। सफलता हो तो कृष्णार्पण और असफल हो जायें तो खोजने का अवसर मिलता है कि क्या भूल हुई?

Faliure is the greatest teacher. Nothing teaches you the secret of health like sicknesses and illnesses, सीखना आना चाहिये। जीवन जीने का कर्म और गति सीखते चलने में ही है। सीखने की इच्छा मन में हो। सीखने की तत्परता इन्द्रियों में हो, सीखने की उन्मुखता बुद्धि में हो—ये तीनों होना ही शिष्यत्व है। ऐसा शिष्यत्व जहाँ हो वहाँ से दूर नहीं रहते गुरु। मार्ग दिखाने वाले, करुणापूर्वक मार्ग पर चला देने वाले गुरु शिष्य के निकट अवश्य आते हैं। पर शिष्यत्व के बिना ही गुरु खोजने की दौड़भाग व्यर्थ ही नहीं अनर्थकारी होती है।

•

....ये न भाषण हैं, न प्रवचन, ये हैं जिज्ञासुओं के प्रश्नों के प्रतिसाद में 'जिज्ञासा' को दिये गये उत्तर। 'जिज्ञासु' को उत्तर देने के लिये अधिकार अपेक्षित होता है। मैंने 'गुरु' पद धारण किया नहीं; आप सबकी सुहृद मित्र होने के नाते ही यहाँ बैठकर आप के प्रश्नों पर सहचिन्तन करते हुए जो कुछ मेरी समझ में आता है वह अपनी योग्यता-अयोग्यता का विचार किये बिना मुक्तभाव से कह देती हूँ।....

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

- आत्मपरिचय पूरा होने के बाद ही फिर आप जिसे 'समाज', 'देश', 'राष्ट्र' कहते हैं उनकी समस्यायें देखने और छूने के हम अधिकारी बन सकेंगे।
- चौबीस घंटे जिसके चित्त पर तनाव है, दबावों का आक्रमण है, वे अपने जीवन की यथार्थता को तो देख नहीं पाते, अपनी समस्या सुलझा नहीं पाते, तो समाज की-देश की-विश्व की समस्याओं को कैसे सुलझा पायेंगे ? उपाय क्या ढूँढेंगे ?
- आज कोई भी समस्या केवल आर्थिक, शैक्षणिक, राजनैतिक नहीं, और किसी एक देश या समाज की नहीं। सब समस्यायें विश्वव्यापक हैं, क्योंकि उनकी जड़ें व्यक्तिचेतना में धँसे संघर्ष में हैं।
- समाधान के उपायों की कमी नहीं, कमी है स्वस्थ मानवों की, जो उन्हें अमल में लाये, जिनमें गम्भीरता, सन्तुलन, स्वास्थ्य धारण करने की शक्ति हो।
- उन्मुखता और संवेदनशीलता का व्यक्ति की समग्रता में स्पन्दित होना ही प्रेम है। वही मनुष्य-जीवन का गति-तत्त्व है।
- प्रेमहीन जीवन शुष्क, रूखा-सूखा होता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग को, अणु-रेणु को प्रेम से ओत-प्रोत होने देने में ही जीवन की सार्थकता है।
- प्रेम यानी जीवन की प्रयासरहित गति। एक नयी ऊर्जा, एक नयी प्रज्ञा भीतर जाग उठती है। उसके आलोक में कर्म अपने आप होते रहते हैं। वहाँ कर्मों द्वारा कुछ पाने का प्रयोजन नहीं रहता। जीवित रहने और कर्म का माध्यम बनने में ही सन्तृप्ति है।
- प्रेम की परिपूर्ति अभिव्यक्ति में है, जिज्ञासा की परिपूर्ति सत्यशोधन में।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग

तरुण-पीढ़ी-विषयक
(पारिवारिक-साधना)

प्रश्न—There is always a tussel and argument in our grownup children aged between 20-28 years and we elders aged 50-60 years. We always feel that they are bocoming way wards and do not respect the feelings of eldors. We elders many a time loose our temper. Now we like to control our tempor. How do we do it ?

(हमारे परिवार में तरुण युवक हैं २० से २८ के बीच उम्र के, और हम बड़े लोग हैं ५०-६० के बीच के; हम दोनों में पीढ़ी का अन्तर आ गया है। हमें लगता है कि यह युवा लोग कुछ अपने रास्ते से भटक रहे हैं, बड़ों का आदर-सम्मान उनके चित्त में रहा नहीं है; तो फिर कभी-कभी हम धीरज खो बैठते हैं, कुछ खीझ जाते हैं, गुस्सा आता है। इस गुस्से पर हम काबू पाना चाहते हैं; तो क्या करें ?)

उत्तर—अहोभाग्य है उन युवकों का जिनके बड़ों के चित्त में ऐसा प्रश्न उठा कि हम क्या करें ? यह नहीं पूछा इन्होंने कि भटक गये हुए बच्चों के प्रति क्या किया जाय ? बल्कि पूछा कि "हम स्वयं पर नियन्त्रण कैसे रखें कि भान न गवाँयें, धीरज न खो बैठें ?" इससे पूछने वालों की परिपक्वता सूचित होती है। बहुत सुन्दर मानस है। It shows their psychological maturity which obliges them to question the validity of loosing temper. That is beautiful.

आज हम जो ५०-६०-७० के लोग हैं और पूरा जो समाज में जीवन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है यह किसी भी युवक को दिशाहीन, लक्ष्यहीन बनाने के लिये असमञ्जस में डालने के लिये पर्याप्त है। To confuse to confound the young mind ! आज देश में, समाज में, परिवार में, बाज़ार में सर्वत्र विश्वसनीयता संकट में पड़ी है (crisis of credibility) between the parents and the children, the husbands and the wifes, the leader's and their followers, the techers and their students. It is an all-round crises of credibelity, crisis of confidence, crisis of character !

इसका सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक रूप कुछ भी आप देखें, असल में, जड़ में यह एक सङ्कट है। किशोर-तरुण-युवक विद्यालयों-महाविद्यालयों में जाते हैं तो शिक्षकों की व्यवसायी-व्यापारी दृष्टि-वृत्ति देखते हैं। Trade unionism शिक्षकों में फैल गया है। धर्मस्थानों को देखते हैं तो वहाँ भी व्यापारीकरण साफ़ नजर आता है। वे देखते हैं पुलिस को, असामाजिक तत्त्वों को, वे देखते हैं देश के नेताओं को, और नागरिक जीवन में भरे अपराधीकरण को देखते हैं। सब तरफ़ चेतना का अपराधीकरण देखते-देखते वे बड़े हो रहे हैं। इसलिये किसी के प्रति आदर-सन्मान की भावना उनमें नहीं रह जाती। भीतर एक कटुता है। असमञ्जस है, अनिश्चितता का भय है। अपना भविष्य इस समाज में हम किस प्रकार बनायेंगे—यह उनकी समझ में नहीं आता। इसके कारण एक कटुता चित्त में बनी हुई है। उसके कारण वे भटके-से दिखते हैं। आपने तो केवल भटक जाने का ही उल्लेख किया है। पर यह इससे भी आगे—The young generation is getting drug-adicted to very great extent, in uppermiddle class and the affluent sector of the society. दिल दहल उठता है सुनकर। तीन वर्ष पहले की बात है तब कलकत्ता में नशे के शिकार एवं नशाखोर युवकों की संख्या सात लाख अड़सठ हजार थी। बम्बई में कितनी संख्या होगी आप कल्पना कर सकते हैं। अहमदाबाद में ही तीन लाख चालीस हजार संख्या थी। ये सब तथाकथित अच्छे घरों के पढ़ने-लिखने वाले लड़के-लड़कियाँ हैं।

जीवन के अपराधीकरण में जो सार्वत्रिक भ्रष्टाचार ये लोग देखते हैं कि रिश्वत दिये बिना कोई काम होता नहीं है; रिश्वत—ले-देकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोग करोड़ोंपति बनते हैं, evading the taxation, blackmarketing इत्यादि सब वे देखते हैं। राजनीति को भी येन-केन-प्रकारेण पैसा कमाने का साधन बनाया है—यह भी वे देखते हैं। ऐसे लोगों को उनके विद्यालयों में, विशेष समारोहों में, वार्षिकोत्सवों में मुख्य अतिथि रूप में बुलाया जाता है, यह भी वे देखते हैं। उनके थाथे भाषण बच्चों को सुनने पड़ते हैं। फिर कैसे हम आशा रखें कि नई पीढ़ी में बड़ों के प्रति सन्मान की भावना हो।

अपने घर में इसी कटुता का, अविश्वास का विस्फोट होता है। हम व्यक्तिश: वैसे भले ही न हों, हमारा समाज तो वही है न ! और हमारा कुछ न कुछ अंश तो उसमें शरीक है ही। जहाँ तक पाप करने का दुस्साहस किसी में है वहाँ तक हम भी ग़लत काम कर ही लेते हैं, बड़े नहीं तो छोटे सही। सामाजिक-नैतिक अपराध हमसे भी तो हो जाते हैं। इसलिये बच्चों में कटुता, अविश्वास और जीवन की अनिश्चितता के कारण जो suspence या असुरक्षाभाव है—उस बोझ तनाव और श्रम का वर्णन नहीं किया जा सकता। अत: बच्चों के व्यवहार में जो विस्फोट होता है, उसका कारण हम भली-भाँति समझ लें कि उसमें परिस्थिति कितनी जिम्मेवार है।

दूसरी बात, यदि लक्ष्यहीन उद्दण्डता है, क्रान्तिकारिता नहीं है, उनके चित्त में बस अन्धा प्रतिकार है (blindrejection) है, तो अपने सामने वह प्रकट होने पर कहना चाहिये बड़ों को उन्हें कि "बच्चो ! अगर हमारे साथ जीना है तो इस मर्यादा में जीना होगा, इस शैली में जीना होगा। अपने परिवार में व्यवहार की यह पद्धति है; यदि तुम लोगों को स्वच्छन्दता से उद्दण्ड तरीके से ही जीना है तो पृथक् स्वतन्त्र रह कर वैसा भले जी लीजिये, फिर हमसे पूरा-पूरा साथ देने की आशा मत रखिये, लेकिन अगर हम सबके साथ रहना और सही ढंग से जीना है तो यह स्वच्छन्दता, अनाचार (cheotic indesciplined, anarchic) से कदरूप जीना नहीं चलेगा।" उन्हें प्रेम से समझायें कि "हमारे साथ रहना है तो इस ढंग से रहना होगा। आपको अपनी पद्धति से गैर ज़िम्मेवारी से जीना है तो आप अपना रास्ता बनाइये उसमें मदद दे देंगे, आप अपना जीवन बनाइये।"— यह कहना पड़ेगा। उनके व्यवहार में संरक्षण न मिले। उद्दण्डता का प्रतिकार प्रेममय होना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Responsive-non-co-operation, with the meaningless arrogance, with the cheotic indesciplined way of living-should be there.

इतनी दृढ़ता यदि बड़ों के चित्त में हो तो वे temper loose नहीं करेंगे। क्योंकि प्रतिक्रिया से और प्रतिक्रिया सामने आयेगी। क्रिया-प्रतिक्रिया का विषचक्र चलता ही रहेगा। उसमें फिर सम्बन्ध बिगड़ सकते हैं। वह नहीं होना चाहिये।

प्रश्न—आज के समाज में तरुण पीढ़ी के चित्त में यह कैसे पैठाया जाय कि मनुष्य जीवन का ध्येय आत्मोन्नति है। धर्म और ईश्वर का जीवन में महत्त्व है—यह उन्हें कैसे समझाया जाय ?

उत्तर—भाई, यह समझा देने वाला कौन है ? जिसने अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग आत्मोन्नति के लिये किया हो, वही तो समझा सकने की स्थिति में होगा न ! धर्म-अध्यात्म का सम्बन्ध स्वयं समझते हुए, ईश्वर या परम तत्त्व-सत्ता के रहस्य का जिसे प्रतिपल अनुसन्धान हो एवं निज जीवन में वह अनुबन्ध सतत जी रहा हो, वही यह समझा सकेगा न ! कोरे शब्दों से यह समझाया नहीं जा सकता, शब्द बड़े पङ्गु हैं, उनका उपयोग करना पड़ता है अवश्य, किन्तु किसी को कुछ समझा दे सकने की शक्ति केवल जीवन में है। जिन शब्दों के पीछे केवल बुद्धि की निष्ठा है, जीवन की शक्ति नहीं, उन शब्दों द्वारा कोई भी अर्थ या भाव संक्रान्त नहीं होता। कुछ संक्रान्त करने के लिये शब्दों के पीछे तप रहना चाहिये। आत्मोन्नति के लिये जीना तप है। आत्मसत्ता से सतत-सन्धान साधे हुए दैनिक सम्बन्धों में यथाप्राप्त चुनौतियों का सामना करते हुए स्वस्थ-सन्तुलित-सम-सुषम-समग्र जीवन जीना बहुत कठिन (दुस्साध्य) भारी तप है। वैसे तपस्वी यदि हम हों, उस परम सत्ता से सतत अनुसन्धान सधा होने के नाते उसी से अनुप्राणित हमारी काया हो (vibrating with the awareness of divine and the divinity of life) तो वह काया ही दशेन्द्रियों से बोलने लगेगी। वाणी से उपदेश न देते हुए भी, जो संक्रान्त करना है वह होता रहेगा। जीवन-अध्यात्म संक्रान्त होना शब्दों का विषय नहीं है। शब्दों के साथ, हृदय में निहित भक्ति-श्रद्धा और प्रतिपल जिये जाते हुए अध्यात्म का, परम-तत्त्व के सतत अनुसन्धान का, दशेन्द्रियों में से झरने वाली अनुभूति का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रस आना चाहिये। "अनुभव बिना शब्द न बोलो, अनुभव बिना गर्दन न हिलाओ।"—सन्तजन कह गये हैं। ज्ञान ज्योति अपने भीतर प्रज्ज्वलित हो तो उसका जो प्रकाश दशेन्द्रियों से होने वाले व्यवहार-झरोखे से निकलता होगा वह शब्दों के विना ही उपदेश होगा जो अनायास संक्रान्त होगा आस-पास के जीवन में। इसलिये, समझाने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिये।

दूसरी बात, तरुण पीढ़ी क्यों धर्म जीये ? क्यों आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हो ? क्यों ईश्वर या आत्मा-परमात्मा के महत्त्व की बातें कहे-सुने ? आत्मोन्नति को ध्येय वह कैसे माने ? जब कि इस देश के राजनैतिक नेता, सत्ताधारी, विभिन्न कार्यभार सम्हालने के लिये नियुक्त पदाधिकारी तथा कर्मचारी, विद्यालयों-महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों के शिक्षक, आचार्य, शिक्षणकर्मी, शिक्षाविद्, साहित्यिक लेखक व कवि, विभिन्न स्तरों की समाजसेवी संस्थाओं के संचालक व कार्यवाहक, यहाँ तक कि मन्दिरों-मठों-'देरासरों'-गुरुद्वारों-मस्जिदों आदि प्रकट धर्मसंस्थानों के 'कर्ता-धर्ता' लोग एवं धर्मगुरु-स्थानीय व्यक्ति भी उत्तान भोगवाद में डूबे हुए, स्वार्थसिद्धि को ही सर्वोपरि मान कर मानवीय जीवनमूल्यों की परवाह न करने वाले सामने हैं। सारे देश का, जीवन की सभी दिशाओं एवं स्तरों का वातावरण सबने मिलकर इतना दूषित किया हुआ है, तब तरुणों से कैसे आशा की जाय कि वे धर्म-अध्यात्म या आत्मोन्नति को अपना ध्येय बनायें। इस देश में सच्चे धर्म एवं आत्मोन्नति को जीवन का लक्ष्य प्रतिष्ठित करना हो तो सबसे पहले सभी राजनैतिक अधिकारियों व कार्यवाहकों को देश से निकाल बाहर करना चाहिये; अण्डमान-निकोबार या अन्यत्र कहीं 'कालेपानी' भेज कर मज़दूरी करने लगाना चाहिये। मेरी बात बहुत कठोर प्रतीत होगी, किन्तु सच ही भयानक विदारक परिस्थिति है। राजनेताओं को ही नहीं, तथाकथित 'धर्मगुरु' बने बैठे हुए, पर भीतर पाखण्ड व दम्भ का आचरण करने वाले, और जन सामान्य को डरपोक-कायर बनाने वाले, पाखण्ड या ढोंग सिखाने वाले, या तो धर्मशास्त्रों की आड़ में जनता का शोषण करने वाले पुरोहित लोगों को भी मालद्वीप-लक्षद्वीप जैसे किन्हीं सुदूर स्थानों पर भेज देना चाहिये। नियतिवाद, प्रारब्धवाद का प्रचार करने वाले ऐसे लोग चारों ओर भरे हों—तो घरों में रहते निरीह किशोरों-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तरुणों युवकों को धर्म-अध्यात्म-ईश्वर-आत्मोन्नति आदि की बातें कैसे कही सिखाई जाँय ! Proliferation of consumer goods is the essence of our economy. उपभोग की नित्य नई-नई तरह-तरह की वस्तुओं को बढ़ाते रहना, प्रचुर मात्रा में उत्पादन और अधिकाधिक उपभोग की वृत्ति उकसाना तो हमारे अर्थतन्त्र की नीति का सार है, तब नई पोढ़ी को सादगी कैसे सिखाई जाय ?

मेरे भारत की नई पीढ़ी की नाड़ी तो सुदृढ़ व स्वस्थ है, उनमें कुछ भी बिगाड़ नहीं है, बिगड़े हुए हैं हम बड़े लोग, अभिभावक लोग। जिस तरह हम परिवार, समाज और देश को चला रहे हैं उसमें बिगाड़ ही बिगाड़ भरा है; विकृति एवं समस्या से ग्रस्त, भ्रष्ट ग़लत राहों में भटके हुए हम हैं, बच्चे नहीं। इसलिये समझाने की जरूरत हमें खुद को ही है। जो जीवन हम बच्चों में देखना चाहते हैं वैसा स्वयं जीने लगें तो बच्चों में वह अनायास संक्रान्त होगा ही। घर में जब उच्छृंखल भोगवाद, बीभत्स प्रदर्शन और भ्रष्टाचार चलता रहे तो तरुण पीढ़ी को आत्मोन्नति-ध्येय की बात कहना विडम्बना और उपहास की ही बात होगी। यह तो उनकी अन्तःप्रज्ञा का अपमान करना होगा।

मैंने कहाँ से सीखीं धर्म-अध्यात्म-ईश्वर-आत्मोन्नति की बातें ? मेरे नानाजी ब्राह्ममुहूर्त से पहले, सुबह साढ़े तीन उठते थे; स्नान आदि करके अपने मन्दिर में बैठते, जप-ध्यान-पूजन-अर्चा-पाठ सब करते। छत्तीसगढ़ का अपना जागीरी का कारोबार सम्भालते थे, हाईकोर्ट में एड्वोकेट थे, वह कार्य भी सम्भालते थे, तव भी रात्रि आठ से प्रातः आठ बजे तक "अज्ञात से प्रणय" (Romance with the unknown) उनका आजीवन चालू ही रहा।""एक बार रात में घर में भारी चोरी हो गयी, हजारों (आज के हिसाब से लाखों) का कीमती सामान (आभूषण, सोना चाँदी) चोरी चला गया। सुबह पूजा से उठने पर जब उन्हें मालूम हुआ कि ऐसी चोरी हो गयी है और हमारे मामा ने पुलिस में रिपोर्ट लिखाई है, तब बेटे से वे बोले—"अरे रामप्यारे ! (नाना सभी को यही सम्बोधन करते थे, अपने परिवार-कुटुम्ब का व्यक्ति हो या सेवक, सहायक, अतिथि, आगन्तुक कोई भी हो, पुरुष हो तो 'रामप्यारे !' स्त्री हो तो 'रामप्यारी !!') यह आपने क्या किया ? किसी को चोरी करना क्या अच्छा लगता है ? आपको अगर कोई कहे कि 'काले कपड़े पहन कर, मुँह ढँक कर, आधी रात में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहीं घुस कर चोरी कर लाओ' तो क्या आप करोगे ? हमने परिग्रह किया है, उसके पास कुछ नहीं, इसलिये वह चोरी करने आया। जाओ ! रिपोर्ट वापस ले लो !''....मैं तब आठ वर्ष की थी। तब से यही सुना कि हम परिग्रह करते हैं, इसलिये चोर चोरी करते हैं। यह अर्थतन्त्र नाना के यहाँ और पिताजी द्वारा भी जिया जाता हुआ देखा। घर में प्रतिदिन सुबह पाँच बजे माँ और पिताजी हाथचक्की पर आटा पीसने बैठते। रोज के ताजे आटे को रोटी खाई जाय, बाहर (होटल आदि का बना हुआ) कुछ न खाया जाय, असत्य क़तई बोला न जाय। हम बच्चों में से कोई भी कभी झूठ बोल जाता तो हमारे माँ-पिता एक दिन उपवास रखते, शुद्धि के लिये; हम पूछते कि आप भोजन क्यों नहीं कर रहे हैं ? तब बता देते कि तुम लोगों को झूठ बोलने की सूझी यह हमारा ही दोष होगा, उसके लिये। यह जान कर फिर बच्चों को कभी झूठ बोलने की वृत्ति न होती। इस तरह वे दैनिक जीवन में धर्म जीते रहे। धर्म-अध्यात्म प्रत्येक व्यवहार में जिया जाता है, वह केवल कल्पना-विलास या वाणी का श्रृंगार नहीं—ऐसा हमने बचपन से घर के वातावरण में सहज जिया जाता हुआ देखते हुए सीखा। नगद जीवन में से ही अध्यात्म-धर्म संक्रान्त होता है।

फिर वैसा (परिवार जैसा) ही घनिष्ठ सम्पर्क आया दादा धर्माधिकारी जी से। उनका बहुत भारी संयुक्त कुटुम्ब बड़े घराने का था। महात्मा गाँधीजी के कहने से नवयुवक 'दादा' घराने व कुटुम्ब की धारा से अलग होकर देश-कार्य में आये। विशेष अध्ययन के लिये विदेश जाने का अवसर (परिवार द्वारा दिया गया) छोड़ कर, गाँधी जी के आदेशानुसार राष्ट्रीय शाला में (पैंतीस रुपये मासिक पर) अध्यापक बने; दो रुपये मासिक क़िराये के एक टीन-शेड वाले कमरे में रहते थे। सार्वजनिक नल पर नहा लेते; कन्धे पर अनाज का झोला उठा कर दूर चक्की से आटा पिसा कर लाते....कैसे-कैसे कष्ट सह कर देश-कार्य करते हुए स्वाधीनता-संग्राम पूरा हुआ। हिंसा पर अहिंसा की विजय का और एक दृष्टान्त मैंने दादा के ही जीवन में स्वयं देखा। मध्यप्रदेश का एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक निर्णय होने वाला था। कुछ प्रतिद्वन्द्वी लोग दादा को अपने रास्ते से हटाना चाहते थे। नागपुर में दादा अपने निवास पर थे। उन्हें मारने के लिये क़िसी गुण्डे को तय किया गया है—यह बात किसी प्रकार दादा को मालूम पड़ी होगी। एक बार रात के बारह बजे देखा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गया कि दादा अपने बिस्तर पर नहीं हैं; तुरन्त चारों तरफ खोज मची, दूर-दूर फ़ोन करके पूछा गया; कुछ मालूम न पड़ा, उधर दादा तीन मील पैदल चलकर पहुँचे थे उसी कुख्यात अपराधकर्मी के घर; उसका द्वार खटखटाया। द्वार खोला तो दादा अकेले सामने खड़े हैं, वह चकित रह गया। बड़े प्रेम से दादा ने कहा "तुम्हें तकलीफ़ न हो इसलिये मैं यहीं चला आया; यह पत्र भी लिख लाया हूँ कि स्वेच्छा से प्राण-विसर्जन कर रहा हूँ, इसे रख लो और चलो चाहे जहाँ मुझे ले जाकर अपना काम पूरा कर लो।"—उसकी आँखें झरने लगीं, दादा के पाँवों पर गिर पड़ा। फिर उसे शान्त करके, मित्र व सहयोगी बना कर दादा उसे साथ लिये प्रभात से पहले ही घर पहुँच गये।

मुझे यही कहना है कि यदि आपको लगता हो कि अपनी तरुण पीढ़ी में मानव-धर्म संक्रान्त हो (ईश्वर-आत्मा-अध्यात्म की बात जाने दें कम से कम) मानवोचित रीति से जीना और साथी मनुष्यों, प्राणियों तथा सामने की सृष्टि से सम्बन्ध व व्यवहार करना तरुण पीढ़ी को आना चाहिये, तो स्वयं आचरण करते हुए ही उन्हें कहें कि मनन किये विना, सोचे-समझे बिना कुछ न करें और समझ-बूझ कर जो कदम उठाया हो—उसका जो परिणाम आये उसे धीर-गम्भीर भाव से ग्रहण व स्वीकार करो, उससे भागो नहीं। पलायन में जीवन नहीं है। ग़लत समझ के कारण ठोकर लगे तो उसे भी हँसते हुए सहन करो। भारतीय संस्कृति जीवन-परायण है, पूरा जीवन समग्रता से जीना सिखाती है। तुम्हें जो सत्य समझ में आता हो उस पर तुम चलो, उसमें यदि कष्ट सहना पड़े, अपयश-असफलता आये तो घबराओ नहीं, यश-अपयश की तराजू से जीवन की कीमत नहीं आंकी जाती। तुम्हें जो सत्य समझ में आया उसे तुम जी गये हो तो बस उसी में कृतार्थता है।

"मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्"

(बहुत देर तक धुंधुंआते रहने की बजाय क्षण भर जल लेना अच्छा है।)

दूसरों की नकल करते-करते उनकी उतरन जैसी बासी-तिबासी (secondhand, thirdhand) ज़िन्दगी न जियो। तुम ही अपने गुरु और तुम ही अपने विद्यार्थी बनो।

(प्रसङ्गवश अपने बचपन की बातें, अपने माता-पिता-नानाजी की बातें सुनाती हूँ इसे आत्मश्लाघा न मानें, पर प्रत्यक्ष उदाहरण आपके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामने रखती हूँ) मैं सात-आठ वर्ष की थी तभी कहने लगी थी कि "मेरा जीवन ईश्वरार्पण है; इस दिखाई देती सृष्टि के पीछे जो 'देव' है, जो ईश्वर है, उसे देखना है, मुझे उसी के साथ जीना है, इस दुनिया के साथ मुझे नहीं जीना है।"—ऐसा-ऐसा कहती रहती थी। तब एक दिन पिताजी ने मुझे सामने बैठा कर कहा (वे Indian Rationalist Association के secretary थे, विलक्षण बुद्धिनिष्ठ व्यक्ति थे)—"तुझे जो भी साधना करनी हो, ईश्वरार्पण जीवन जीना हो, वैसा जियो, हम कोई बाधा नहीं डालेंगे, जो मदद कर सकेंगे वह करेंगे, लेकिन हमारी एक बात मान लो कि कभी भी किसी व्यक्ति को 'गुरु' न बनाना। 'गुरु' तत्त्व है, स्वयं परमात्मा ही गुरु हैं और वह तत्त्व स्वयं तुम्हारे भीतर है Life is the master जीवन ही शिक्षक है। अपनी बुद्धि कभी बेचना नहीं। जहाँ बुद्धि थकेगी वहाँ परमात्मा के प्रति श्रद्धा-प्रणति काम करेगी। जीवन-विभु ही गुरु है, वही भीतर से तेरा हाथ पकड़ कर तुझे सिखायेगा, मार्ग सुझायेगा, चलने की क्षमता विकसायेगा।"

ऐसा क्या कोई समझाता व सिखाता है बच्चों को ? अपनी समझ से चलने की प्रेरणा देना, और कभी कहीं ठोकर खा जाय तो फिर उठ खड़े होने में मदद करना यह बड़ों का धर्म है, वह कोई करता है क्या ? बहुत हुआ तो कोरे शब्दों में कुछ चेतावनी दे देंगे, उस पर न चलने से किसी को ठोकर लगे तो मदद करने की बजाय उलटे ताना देंगे कि "मैंने कहा था, तूने नहीं सुना, अब अपनी करनी का फल भोग !"... बच्चों को ऐसे ढंग से समझाना-सिखाना चाहिये कि उनके चित्त में अपने प्रति विश्वास, निष्ठा बढ़े, उनमें आत्मश्रद्धा विकसित हो।

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः"

ऐसे आत्मश्रद्धा-सम्पन्न, सत्यनिष्ठ, जीवननिष्ठ, अपनी समझ पर चलने में साहसी बच्चों को बनने दें, तो मानवधर्म जीने लगेगा इस धरती पर।

तरुण-पीढ़ी को बस यही कहिये—"मनुष्य होकर, मानव के नाते जियो !" समस्त भूमण्डल के लिये मानव-धर्म एक ही है, जातियाँ भिन्न-भिन्न हैं, उपासना-पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। कोई मन्दिर बनाकर प्रभु-विग्रह की पूजा करता है. कोई मस्जिद और घर में पाँच बार नमाज पढ़ता है, काई गिरजे में बाइबल पढ़ता और प्रार्थना करता है, कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुरुद्वारे में गुरु-वाणी गाता-सुनता-सेवा करता है, कोई अगियारी में तेजस् तत्त्व की आराधना करता है, तो कोई बुद्ध-महावीर के नाम पर चली साधना-परम्परा अपनाता है।

किन्तु सभी एक ही मंजिल की ओर ले जाने के लिये साधन या पथ हैं अखिल-निखिल जीवन की स्रोत-स्वरूपा सर्वव्यापिनी एक ही अखण्ड सत्-चित्-आनन्दमयी सत्ता। जीवन की उस एकता से अनुसन्धान-अनुबन्ध सतत बनाये रखते हुए स्वस्थ सन्तुलित इन्द्रिय-मन-बुद्धि से समग्र जीवन जीना—यही मानव धर्म है, इस मानव धर्म को जीने के लिये ही 'समाज' की संकल्पना हुई। अतः व्यक्ति रूप में जिस भी जाति के आप हों,—तदनु-रूप धर्म सम्प्रदाय का अनुसरण व्यक्तिगत साधना के लिये घर में करें, लेकिन घर से बाहर कदम रखते ही आपका एक ही धर्म है—मानवता। **Divinity is nothing but the consummation of humanness.** परि-मार्जित, परिष्कृत मानवसत्त्व ही दिव्यता, परमात्मा, भगवत्सत्ता है।

इसलिये, आत्मोन्नति का ध्येय तरुण पीढ़ी को देना हो तो वह शाब्दिक प्रचार से—लेखों से, भाषणों से—नहीं दिया जा सकता। यहाँ (भारतीय संस्कृति में) तो बीच संग्राम में खड़े अर्जुन को उपदेश दिया जाता है—"योगी भव !" और उस योग की व्याख्या की जाती है—

"योगः कर्मसु कौशलम्" और "मामनुस्मर युध्य च !"

भगवत्सत्ता का सतत अनुसन्धान बनाये रखते हुए युद्ध किये जाओ न्याय के लिये, सामने आयी चुनौतियों का सामना, अन्याय-अधर्म का प्रति-कार और पूरी कुशलता से कर्म किये जाओ।

"समत्वं योग उच्यते।"

व्यवहार करते समय और एकान्त में भी सदा इन्द्रियों में सन्तुलन और चित्त में समता बनी रहे, अक्षोभ्य अवस्था बनी रहे ताकि जो सम्बन्ध सामने आये उसके साथ लय में लय मिलाकर चलना हो सके।

An elegant and graceful equanimity, and peace is the perfume of that equanimity. योग वह अवस्था है जहाँ चित्त की समता कभी चलित न हो, इन्द्रियों का सन्तुलन च्युत न हो, क्षोभ का प्रवेश न हो।

इस समत्व और सन्तुलन की बात तरुणों को समझाई जा सकती है यदि इसका आचरण स्वयं करने वाले सज्जन अभिभावक हों। वे घरों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने बच्चों के सामने तो जीवन को दृष्टान्त बनाकर अनायास वह संक्रान्त होने का अवसर प्रस्तुत कर ही सकते हैं, पर परिस्थिति की गम्भीरता को देखते हुए आवश्यकता है कि ऐसे सज्जन संगठित हों। देश में प्रशासन-व्यवस्था का स्वस्थ प्रतिनिधिक लोकतन्त्र और समाज में व्यक्तिस्वातन्त्र्य लाना हो तो 'लोक'-निर्माण करना होगा। भारतवासी लोग भारत के 'नागरिक' वास्तव में 'लोक' बन सकें जो स्वयं अपने प्रतिनिधि का चुनाव करके प्रशासन में अपनी भागीदारी निभा सकें, भारत के नागरिक 'भेड़ियाधसान भीड़' न रह कर पूरे देश के अङ्ग के नाते भला-बुरा समझ सकें और बुरे का प्रतिकार करके भले हाथों द्वारा समाज एवं देश की सब व्यवस्थायें स्वयं सम्हाल सकें। चुनावों को राजनैतिक पक्षों के जुए के अड्डे या स्वार्थ साधने के समारोह बनने से रोक सकें। **Elections may not be festivals for the political parties and their reactions.**

जो प्रतिनिधि चुने जाकर संसद-मन्त्रि-मण्डल या विधान सभाओं में बैठे हों उन पर सज्जन-नागरिक-शक्ति अपना अंकुश रख सके। राजनीति का शुद्धिकरण किया जा सके, शिक्षणनीति को भारतीय संस्कृति के अनुरूप बदल सके। पाठ्यक्रमों में से—अंग्रेजी हुकूमत द्वारा चलाये गये ग़लत इतिहास को हटा कर भारत का वास्तविक इतिहास नई पीढ़ी को सिखाया जा सके। इतने सारे, और भी अनेकों अनिवार्य कार्य हैं जो संगठित सज्जनशक्ति ही कर सकती है। पिछले ४३ वर्षों से, अपना ही (काग़ज़ी ही सही पर—) लोकतान्त्रिक प्रशासन होने पर भी 'लोक' बना ही नहीं। उधार ली हुई शिक्षणनीति, उधार की ही सब पद्धतियाँ लिये हुए टुकड़े-थिगड़े जोड़ कर किसी तरह देश चल रहा है। दिल्ली की संसद को समीक्षक लोग—**'a political lunatic assilum'** कहते हैं, उसी की अनुकृतियाँ प्रदेशों में हैं। सभी राज्य-संस्थायें और शिक्षा-विभाग भ्रष्टाचार के केन्द्र बने हुए हैं; पूरे देश के बजट की कुल पूँजी से भी अधिक काला-धन समानान्तर रूप से देश में भ्रष्टाचार में चल रहा है—**Parallel economy**. कॉलेज जाने वाले विद्यार्थियों को इस काले बाजार से पाला पड़ता है, सभी क्षेत्रों में फैले भीषण भ्रष्टाचार से पाला पड़ता है; और वे देखते हैं कि एक ओर मठ-मन्दिर आदि के उत्सवों में, रामायण-भागवत के पारायणादि में लाखों लोग जाते हैं, दूसरी ओर उन्हीं कथा-पारायणादि के श्रोता-गण के ही घर में नहीं, प्रायः वक्ताओं के घर में भी उत्तान भोगवाद और भ्रष्टाचार का बोलबाला है। विदेशी संस्कृति के ऊपरी छिलकों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ओढ़े रखने में (—विदेशी पहनावे, विदेशी खान-पान की वस्तुयें और ढग, विदेशी भाषा का चाहे जैसा प्रयोग करने में) शान मानना, स्वदेशी जीवन पद्धति अपनाने में लाज लगना जब बड़ों में देखते हैं तो बालक-किशोर-तरुण पीढ़ी को भारतीयता के प्रति सम्मान रहे कैसे ? किस तरह वे धर्म-आत्मोन्नति का जीवन में महत्त्व समझें ? घरों में यदि—पहनावे, भाषा, उपयोग में आती वस्तुयें, व्यवहार के रंग-ढंग, आजीविका-उपार्जन की रीति, संस्कृति के विविध संकेत इत्यादि में धर्म-अध्यात्म-ईश्वर का सम्बन्ध और भारतीयता को जिया नहीं जायेगा तो कहाँ कैसे रहेगा वह सब ? जिस भगवत्सत्ता के अधिष्ठान पर संस्कृति खड़ी होती है, और मानवीय सम्बन्ध जिये जाते हैं, उस सत्ता का स्पर्श जीवन में व्यक्त होना चाहिये न ! तरुण पीढ़ी को कुछ सिखाना हो तो केवल—गीता रटने की प्रतियोगिताओं, धार्मिक लेख या वाद-विवाद-प्रतियोगिताओं और इनामों के आयोजन से कुछ नहीं बनेगा।

A total revolution, wholistic revolution, in our approach to life and attitude towards wholistic life is essential. सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि और वृत्ति में समग्र परिवर्तन, समग्रदर्शी जीवनदर्शन लाना अनिवार्य है।

आज तरुण पीढ़ी को सामना करना पड़ रहा है दो परस्पर विपरीत दिशाओं में ले जाने वाली जीवन पद्धतियों की टक्कर और संघर्ष का। मेरी श्रद्धा है कि अन्ततः भारतीय संस्कृति इस संघर्ष में विजयी बनेगी; हमसे वह पुरुषार्थ न हो पाया तो हमारी आँखों के सामने नहीं, कभी बाद में होगा, किन्तु—Perennial source of Spirituality in this country is going to overcome the onslaught of materialist Philosophy and the cult of pleasure.

प्रश्न—आप जीवन की प्रेमी हैं; जीवन-सम्मुखता आपकी विचारधारा में भरी हुई है, इस विचारधारा में मायावाद का क्या स्थान है ? "जगन्मिथ्या" यदि सच हो तो जीवन-सम्मुखता कैसे आयेगी ? मायावाद से देश का बहुत नुक्सान हुआ है—ऐसा कहने वाले कई लोग हैं। कृपया इस सम्बन्ध में भूमिका स्पष्ट करें।

बम्बई-जैसे शहर में, जहाँ भोग-विलास के अत्यधिक साधन उपलब्ध हैं, वहाँ बच्चों को सन्तुलित जीवन जीना कैसे सिखाया जाय ? अध्यात्म में रुचि कैसे पैदा की जाय ? बच्चों पर शुभ-संस्कार किस तरह से डालें ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तर—अव्वल तो बात यह है कि यदि आत्मसाधनामय जीवन जीने की प्रामाणिक इच्छा हो, तो बम्बई-अहमदाबाद-कलकत्ता जैसे बड़े शहरों से हट कर जिया जाय। जीविका का साधन किसी छोटे शहर में खोजा जाय। बड़े नगरों में जहाँ **De-personalised, De-humanised living as a cumulative result of the values of society** है वहाँ आप बच्चों में अध्यात्म एवं संयम की रुचि कैसे जगा सकेंगे? आज अमेरिका में और योरोप में अध्यात्म-जिज्ञासा (**Religious enquiry**) के लिये जहाँ सहयोगी परवेश न हो, प्रदूषक वातावरण हो, वहाँ से लोग हट जाते हैं, खास कर युवा वर्ग; क्योंकि उन्होंने देखा कि वह जीवन पद्धति अध्यात्म-विरोधी या विपरीत (**anti-religious**) है। इसलिये वे पहला पुरुषार्थ करते हैं वहाँ से हट जाने का।

आपने बच्चों की बात पूछी है इसलिये कहती हूँ। दूसरी बात माता-पिता के लिये है, कि जीविका-रूप धन-उपार्जन के लिये जो उद्यम-व्यवसाय करते हैं, व्यापार-धन्धा करते हैं, उसमें मानवीय एवं आध्यात्मिक जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा का पुरुषार्थ उन्हें करना पड़ेगा। क्योंकि बच्चे देखते हैं; तर्क नहीं दे पाते, लेकिन वे देखते हैं, **absorb** करते हैं, **assimilate** करते हैं। अतः जिस जीवन-पद्धति में मौलिक जीवन मूल्यों की रक्षा नहीं हो पाती है, ऐसे व्यवसाय, औद्योगिक धन्धे,—इत्यादि से भी हटना होगा। और जिस जीवन में अधिक से अधिक निर्दोष और कम से कम सदोष कोई जीविकोपार्जन हो सके ऐसी पद्धति ढूँढ़नी पड़ेगी। यदि अग्रिमता है कि बच्चे मानव बनें, मनुष्य बनें। मानवता के अधिष्ठान पर अध्यात्म खड़ा होता है। **De-humanlised, De-personalised society** में धर्म और अध्यात्म लायेंगे कहाँ से? बड़े शहरों में रात को दिन बनाया जाता है, फिर दिन में रात की जरूरतें किसी तरह पूरो की जाती हैं। समय पर भोजन नहीं, समय पर सोना नहीं। छोटे-छोटे बच्चों को भी वैसे ही असमय खाना-सोना मिल पाता है। ऐसे में आहार-विहार संयमित-सन्तुलित कैसे बने? अध्यात्म है जीवन जीने में समग्र क्रान्ति (**a wholistic revolution in the living**) सम्पूर्ण जीवन में आमूलाग्र परिवर्तन से कम नहीं है अध्यात्म।

यह यदि न करना हो, बच्चों को वास्तव में सन्तुलित जीवन जीना सिखाना यदि सम्भव ही न हो, तो फिर जितना-सा किया जा सके, उतना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सही ! क्योंकि माता-पिता का जीवन, परिवार का जीवन—यही बालकों के लिये विद्यालय है। शिक्षण स्वयं जीवन में से संक्रान्त होता है। वाणी से जानकारी दी जा सकती है। You can impart education through verbalisation, but education gets transmitted, when the parents and the children, the teachers and the students live together. It is something which gets transmitted, it cannot be given with the conscious effort. संस्कार, शिक्षा, मूल्य संक्रान्त होते हैं, केवल शब्दों द्वारा दिये नहीं जा सकते।

इसलिये मैं कहूँगी कि माता-पिता बैठकर तय कर लें कि बम्बई में रहते हुए भी, अपने जीवन में कैसे-कितना-सा परिवर्तन लाया जा सकता है ? माता-पिता के जीवन में जितना सन्तुलन आयेगा—आहार-विहार, वाणी-व्यवहार में, लोगों के साथ सम्बन्धों को जीने में; वही बच्चों के जीवन में सन्तुलन लाने के लिये पहला कदम होगा। सन्तुलित माता-पिता के साथ रहते-रहते बच्चों का जीवन अपने-आप सन्तुलित बन जायेगा। पहले सात वर्षों में जो संस्कार बच्चों को मिलते हैं, वे मृत्यु क्षण तक साथ चलते हैं। उसके बाद जो दिया जाता है वह शायद भावना और बुद्धि के स्तर पर रहता है, गहरा अन्दर प्रवेश नहीं कर पाता। इसलिये सबसे पहले जरूरी है कि माता-पिता अपनी जीवन शैली में परिवर्तन करें। दूसरी बात बच्चों के पीछे इसके लिये न पड़ें कि उन्हें परीक्षा में पहला स्थान लाना चाहिये, अधिक से अधिक अंक (marks) कमाने चाहियें। बच्चों के चित्त पर यह स्पर्धा-तुलना का बोझ न डालें। क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि जीवन के अनेक दुःखों की जड़ तुलनात्मक दृष्टि में है। मनुष्य अपनी तुलना अन्यों के साथ करता रहता है, उस तुलना में से दुःखी होता है। Non-comparative approach to one's own life, and a non-comparative approach to total life—(अपने जीवन तथा सम्पूर्ण वैश्विक जीवन के बारे में तुलना-मुक्त स्पर्धा-मुक्त दृष्टिकोण) विकसित होना चाहिये न ! लेकिन लोग बच्चों के पीछे पड़े रहते हैं, अधिक से अधिक tuitions लगवाते हैं कि हर तरफ़ अव्वल दर्जा आना चाहिये। माता-पिता के चित्त में बच्चों को Job-oriented education (नौकरी पाने के लिये उपयोगी शिक्षण) देना न हो, बल्कि जीवन-मूलक, जीवनलक्षी शिक्षण देना अभिप्रेत हो, तो भले ही इन्हीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्यालयों में बच्चों को भेजा जाय, लेकिन उनके सिर पर, दिल-दिमाग़ पर यह बोझ न डालें कि उन्हें सबके आगे निकलना है। बच्चों की आपस में तुलना भी न करें कि एक होशियार है, दूसरा कम बुद्धिवाला या सुस्त है।

तीसरी बात, घर में जो प्रौढ़ लोग हैं (—माता-पिता, चाचा-मामा, दादा-नाना, मौसी-बुआ आदि परिवार के विभिन्न सदस्य—) उनके आपसी झगड़े, मन-भेद, मत-भेद, कलह आदि बच्चों के सामने प्रकट (expose) न हों। आपसी कलह-मनमुटाव आदि का स्पर्श बच्चों को न होने दें, इस प्रदूषण से उन्हें बचाये रखें। और, यदि आपकी अपनी श्रद्धा एवं अभिरुचि हो मौन-ध्यान में बैठने की, भगवान् का नाम लेने-प्रार्थना करने-भजन कीर्तन करने या योगासन-प्राणायाम आदि करने की, तो बच्चों को साथ लेकर करें। ज्यादा समय न दे सकते हों तो सुबह-शाम दस-पन्द्रह मिनिट के लिये ही सही। बच्चों को एक सहभागिता भरा जीवन बचपन से ही मिले। माता-पिता लाड़-प्यार बहुत करते हैं पर प्रायः बच्चों के जीवन में शामिल नहीं होते हैं, न बच्चों को अपने जीवन में शामिल करते हैं। बच्चों के जीवन में शामिल होंगे तो माता-पिता को बहुत-कुछ सीखने को मिलेगा। **Children educate the parents, as much as the parents can educate the children.**

अतः दैनिक जीवन में, व्यवसाय-धन्धे का समय छोड़कर, घर के जीवन में बच्चों को शामिल करें, बच्चों के जीवन में स्वयं शामिल हों। खेलना-कूदना, हँसना-बोलना, अच्छे ग्रन्थ पढ़ना, अच्छे दृश्य (चित्र आदि भी) देखना, घूमने जाना, व्यायाम, प्रार्थना, घर के विविध काम, बगीचे का काम आदि सबमें बच्चों को साथ लेते हुए शामिल हों।....इसी में आप संक्षेप में समझ लेंगे कि बच्चों को शुभ संस्कार कैसे दिये जाँय। अपने जीवन में परिवर्तन करते जाइये, उसके संस्कार बच्चों के जीवन में अपने-आप आते जायेंगे। उसी अनुपात में आयेंगे। यह वाणी का विषय नहीं है मित्रो! यह जीवन से ही दीक्षा मिलती है।

प्रश्न—मान लीजिये कुटुम्ब में एक व्यक्ति जिज्ञासु है, उसकी अन्य सदस्यों से अपेक्षायें कम-कम होती जा रही हैं, परन्तु दूसरों की उसके प्रति अपेक्षायें उस अनुपात में कम नहीं हो रही हैं। ऐसी परिस्थिति में वह व्यक्ति कुटुम्ब में सख्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मूलक सहजीवन का स्वधर्म किस प्रकार पालन करेगा ? यह कैसे बने कि कर्तव्य करने हैं, सम्बन्धों में रहना है, पर शोषण (exploitation) न हो।

उत्तर—यह तो नहीं हो सकता कि परिवार में जितने व्यक्ति हैं, उन सबके चित्त में एक ही साथ सत्य के प्रति, धर्म-अध्यात्म के प्रति अभिमुखता होगी, और आत्म-जिज्ञासा जाग उठेगी। यह नहीं होता। यहाँ जो एक कल्पना (supposition) अपने सामने रखी कि कोई परिवार है, जिसमें जीवन के अनुग्रह से एक व्यक्ति के चित्त में निरपेक्षता जागृत हुई है। लेकिन दूसरों की उससे अपेक्षायें हैं।....तो दूसरों की अपेक्षायें भले रहें। उनको तो आप रोक नहीं सकते। आपको पत्नी होने के नाते, पति होने के नाते, या माता-पिता-कन्या-भाई आदि जो भी आपकी हैसियत है। (the functional role that you have to play) उसके नाते आपकी भूमिका व उसके कर्तव्य क्या हैं—यह पहले देख लेना चाहिये। मनुष्य देह में आने पर इन सब भूमिकाओं में से मनुष्य को गुज़रना होता है। तो वह जिम्मेवारी कौन-सी है ? उसे पहचान लें, उसे निभाते चलें। उसके अनुसार आचरण करते चलें। अब आपको अपेक्षा नहीं, इसलिये आपको आसक्ति नहीं किसी में—यह आप की अनासक्ति परिवार को बहुत चुभेगी। क्योंकि वे चाहेंगे कि हम जिनमें आसक्त हैं वे साथी भी हम में आसक्त रहें। आपकी अनासक्ति निन्दनीय विषय बन जायेगी। अनासक्ति को उपेक्षा माना जायेगा। भौतिक विषयों में आपका रस कम होगा तो वे कहेंगे कि "यह हमारी किसी बात में रस ही नहीं लेता !"—ये सब आक्षेप होंगे तो हंसना चाहिये उस पर। इन आक्षपों की उपेक्षा करनी चाहिये। "मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा"—इन चार शक्तियों की बात तथागत ने भी कही थी न ! उस उपेक्षा शक्ति का उपयोग करके शान्त रहना चाहिये। अपना जो धर्म समझ में आता हो उतना आचरण करें, बाकी प्रतिक्रियाओं की दृढ़ता से उपेक्षा करें, उसके परिणामवश जो सुनना-सहना पड़ेगा उसे अपने जीवन का अंग मानते हुए उसमें से गुज़रते चलें।

एक बात का ध्यान रखें। कभी अपने आपको धोखा न दें ! Never deceive yourself. आत्मछलना आत्मप्रतारणा, आत्मवञ्चना नहीं कीजियेगा। अध्यात्म कोई शहादत नहीं है। आपकी अध्यात्म में रुचि है, रस है, इसलिये आप श्रेष्ठ हो गये और दूसरे तुच्छ रह गये—यह अहं-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पावित्र्यवाद भी नहीं आना चाहिये और—हम इतनी भक्ति करने निकले, अध्यात्मसाधना करने निकले, पर कुटुम्ब में कोई समझता ही नहीं है, हमको इतनी तकलीफ़ होती है !''.....कह कर शहादत को भावना (Martyr Complex) मत बनाइये। It is no use creating complications in the name of religious enquiry. धर्मजिज्ञासा-ब्रह्मजिज्ञासा-आत्मजिज्ञासा को सङ्कट मत बनाइये।

प्रश्न—I am a Platonic lover. I love a girl; but I have no desire or want of love from the opposite person, nor do I try to eliminate that feeling of love towards that person. Can you explain this in the terms of Bhoga, Madhyastha, Tatastha ? What will be the destiny of my feeling or what should be its destiny according to you ?

उत्तर—मेरी राय में—क्यों भाई ? प्रेम तो प्रेम है ? प्रेम में भी क्या कोई "Platonic" या "व्यावहारिक" पक्ष होते हैं ? कोई स्तरभेद होते हैं ?—मानवीय, दैवी या आध्यात्मिक ? प्रेम एक बहुत पवित्र घटना है। प्रेम एक बहुत पवित्र आयाम है जीवन का (A dimension of Consciousness)। प्रश्नकर्ता कह रहे हैं कि किसी के प्रति प्रेम हो गया है। (अच्छा है कि "I have 'fallen' in love." नहीं लिखा है। प्रेम में 'गिरने' 'पड़ने' की ज़रूरत नहीं।) "और वह व्यक्ति उलट प्रेम करे ही ऐसा आग्रह नहीं है चित्त में। तो यह जो मेरा उस व्यक्ति के प्रति प्रेम है इसका अन्तिम स्वरूप क्या होगा ? वह भोग है या तटस्थता, मध्यस्थता ?" अरे भाई ! कहाँ के कहाँ शब्द लगा दिये आपने ? भोग या तटस्थता-मध्यस्थता का इस 'प्रेम' में क्या सम्बन्ध है ? प्रेम तो आत्मोत्सर्ग कराता है, अपने आपको लुटाने की शक्ति देता है, वहाँ भोग की संभावना कहाँ से आयी ? प्रेम में 'मिलन' है, 'संयोग' है, संयुक्त होना है। प्रेम के कारण जो 'मिलन' सम्भव होता है—शरीर-स्तर पर हो या मन-बुद्धि स्तर पर हो—वह एक बहुत पवित्र घटना है। We are participants in the creative energy, participants in the cosmos. यदि किसी ने उसे वासना के स्तर पर उतार दिया, और सुख की पुनरावृत्ति के कारण उसे बाज़ारू बना दिया—तो बात अलग है। किन्तु, वैसा न हो, शुद्ध प्रेम हो तो संयोग होने पर आप सहजीवन के लिये विवाह करेंगे। Marriage

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

is a joint adventure; two living as one, without destroying the idividuality and the independence of each other,

इससे अधिक 'Platonic' और क्या हो सकता है ? फिर, 'Platonic' कह कर आप बाह्यस्तर पर होने वाली प्रेम की अभिव्यक्ति को तुच्छ-नगण्य निन्दनीय मत बनाइये। प्रेम के बिना होने वाले शरीर-स्तर के व्यवहार अवश्य जीवन के प्रति अपराध बन जाते हैं।

अपने को लुटाने में—आत्मोत्सर्ग में जो पाया जाता है, वह मैं समझती हूँ कि मनुष्य में दिव्यता का खजाना पाया जाता है। वेदों के द्रष्टाओं ने जो जीवन को यज्ञ कहा, वह इसे समझ कर ही कहा होगा। After all it is the beingness of life, which is manifesting itself and getting fulfilled by the manifestation.

आत्मसत्ता का आत्मोत्सर्ग है अनेकता धारण करना। एकता का आत्मोत्सर्ग है अनेकता बन जाने में, उसमें वह समृद्ध होतो है। प्रेम में वही शक्ति है आत्मोत्सर्ग कराने की। इसलिये 'प्रेम' कोई चिन्ता की बात नहीं।""यदि संयुक्त जीवन की इच्छा नहीं है, पाश्चात्य-संस्कृति से शब्द ले लिया है 'Platonic love' का, केवल 'Companionship' ही चाहते हैं, मैत्री चाहते हैं, सम्बन्ध नहीं चाहते—No relationship that can be identified, recognised. or reqiures a sanction of society or any religion—यह आपके 'प्रेम' का आशय हो तो ऐसा स्त्री-पुरुषों का 'सख्य' एवं सहजीवन हेतु की पवित्रता तथा इन्द्रियों के संयम की 'कसौटी' बनता है। हम सब आत्मवंचना में बहुत कुशल हैं; अपनी ही बुद्धि एवं प्रज्ञा से हम डरते हैं। उसको दबाने के लिये दलीलें-बहाने बनाते हैं, और जीवन एक शोचनीय यात्रा बन जाता है। आपके जीवन में ऐसा न हो! Platonic love' की परिणति यदि सच्चे सहजीवन में हो सकती हो तो प्रश्नकर्ता अभिनन्दन का पात्र बने!

प्रश्न—यदि पूना में या (महाराष्ट्र व आस-पास के किसी शहर में) आपका जाहिर (सार्वजनिक) सत्संग हो तो युवकों को बहुत लाभ होगा, युवा-पीढ़ी को इसकी आवश्यकता है। क्या आप ऐसा सार्वजनिक-सत्संग-सम्मेलन कहीं रखेंगी ?

उत्तर—"जाहिर" (सार्वजनिक खुलेआम) और "सत्संग" विरोधा-भासी शब्द हैं। सत्संग क्या सार्वजनिक हो सकता है ? सम्मेलन, परिषद,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Conference, convention सार्वजनिक हो सकते हैं, सत्सङ्ग तो कुछ मर्यादा में होगा। वह मर्यादा (सीमा) १००–२००–३०० की रखी जा सकती है। सार्वजनिक सभाओं में लोग घण्टे-दो-घण्टे के लिये आते हैं फिर घर चले जाते हैं, घर के जीवन की विविध समस्यायें साथ लगी रहती हैं उनमें चित्त उलझा होता है, उसी में सतसङ्ग-सभा में भी चले आये, चार बातें सुनीं, फिर विभागों में विभाजित जीवन में गुँथ गये। सत्सङ्ग में जो सुना, जो कुछ समझ में भी आया, उसे अपने प्रत्यक्ष जीवन जीने में उतरने देने के लिये लोगों के पास समय और मुक्तता (चित्त की) नहीं होती। सतसङ्ग के लिये शहरों से दूर ५–७ दिन लगातार एकत्र रहने वाला शिविर इसलिये रखते हैं कि एक मौका मिल जाय—सुनने-सोचने-समझने-एकान्त में उस पर मनन करने के लिये माहौल बने। शहरों के जीवन में वह सम्भव नहीं बनता ऐसा देखा है। शहरों में भाषण न हुए हों ऐसा तो नहीं; मैंने चौपाटी पर ढाई लाख की सभा को सम्बोधित किया है भूदान आन्दोलन में। उन दस वर्षों (१९५२–६२) में पचीस हजार से कम का श्रोतृ-समुदाय तो प्रायः होता ही नहीं था। उस समय सबके दिल में कुछ बात पहुँचानी थी, कुछ Convey करना था, उसके लिये सार्वजनिक सभायें-सम्मेलन काम देते हैं, लेकिन यहाँ तो मैं आपको (व्यक्तियों को) झकझोरना चाहती हूँ कन्धे पकड़ कर! सब धारणा-मान्यता-परम्परा रूढ़ियाँ-शब्दज्ञान आदि से 'समझ' किस तरह अलग है; समझ का दीपक अपने भीतर जलाने, प्रज्ज्वलित रखने, उस आलोक में जीने का क्या आनन्द है—यह कहना चाहती हूँ।....बड़ी सार्वजनिक सभाओं में 'सत्सङ्ग' की बात कही भी जाय तो श्रोताजन थोड़े ही समय में वक्ता को 'भगवान्' 'भगवती' बना कर अपने से अलग खड़ा कर देते हैं; आप भी मुझे अपने में से एक 'बहन' या 'मित्र' नहीं रहने देंगे। एक 'Authority' (अधिकार, प्रामाण्य) पैदा कर लेंगे। मेरा अथक प्रयत्न है कि अध्यातम की चरम अवस्था में जीते हुए भी मेरी सामान्यता का ऐश्वर्य नष्ट न हो। किसी को मेरे पास आने में सङ्कोच न हो, शर्म न लगे, लज्जा-भय न हो; ऐसा न लगे कि ये बहुत ऊँचे कुछ हैं, I am not going to allow anyone to banish me to a pedestal, to be an exclusive authority. With a vengeance I am going to be one of you.

इसलिये ऐसे छोटे-छोटे सतसङ्गों में बैठती हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न—मौन के माध्यम से अव्यक्त में प्रवेश होने के बाद आये हुए साधकों को सगुण देवी-देवता, प्रकाश, ध्वनि—इत्यादि की अनुभूतियाँ होती हैं। "उनमें फँसना-अटकना या रम जाना नहीं!"—ऐसा कहा जाता है। प्रश्न यह है कि भक्ति के, अथवा सभी प्रकार के उन्नत योग के परिणाम-स्वरूप परमेश्वर का साक्षात्कार होता है—वह सन्तों को रूप, वर्ण, अनाहत नाद, अद्‌भुत तेज (प्रकाश)—आदि के द्वारा होता है। उनमें अव्यक्त की अनुभूतियों तथा सन्तों द्वारा वर्णित 'कृपा-प्रसाद' एक ही है या भिन्न है? यदि भिन्न है तो उसके स्वरूप को स्पष्ट कीजियेगा।

उत्तर—"मौन के माध्यम से अव्यक्त में प्रवेश होने पर साधक विविध अनाहत नाद, तेज, रूप आदि विभिन्न अनुभूतियों में से गुजरता है, यह भी कहा जा सकता है कि इन अनुभूतियों में गिरफ़्तार नहीं होना चाहिये। आखिर सभी योगों को फल श्रुति जब परमात्मा के साक्षात्कार में होती है, तो यह जो सन्तों के जीवन में अनुभूत कृपा प्रसाद के विभिन्न प्रकार हैं, उनसे अलग कुछ 'प्रसाद' अव्यक्त में होता है क्या? यदि वह कुछ भिन्न हो तो उसका स्पष्टीकरण करें"—ऐसा आशय प्रश्न में हैं।

जब तक मन के स्तर पर अपना रहना होता है, तब तक अनुभूतियों का आवागमन अनिवार्य है। इन्द्रियों के द्वारा होने वाली अनुभूतियों से पीठ फेर कर अन्तर्मुख होकर, अन्तर्दृष्टि एकाग्र करके साधक रहे, तो शरीर में समाये हुए तेजस् एवं नाद की अनुभूति उसे अवश्य होगी। क्योंकि अनेक प्रकार के अग्नि शरीर में एक साथ काम करते हैं, और ब्रह्मरन्ध्र में भ्रूमध्य में, कण्ठ में, हृदय स्थान में, नाभि में—ऐसे स्थान-भेद से अग्नि ज्योति के रंग भी अलग होते हैं। शरीर में समाये हुए नाद भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।

जीवन की सत्ता के ही स्पन्दन-रूप हैं ये नाद और प्रकाश। अव्यक्त में प्रवेश होने पर ये प्रकट होने लगते हैं। उन्हें आप लौकिक रंग-रूप-ध्वनियों की तुलना से कुछ नाम देते हैं कि यह 'आरक्त' है—'श्वेत' 'पीत' 'नील' 'सुवर्ण' है, या नादवेणु का है—मेघ का है—सागर का है, वीणा का है, मंजीरे का है—इत्यादि कहते हैं। जहाँ तक आप इन रंगों को—ध्वनियों को अपने परिचित नामों से सम्बोधित करते हैं—तब तक ये अनुभूतियाँ मानसिक स्तर की ही कहलायेंगी। चेतन मन को चीरते-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भेदते हुए यदि गहराई में उतरेंगे तो अवचेतन और अचेतन में पहुँच पायेंगे। भीतर पञ्चकोशों में संस्कार पड़े हुए हैं—परिवार के, समुदाय के, जमात के, धार्मिक-राष्ट्रीय जमात के। इन्हें अंग्रेजी में (Conditionings) कहते हैं। पृथ्वी पर किसी भी देश या प्रान्त में जन्म लिया हो, भीतर ये वंशगत-ज्ञातिगत संस्कार पड़े हुए हैं। जीवन सात्त्विक हो तो, सगुण-साक्षात्कार की अभीप्सा लेकर जप, पूजन, तीर्थाटन इत्यादि जो करते हैं, उनके भीतर अवचेतन-अचेतन में पड़े हुए संस्कार ही चित्रमय या शब्दमय बनकर उभर आते हैं। इसे ही 'साक्षात्कार' कहा जाता है। राम, कृष्ण, देवी, शिव, गणेश, स्कन्द, बुद्ध, महावीर, यीशु ख्रीस्त, फकीरों आदि के रूप में—वे संस्कार ही–अग्नि एवं वायु तत्त्वों की मदद से शब्दमय या छबिमय रूप धारण करते हैं। लाखों वर्षों से चली आयी मनुष्य-जातियों (races) ने जो श्रद्धायें विकसित कीं, उसके रूप का भावन किया, नाम का भावन किया—अतः उनका अत्यन्त सुस्पष्ट-सुरेख रूप से उभर आना कोई बहुत मुश्किल बात नहीं है। लेकिन यह जो कुछ देखा जाता है और उसका नाम अपनी स्मृति में से उभर आता है, उसके बारे में अपनी संस्कृति में जो कुछ पढ़ा-लिखा-सुना-समझा—वह सबका सब मानो Play-back करने (ताजा होकर उभरने) लगता है। उससे आनन्द आह्लाद भी होता है। लेकिन अनुभव करने वाला, अनुभव की क्रिया और अनुभूति यह त्रिपुटी वहाँ कायम रहती है।

इसलिये कहते हैं कि यह जो सत्य का सापेक्ष स्पर्श है—इसमें अटकियेगा नहीं। जहाँ अनामी, अरूप, गुणातीत, भावातीत सत्ता का स्पर्श चेतना को होगा—वहाँ तक खोज या साधना कायम रहे। क्योंकि हर अनुभूति हमें सीमित बनाती है (Every experience conditions)। प्रत्येक अनुभूति हर्ष-शोक, सुख-दुःख उत्पन्न करती है। उसके संस्कार शरीर पर, नाड़ीतन्त्र पर रह जाते हैं। उनकी खरोंचें चेतना पर, अन्तरङ्ग शरीर पर पड़ी रहती हैं। अतः इससे भी आगे—जहाँ अनुभूतियाँ घुल जायें, अनुभव लेने वाला भी घुल जाय; 'भोक्ता व अनुभूति' या 'द्रष्टा और दृश्य' शेष न रहे, 'कर्त्ता और कर्म' न रहे—ऐसा जो विशुद्ध होनेपना है—सत्तामात्रता है, वही है सभी योगों का अभीष्ट। यदि वहाँ तक न जाना चाहें, और विविध अनुभूतियों के सुख भोगने में ही सन्तृप्ति-सन्तोष समाधान प्रतीत होता हो, तो भले वह व्यक्ति उसी में रहे। कुछ तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऊर्ध्वीकरण हो ही चुका है। बाह्य इन्द्रिय-विषय-संयोग में से आने वाली अनुभूति और भीतर अतीन्द्रिय जगत् की अनुभूति में फ़र्क तो है। उसमें sublimation है, एक हद तक ascendence of matter भी है हो। सवाल इतना ही है कि अध्यात्म नाम का जो जीवन-विज्ञान है वह यह कहता है कि इससे आगे बढ़ना है। वह आग्रह नहीं रखता कि अवश्य सब आगे जायें ही। लेकिन वह बताता है कि यह राह है, पथ है, यह मुकाम या मंजिल नहीं है। मंज़िल तो है सत्ता की एकता। उस एकता में डूबना ही तरना है। आये हो डूबने के लिये तो चलो गहराई में।

सन्तों के जीवन में उतरा कृपाप्रसाद अनपेक्षित नहीं है। अकल्पित, अनपेक्षित रूप से सत्ता की एकता का कृपाप्रसाद सन्तों के जीवन में उतरता है (The Supreme Intelligence of Life manifests in many ways,) और जीवन की जो कोई आवश्यकता है उसे किसी न किसी प्रकार पूरी कर देता है। कसौटी भी होती है, लेकिन उन कसौटियों में यदि जिज्ञासा खरी उतरे तो वस्तुतः कठिनाइयों में मदद भी मिल जाती है। वह मदद कहाँ से कैसे आयेगी इसका हिसाब उस साधक, भक्त या सन्त के पास नही होता; कोई गणित नहीं बैठाया जा सकता। जीवन की सत्ता प्रेमस्वरूपा है, वह गणित के परे है। The Reality of Life is Love, which defies calculations.

ये कृपाप्रसाद मिथ्या नहीं होते। इन्हें भक्त अपने-अपने आराध्य इष्टदेव के साथ जोड़ देते हैं। जैसे रामकृष्णदेव कहेंगे कि 'माँ का दिया हुआ है।' ऐसे अपना इष्ट नाम सत्ता को दे देते हैं। सत्ता का कोई एक अपना नाम नहीं है; वह तो सर्वत्र है, सदा है ही है। हम उसे विशिष्ट नाम देते हैं अपने सन्तोष-समाधान के लिये। लेकिन अव्यक्त से परे जो अनन्त है, जो सर्वाकारता है, सर्वता है, वहाँ अनुभूति नहीं है।

जल का बिन्दु मेघ से बरस कर नदी-नालों में होकर सिन्धु में लौटा और सिन्धु बना। वैसे व्यक्तिचेतना अव्यक्त-अनन्त विश्वात्मक चैतन्य में लौटी। जो सर्वात्मिक था उसने अपने आप पर पृथक् होने का आरोप लगाया। आत्मसत्ता का देह में संकुचित-मर्यादित होना—'यह देह मैं हूँ' ऐसा मान लेना अहंकार है। और अपनी वैश्विक सत्ता को पहचानना अध्यात्म है। इसलिये अव्यक्त से परे—अनन्तता में 'अनुभूति' सम्भव नहीं है। मेरे देखे तो वहाँ द्रष्टृत्व की भी सम्भावना नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"जाणोनि नेणते करीं माझें मन। तुझी प्रेमखूण देऊनिया।"

(अपने प्रेम का संकेत देकर हे प्रभु मेरा जानना न जानना दोनों ले लो, जानते हुए मेरे मन को अनजान बना दो!) साथ ही सन्तों ने यह भी कहा—

"तुका म्हणे आम्हीं विट्ठलांचे दास। पिण्डीं केला ग्रास ब्रह्माण्डाचा ॥

(तुका कहता है हम तो विट्ठल के दास हैं, हम इस पिण्ड में ब्रह्माण्ड को ग्रास बना चुके हैं—समा चुके हैं।) वहाँ कहाँ रहेगी अनुभूति?

"गोविन्द! गोविन्द! मना लागला रे छन्द!
मग गोविन्द हे काया, भेद नहीं आम्हा तया!"

(गोविन्द! गोविन्द रटते हैं, मन को वही लगनी लगी है, यह काया ही तो गोविन्दमय हो गई है। हममें उसमें भेद नहीं रहा!)

इससे आगे कोई क्या कहेगा? मधुराद्वैत की परम अवधि है। आप किसी भी सन्त का साहित्य देखें। शुरू-शुरू में कसौटियाँ होती हैं, कृपाप्रसाद की अभिव्यक्ति-अनुभूतियाँ भी आती हैं, पर वे उनमें से गुज़रते हुए आगे निकल जाते हैं। किसी भी साधक के साधनापथ में नाद-प्रकाश-रूप-दर्शन आदि की अनुभूतियाँ आ सकती हैं। There is nothing religious about it. They are psychophysical extensions. They are consequences of mental movement, वे कोई आध्यात्मिक उपलब्धियाँ नहीं, मनोभौतिक घटनायें हैं, मानसिक गतियों का योगानुयोग है। लेकिन एक बिन्दु ऐसा आता है जहाँ चेतना की उत्क्रान्ति (quantum jump) होती है, तब 'मैं' और 'मेरा' 'मैं-तुम-वह' आदि अनुभूति लुप्त हो जाती है, केवल सर्वता-समग्रता की प्रतीति शेष रहती है।

प्रश्न—मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूँ; महाविद्यालय में पढ़ता हूँ। इस सत्संग में आने का अवसर पाकर बहुत प्रसन्न हूँ। मैं देखता हूँ कि विद्यार्थी लोग किशोर, नवयुवक, तरह तरह के नशीले पदार्थों का सेवन करने लगे हैं, गन्दी गालियाँ और अनेकों अपशब्द उनकी वाणी में घुसे हुए हैं, वाणी का बहुत दुर्व्यवहार करते हैं। ऐसा लगता है कि इन्हें भान और जानकारी भी नहीं है कि हमारे समाज में कितनी अच्छी चीजें, कितने शुभ-शिक्षण की रीतियाँ भी विद्यमान हैं, इस दुरवस्था के लिये माता-पिता-अभिभावक-अध्यापक वर्ग और समाज को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोषी ठहराना व्यर्थ है। कृपया सुझाइये कि समाज में और नई पीढ़ी में भीतर पड़ी हुई शुभशक्ति को कैसे बाहर लाकर सही रास्ते पर लगाया जाय— क्रियान्वित किया जाय ?

How to canalise the tremendous potential for the good, that is dormant in the youth ?

उत्तर—"युवा स्यात् साधुयुवाऽध्ययकः। आशिष्ठोः द्रढिष्ठो।"

ऐसी युवक की व्याख्या अपनी संस्कृति में है।

प्रसन्नता है कि किसी युवक के चित्त में यह चिनगारी जाग उठी। जहाँ एक चिनगारी सुलग उठती है वहाँ प्रकाश के प्रसरने की आशा होती है। आप ने देखा है कि युवकों में शराब और अन्य विदेशी नशीले विषों के सेवन की लत बढ़ रही है। गुजरात और देश के महानगरों में तो बेहद बढ़ रही है, उसके दुष्परिणाम जनजीवन में देखने को मिल रहे हैं। आप स्वयं ही यह भी देख रहे हैं कि इसके लिये केवल माता-पिता या शिक्षकों को ही जिम्मेवार नहीं मानना चाहिये, उन्हें ही दोष नहीं देना चाहिये। सही है। देश के नेता, अधिकारी वर्ग, धर्मगुरु, धार्मिक नेता, महन्त, मन्दिर-संस्थापक व्यवस्थापक, विविध शिक्षण-वाहक माध्यमों (जिनमें अन्ततः अभिभावक, पालक वर्ग भी आता ही है) के जीवन में यदि संयम होता, इनके जीवन में दुर्व्यसन न होते, भ्रष्टाचार और शोषण न होता तो बच्चों में दुर्व्यसन कहाँ से आते ?

दुर्व्यसनों के प्रलोभन उनके सामने रहते हैं और बड़े लोगों को उनका उपभोग करते हुए, फिर भी समाज में आदर-मान पाते हुए देखते हैं तभी किशोर चित्त में उसका आकर्षण होता है और अवसर पाते ही उसका प्रयोग करने की लालसा होती है, फिर लत पड़ जाती है। इसलिये बच्चों को बिगड़ने में अभिभावकों की जिम्मेदारी काफ़ी हद तक है ही। लेकिन उतने से ही समस्या का हल नहीं निकल आता यह कहना भी एकदम सही है।

अन्धकार के सामने दीपक रखना होता है, बस यह एक ही उपाय है अन्धेरा हटाने का। आप जैसे खुली निगाह वाले युवक परस्पर मिलकर एक संगठन बना लें, अपने विचार का प्रसार संगठित रूप से करने लगें। इस युग में सत्य विजयी नहीं होगा जबतक वह संगठित न होगा। असत्य,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शोषण, अन्याय, भ्रष्टाचार, अत्याचार—सब संगठित होते हैं। काला बाजार, तस्करी, समान्तर धन-नीति चलाने वाले भी संगठित होते हैं। पर बहुत बड़ी समस्या है कि सज्जन, सदाचार संगठित नहीं होते, दुराचार और अशुभ के प्रतिकार के लिये सक्रिय नहीं होते। हरेक सज्जन को अहंकार होता है कि मैं सबसे ज्यादा सदाचारी हूँ, इसलिये एक-दूसरे से मिलने में अहंकार टकराते हैं, संगठन हो नहीं पाता। यह एक करुण तथ्य है। यह भारतीय जनमानस और जीवन का हृदयद्रावक, हृदयविदारक तथ्य है। यहाँ जो अलग-अलग छोटे-छोटे संगठन, संस्थायें या सम्प्रदाय बनते हैं वे व्यक्तिगत अहं की तुष्टि के कारण बन जाते हैं।

अब आप जैसे समझदार युवकों पर दारोमदार है कि समाज को दुरवस्था से बाहर निकालें। आप अपना दल बढ़ाइये, संगठित होकर साहित्य-गीत-नाटक आदि के द्वारा और हमजोली-दोस्ती के नाते से अपनी समझ एवं दूरदर्शिता को कहते चलिये। कोई औपचारिक आन्दोलन खड़ा करने की बात नहीं। अनौपचारिक रूप से ही जो युवा एकत्र होंगे, वे अपने में व्रत धारण करें, व्रतस्थ बनें। जिस मूल्य का बुद्धि तथा हृदय से स्वीकार होता है, वह व्रत बनता है; किसी के कहने या लादने से व्रत नहीं होता। अपना ही शासन अपने ऊपर हो कि धूम्रपान नहीं करना है, नशीले द्रव्य (drugs) नहीं लेने हैं, शराब और उसके समान पेय या खाद्य नहीं लेने हैं। इन सबसे होने वाले जो वैज्ञानिक दुष्परिणाम हैं उनकी छोटी-छोटी उक्तियाँ बनाइये कि किसी भी स्तर का नशा करने से कैसे-कैसे नुकसान होते हैं? आर्थिक हानि, शारीरिक हानि, पारिवारिक हानि, सामाजिक हानि, सांस्कृतिक हानि क्या-क्या होती हैं—यह स्पष्ट शब्दों में बहुत सरल, सुगम शैली में लिखकर पर्चे छपा लीजिये और जहाँ किसी भी समारोह, सम्मेलन, सभा आदि में लोग इकट्ठे होते हैं वहाँ ये पर्चे लोगों के हाथ में थमाते रहिये। जो भी लोक-सम्पर्क के स्थान हैं वहाँ अपनी बात कहिये, तो वह आगे-आगे फैलती चली जायेगी।

प्रश्न—मैं एक पाठशाला में काम करती हूँ। अन्याय के प्रतिकार के लिये वीरता की साधना खुद करना चाहती हूँ, और बच्चों को भी सिखाना चाहती हूँ। कहाँ से शुरुआत करूँ, कैसे क्या करूँ? कृपया समझाइये।

उत्तर—अन्याय के प्रतिकार का रास्ता अपने जीवन से निकलता है। अपने जीवन की सुख-सुविधा-सुरक्षा को बचाये रखना चाहते हों तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्याय के प्रतिकार का सपना छोड़ दें। वह कैसे होगा ? आप यह कहिये कि "मैं कुटुम्ब-वत्सल व्यक्ति हूँ; कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिये मुझे कुछ न कुछ अन्याय सह लेना पड़ता है, प्रतिकार करने जाऊँ तो कुटुम्ब को अन्न न मिल पायेगा";—तो भले आपद्धर्म के रूप में न्यूनतम अन्याय सहन कर लें। किन्तु उसमें से चोर रास्ते न निकालियेगा कि गृहस्थी चलाने के लिये मैं ऐसे काम भी कर लेता हूँ जिससे दूसरों पर अन्याय हो। ऐसा समझौता अन्याय के प्रतिकार की वेदना को बधिर कर देता है। हमें अन्याय से वेदना होती है, और उसे बधिर बनाने वाले उपाय भी हमारे पास हैं। अपने ही किये हुए अन्याय के दंश से बचने के चोर रास्ते हमारी बुद्धि निकाल देती है। यह आन्तरविरोध हमारी चेतना में पड़ा है। There is a split in us. We want to resist the injustice and we want to mantain the statusquo in our individual life and the social structure.

इस आन्तरविरोध और भीतरी विच्छिन्नता से बचियेगा; अपने आप में स्वीकार कीजिये कि अन्याय का दुःख तो है लेकिन इतना दम हम में नहीं कि अन्याय का प्रतिकार कर सकें। यह समझते हुए जी लीजिये, ताकि अपराध-बोध (guilt conscience) का भार आपके चित्त पर न रहे। यदि अन्याय के प्रतिकार की भावना उत्कट हो, तो वह होगा आप के करने से। आपके छोटे से जीवन में अन्याय का प्रतिकार आप करेंगे उसका कुछ परिणाम तो आपके वर्तुल (दायरे) में पहुँचेगा।

एक युवा शिक्षिका का उदाहरण मेरे पास है जिसने अन्याय-असत्य के प्रतिकार के रूप में शिक्षिका पद छोड़ दिया; अपने निर्वाह के लिये अम्बर चरखा चलाकर सूत कातना स्वीकार किया। उसके सामने अन्याय-असत्य का मामला यही आया था कि परीक्षा के समय विद्यालय-व्यवस्थापकों एवं प्रधानाचार्या आदि अपने कुछ अयोग्य विद्यार्थियों को अधिक अंक देने को कहते थे, इस अध्यापिका के द्वारा मना करने पर प्रधानाचार्या स्वयं उन उत्तर-पुस्तिकाओं में अंक बढ़ा देती थीं और कक्षाध्यापिका के नाते उसे हस्ताक्षर करने को विवश करती थीं।

नानाभाई भट्ट नाम के पावन व्यक्तित्व से गुजरात सुपरिचित है। भावनगर के एक महाविद्यालय में बड़े प्रतिष्ठित अध्यापक (आचार्य) थे। उन्हें लगा कि शिक्षकों की आवश्यकता गाँवों में हैं, गाँवों में बैठकर छोटे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्यार्थियों को लेकर भारत की नींव में शिक्षा सींचनी चाहिये। यह महसूस होते ही महाविद्यालय की नौकरी छोड़ दी। ये तो गृहस्थाश्रमी व्यक्ति थे, कुटुम्ब था, सन्तानें थी।''''उस समय वहाँ सर प्रभाशंकर पट्टणी दीवान थे उस रियासत के। उन्होंने नानाभाई को कहा—"यह क्या कर रहे हो तुम ?" नानाभाई बोले—"कुछ नहीं, समाज के परिवर्तन की नींव डाल रहा हूँ।"''''भावनगर जिले के ही एक-छोटे से गाँव 'आमला' में जाकर रहने लगे; एक वर्ष होने आया। फिर उनसे पूछने लगे लोग—"आप नौकरी छोड़कर गाँव में बैठे हैं, कुछ कर भी नहीं रहे हैं!" तब बोले "सीख रहा हूँ; गाँव में रहने लायक अपने आप को बना रहा हूँ; गाँव का मानस समझ लूँगा तब पढ़ाना शुरू करूँगा।"

इस तरह तीस वर्ष पहले आम्बला गाँव में "दक्षिणामूर्ति" संस्था बनी, फिर संडोसरा गाँव में 'लोक भारती' बनी, जो कृषि विश्वविद्यालय के तुल्य है।

तात्पर्य यह कि करने से कुछ होता है, केवल हवा में बातें करने से नहीं। पहले सोचना, फिर बोलना, तब करना होता है। "शुरू कहाँ से करें ?" पहले अपने दैनिक जीवन में छोटे-छोटे अन्यायों का प्रतीकार करें। बड़ा कदम बाद में उठेगा। जैन-तीर्थङ्कर महावीर वर्धमान अपने साथी अनुयायी लोगों से कहते थे—"पलभर का प्रमाद न हो, रत्तीभर का असत्य न हो।" ये दोनों सूत्र शिक्षक के जीवन में आ जायें। वे महावीर-वचन हैं इसलिये जैनों की बपौती नहीं हो जाते। श्रीकृष्ण, श्रीराम हों या गौतम बुद्ध, वर्धमान महावीर हों—ये संस्कृति-पुरुष हैं, वे मानव-जाति की विरासत हैं, किसी धर्म या जाति की विरासत नहीं। अतः इन शिक्षिका बहन से मैं कहूँगी कि इन दो सूत्रों को तो आज से ही अपने जीवन में ले लें—पलभर का प्रमाद नहीं, रत्ती भर का असत्य नहीं। इसी से परिवर्तन का श्रीगणेश हो जायेगा। जो भी बालक आपके सम्पर्क में आते हैं उन पर आप के अप्रमत्त और सत्यपरायण जीवन का शुभ परिणाम होगा। आज जो विश्वसनीयता का सङ्कट (The crisis of credibility) समाज में हैं, उसका प्रतिकार आप अपने जीवन में करेंगी—एक बार भी झूठ नहीं बोलना। झूठ कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। असत्य वाणी का व्यभिचार है, और प्रमाद मानसिक मृत्यु को निमन्त्रण है। आपके विद्यालय में जो कोई अन्याय सामने आते हैं उनका प्रेम से,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शान्ति से, समझ बूझकर प्रतिकार करने लगें (—प्रतिक्रिया के आवेग-आवेश या उद्‌वेग से नहीं) आपके जीवन में तो अन्याय से जूझना शुरू हो जायेगा।

प्रश्न—बहुत दिन से मैं कुछ ऐसे लोगों के सम्पर्क में आ रहा हूँ जिनका स्वभाव दोहरा है, वे कहते कुछ हैं करते कुछ हैं। जैसे कि, वे बड़े जोर शोर से कहते हैं कि जात-पाँत नहीं मानते, पर जहाँ जीवन में जातिभेद का मामला आता है वहाँ वे उस भेद को ही पकड़ कर कुछ को चुनते बाकी को हटा देते हैं। ऐसे लोगों के सम्पर्क में मुझे रहना पड़ता हैं, भय होता है कि कहीं उनका प्रभाव मुझ पर न पड़ जाये। मैं नहीं चाहता कि ऐसा पाखण्ड या भेदभाव मुझमें आये। ऐसे सम्पर्क में मैं रहना नहीं चाहता, पर लाचार हूँ। क्या इसमें से कोई रास्ता निकाला जा सकता है?

उत्तर—ऐसा लगता है कि प्रश्नकर्ता भाई या बहन को अपने व्यवसाय के कारण ऐसे लोगों के बीच जाना या रहना पड़ता है जो पाखण्डी हैं। कहना एक, करना उससे विरोधी। हम शिक्षित लोगों में तो ऐसे पाखण्ड की एक कला बन चुकी है। प्रश्न है कि उससे प्रभावित होने से कैसे बचा जाय? बार-बार वह पाखण्ड ही सुनना देखना पड़ता है, इसका परिणाम चित्त पर न हो जाय इसके लिये क्या करें?

यदि आप के भीतर समझ उगी है कि यह पाखण्ड है और ग़लत है, तो क्यों होगा परिणाम? धर्म या ज़ाति के नाम पर भेदभाव नहीं होना चाहिये; यही बुनियाद हो अपने आचरण और व्यवहार की। जहाँ अपने जीवन में धर्म या जाति के नाम पर व्यवहार में भेदभाव बरतने का सवाल या दबाव आये वहाँ नम्रता सहित स्पष्टता से कह दीजिये कि "यह मुझसे न होगा, भेदभाव वाले व्यवहार या कार्य में मैं किसी को साथ नहीं दे सकता।" किसी को यह न पूछिये कि "आप क्यों झूठ बोलते हैं? क्यों पाखण्ड करते हैं? क्यों किसी के प्रति अन्याय-अत्याचार करते हैं?" ऐसी-ऐसी दलीलें और शास्त्र-वचनों तक की अपने मन्तव्य के अनुरूप व्याख्या आप को सुना दी जायेगी कि आप कुछ बोल भी नहीं पायेंगे। इसलिये इतना ही कहिये कि मैं इसमें शामिल नहीं हो सकता।

"विष्णुमय जग वैष्णवों का धर्म!
भेदाभेद-भ्रम अमङ्गल!"

सन्त तुकाराम ने कहा है। ऐसे सन्तवाङ्‌मय में पले हुए महाराष्ट्र व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारत के समझदार व्यक्ति को भेदभाव का शिकार क्यों होना चाहिये ? कोई क्या करता है या कोई क्या करे—इसे अपनी समस्या मत बनाइये, वह अपने अधिकार के बाहर की बात है, लेकिन यदि कोई ग़लती करता है तो उस ग़लती से प्रभावित आप न हों इतनी शक्ति भीतर पैदा करनी होगी। क्योंकि आखिर भागकर जायेंगे कहाँ आप ? इसी दुनिया में रहना होगा न ! पर, शीघ्र ही वह कालखण्ड आ रहा है कि राजनैतिक पक्षों या धर्म के नाम की आड़ लेकर बने स्वार्थी गुटों के द्वारा उकसाये-भड़काये जानेवाले ये भेद और विद्रूप होकर सामने आयेंगे, क्योंकि भटकी-बहकी राजनीति, वैसी हो शासन-दुरवस्था और नीतियों के कारण हो, चाहे लोकतन्त्र की विडम्बना के परिणाम-स्वरूप विविध असंख्य छोटी-बड़ी अस्मितायें जाग उठी हैं इस कारण हो, इन सबका एक राष्ट्रीय अस्मिता के साथ समन्वय साधने की किसी ने कोशिश नहीं की है, इसका रास्ता नहीं खोला है, उन्हें **Canalise** करने का उपाय नहीं किया गया है, इसलिये अब यह टकराव टाला नहीं जा सकता। अपने सामने दिन बड़े संघर्षमय हैं। इन संघर्षों को विधायक व शान्तिपूर्ण बनाने का पुरुषार्थ करने वाले कोई होंगे तो कुछ आशा है, नहीं तो भारत के सामने दिन अच्छे नहीं हैं। यह संघर्ष क्या स्वरूप धारण करेगा नहीं कहा जा सकता। उसमें धर्मनिरपेक्ष राज्य-व्यवस्था की आहुति पड़ेगी ? राष्ट्र की एकता की आहुति पड़ेगी ? या मानवता और मानवीय मूल्यों की आहुति पड़ेगी ? आज कहना मुश्किल है। लेकिन यदि व्यक्तियों के चित्त में भी यह सवाल उठता है तो वे कम से कम अपने-अपने जीवन में व्यक्ति-स्तर पर तो मानवता, भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीय नागरिकता को बचा ही सकते हैं। निजी जीवन में तो इतनी शक्ति धारण कर ही सकते हैं कि जाति या धर्म सम्प्रदाय के नाम पर मनुष्यों के प्रति व्यवहार में भेद-भाव न रखें। हमें कोई उन्मत्त, बेहोश, नासमझ न बना सके। इतनी शक्ति अपने भीतर विकसित व धारण की जा सकती है।

यह शक्ति अध्यात्म की समझ में से अनायास खिल सकती है ऐसा विश्वास है। अध्यात्म ने ही मुझे बचा लिया है। मुझे ऋग्वेदी ब्राह्मण कुल में जन्म मिला। वेदों से प्रेम है, वेद-वाणी पर श्रद्धा है। ब्राह्मणत्व ने वाणी की शुद्धि सिखाई, चिन्तन-शुद्धि सिखाई, विचार का महत्व सिखाया। मैं उस कुल की ऋणी हूँ। हिन्दू समाज में जन्मी हूँ। हिन्दू

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने में मुझे कोई लज्जा नहीं। सनातनी हिन्दू परिवार में पलने से मेरी चेतना को कोई आँच नहीं आई। मानवता का 'नन्दा दीप' (अक्षय प्रदीप, आकाश दीप) मेरे हृदय में जलाने से मुझे किसी ने रोका नहीं, न हिन्दू समाज ने रोका, न ब्राह्मणत्व ने रोका, न परिवार ने रोका। हृदय में मानवता का अक्षय प्रदीप जलाये हुए वैयक्तिक जीवन-साधना करने में या जो भी सत्संगी, जिज्ञासु, स्नेही मित्र आये उनके साथ सामुदायिक रूप से मानवता की आराधना करने में मुझे किसी समाज ने रोका नहीं। कोई भी समाज, आप की चेतना को बन्दी नहीं बना सकता है और वेदोपनिषदों पर आधारित हिन्दू समाज तो कभी बन्दी नहीं बनाता।

प्रश्न—यहाँ हम अनुभव कर रहे हैं कि प्रत्येक प्रश्न के शब्दों को लेकर उनका आशय पकड़ते हुए आप का प्रतिसाद रहता है। क्या यह कला हम भी सीख सकते हैं? इसी तरह जीवन के हर सवालों की ओर हम देखते चलें तो सभी सम्बन्ध सुलझते जायेंगे।

उत्तर—भाई! सीखना चाहोगे तो ज़रूर सीख लोगे। यह किसी व्यक्तिविशेष की बपौती या असाधारण क्षमता अथवा Privilege नहीं है। यह तो मनुष्यमात्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। The Consummation of the human growth into the state of yoga is the birth-right of every human being. आप भी अवश्य सीख सकेंगे। आप को यदि मेरे साथ चर्चा करना, सहचिन्तन करना यह सीखने के लिये उपयुक्त लगता हो, तो आबू या डलहौज़ी 'हमारी गली' में आइयेगा कुछ अधिक समय लेकर, ताकि अरस-परस परस्पर इतमीनान से बात हो सके। फिर भी अभी एक चाबी तो पकड़ा ही दूँ।

To be aware that reaction does not take an interrogative form (यह भान रहे कि कहीं आप की कोई प्रतिक्रिया ही तो प्रश्नात्मक रूप नहीं ले रही है?) अपनी प्रतिक्रियाओं को पहचानना सीखिये। उठती हुई प्रतिक्रियाओं को ही अपना विचार न समझिये। सम्बन्धों के बीच अपने व्यवहार में एक थोड़ी सी द्रष्टृत्व की कला सीख लीजिये। The art of remaining in the act of observation in the midst of relationships भीतर प्रतिक्रिया कैसे उठती है, इन्द्रियों को कैसे विवश बनाती है, पंगु बना देती है, इसे देखें, प्रतिक्रिया के पुजारी हम बने हुए हैं; सो पहले इस पूजा से मुक्त हो जायें। तब हमारा कोई भी कर्म प्रतिक्रिया का शिकार नहीं होगा, प्रत्येक कर्म हमारी समग्रता में से उगा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हुआ प्रतिसाद होगा, वह क्रिया-प्रतिक्रिया के स्तर का जवाब नहीं होगा। प्रतिक्रियायें मन के छिछले स्तर से उठती हैं। यदि हम इसके प्रति सावधान हो जायें तो चुनौती का प्रतिसाद हमारे भीतर गहराई में विराजमान जो स्वयम्भू प्रज्ञा और समझ Universal Organic intelligence है, जो जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिव्यक्ति (चींटी, कीट, पतंग) में भी स्थित है ही, वह क्रियाशील होती है। जब आप प्रतिक्रिया को देख लेंगे, उसकी पकड़ को पहचान लेंगे कि यह मुझे शिकार बनायेगी, क्रोध हो, ईर्ष्या हो, घायल अहंकार हो, वह मुझे प्रभावित, अभिभूत कर देगा तब मेरा प्रतिसाद असन्तुलित हो जायेगा। असन्तुलने अशुद्धिः। सन्तुलने शुद्धीकरणम्।

अपने रोज के व्यवहार में यह शुद्धि लायें कि कम से कम वाणी और काया से होने वाले कर्म प्रतिक्रिया से दूषित न हों। रोज जिया जाने वाला जीवन ही साधना बन जाना चाहिये। जीवन जीने का समय ही साधना की घड़ी है और जीवन जीने में, व्यवहार में जो सम्बन्ध आते हैं वे ही मुक्ति के अवसर है। सम्बन्धों से बाहर मुक्ति कैसे? सम्बन्ध हमें बाँधें नहीं, मुक्ति दें—यही तो करना है न! गति अपने भीतर की स्थिति को नष्ट न करे। मुँह से बोलते समय भी भीतर का मौन न टूटे। यही तो सीखना है! "योगः कर्मसु कौशलम्" अतः अपनी प्रतिक्रियाओं से अपना व्यवहार मुक्त बन जाय—इसे पहले साध लें। तब आप के सामने कोई भी समस्या आये, कोई भी सवाल आये, आप पहचान लेंगे कि "यह चुनौती आई, यह कठिनाई आई, यह लोभ हुआ, उसकी यह प्रतिक्रिया उठ रही है, लेकिन मेरा यह प्रतिसाद होगा।" प्रतिक्रिया और प्रतिसाद के बीच का मौलिक अन्तर आप पहचान पायेंगे कि प्रतिक्रिया आप के एक भाग की आंशिक क्रिया (Reaction is a movement of a part of you) है और प्रतिसाद आप की समग्रता में से निपजता है (Response is a movement of the wholeness of you)।

इसे आप दैनिक व्यवहार में जीने लगेंगे तो जिस 'कला' (प्रश्न की जड़ को पकड़ना) का उल्लेख किया है, उसे अनायास सीख सकेंगे। जब अपनी प्रतिक्रिया में ही आप की रुचि निहित (vested interest) होती है—कि "यह प्रतिक्रिया सही थी, ऐसी होनी ही चाहिये।" तो आप उसी में रत हो जाते हैं, अपनी प्रतिक्रियाओं की पूजा होने लगती है। उन्हीं को समर्थन देना, दलीलें पेश करना—यही जिन्दगी भर का धन्धा हो जाता है। वह बहुत अनर्थकारी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घ

सन्तश्री ज्ञानेश्वर के सम्बन्ध में

तथा

'विमल' जीवन-विषयक

प्रश्न—श्री ज्ञानदेव एवं 'ज्ञानदेवी' (श्री ज्ञानेश्वरी-गीता भावार्थदीपिका) के विषय में आप से कुछ सुनने की इच्छा एवं आशा है। वह पूरी होगी क्या ?

उत्तर—मेरे जीवन में, इस देह की सात वर्ष की आयु में श्री ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ मेरे हाथ में आया। तभी एक प्रेम सम्बन्ध श्री ज्ञानेश्वर–'ज्ञानराय' के साथ बना। जीवनसाधकों के लिये ज्ञानेश्वरी से श्रेष्ठ ग्रन्थ अभी तक मेरे देखने में नहीं आया। एक अनिर्वचनीय सम्बन्ध श्री ज्ञानेश्वर एवं ज्ञानेश्वरी के साथ अवश्य बना है; वह प्रवचन-व्याख्यान का विषय नहीं है।

भारत के अन्य प्रदेशों में ज्ञानेश्वर महाराज की मराठी भाषा में रचित श्री ज्ञानेश्वरी एवं अमृतानुभव का तथा अन्य अभंग, चांगदेव पासष्ठी आदि वाणी का परिचय नहीं है। जिनको महाराष्ट्र में जन्म उपलब्ध होने का सौभाग्य नहीं मिला किन्तु ज्ञानेश्वर महाराज की वाणी सुनने-समझने की इच्छा रही—उन लोगों की प्रेरणा से कभी कलकत्ता में, कभी वृन्दावन में, कभी आबू में, अहमदाबाद में, भावनगर में, तो कभी माधवपुर (जिला-जूनागढ़) में ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ हाथ में लेकर बैठी हूँ। कथाकार तो हूँ नहीं, न सङ्गीत का अध्ययन है। लेकिन वह ग्रंथ हाथ में लेकर अवश्य बैठी हूँ और जितना अर्थ अनुभव में उतरा है उतना जिज्ञासुओं के सामने रखा भी है। श्री अमृतानुभव ग्रन्थ का गुजराती में अनुवाद मैंने किया है, लेकिन ज्ञानदेवी-वाणी और श्री ज्ञानदेव के बारे में मैं कुछ बोलूँ यह आप कहें तो समझ में नहीं आता कि क्या बोला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाय। वे केवल योगी होते तो उनके योगाभ्यास के बारे में कुछ कहा जाता; केवल ज्ञानी होते तो उनके ज्ञान के बारे में कुछ कहना सम्भव बनता। केवल भक्त होते तो भक्ति के विषय में कुछ कहा जा सकता। किन्तु परम सत्ता या **'सत्य'** से योग की जितनी शाखायें हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोन या ध्यानयोग, लययोग, नादयोग आदि उपशाखायें होंगी उन पर समान प्रभुत्व रखते हुए अखण्ड महायोगी, कवि-चक्रवर्त्ती ज्ञानेश्वर थे।

उन्होंने कवीश्वर को शब्द-सृष्टि का ईश्वर कह कर वन्दन किया है; शब्द का सर्जन करने वाले क्रान्तदर्शी कहा है। भावार्थ-दोपिका के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता का व्याख्यान करते हुए उन शब्दों को 'चिद्रत्न-कलिका' कहा है। शब्द को पार्थिव धरातल से उठाकर 'चिन्मय के उन्मेष' कहा है।

"अमृता तेनि पैजा जिंकेन। एवीं रसिकें अक्षरें मेलवीन !"

अपनो मधुरता से [अमृत को भी जोत लें—ऐसे रसिक अक्षर लगाऊँगा !]—'रसिक' शब्द में श्लेष है। ['रसो वै सः' को प्रकट करने वाले, रस-भरे, माधुर्य-मय]।—ऐसी प्रतिज्ञा की है। अध्यात्म-विषय को जनभाषा (मराठी-प्राकृत) में कहना प्रारम्भ करने वाले क्रान्तिकारी ज्ञानेश्वर ने कहा—

"संस्कृत देवें केली। प्राकृत काँ चोरें निर्मिली ?"

[संस्कृत देव की बनाई हुई दिव्यभाषा है तो प्राकृत क्या चोरों ने बनायी है ? देव (भगवान्) के ही बनाये हुए मनुष्य प्राकृत भी बोलते हैं तो यह भाषा न्यून क्यों मानी जाय ?] इस तरह प्राकृत (जन-भाषा) को संस्कृत के समकक्ष स्थापित किया। उन ज्ञानेश्वर के विषय में हम क्या कह सकते हैं।

साहित्यिकों ने शृंगार रस को रस-राज कहा, ज्ञानेश्वर ने प्रतिज्ञा-पूर्वक शान्तरस को माधुर्य एवं अभिव्यक्ति की मृदुता द्वारा श्रेष्ठ बनाकर शृंगार को हरा दिया।

सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त पर समान अधिकार रखते हुए श्री ज्ञानेश्वर नाथ-परम्परा के प्रसून हैं। आदिनाथ शिव एवं अवधूत दत्त-आत्रेय से मत्स्येन्द्रनाथ-गोरखनाथ-चौरङ्गीनाथ-गैबीनाथ-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गहिनीनाथ से श्री निवृत्तिनाथ (श्री ज्ञानेश्वर के ज्येष्ठ भाई एवं गुरु) एवं उनसे श्री ज्ञानेश्वर में वह नाथ-सम्प्रदाय का हार्द-तत्त्व आया।

यह नाथ पन्थ काश्मीरी शैव-दर्शन से सम्बद्ध है। यहाँ "अनुपाय एव उपाय:" कहा गया है। आपका सहज स्वरूप ही आत्म-तत्त्व है; उसका बोध किसी बाहरी क्रिया-प्रक्रियात्मक उपाय से उत्पन्न नहीं करना पड़ता; 'घट-पट' आदि दार्शनिक विश्लेषण की खटपट नहीं करनी पड़ती, कोई बाह्य साधना नहीं करनी होती। अपने स्वरूप को जानना-समझना और उस बोध को प्रतिपल जीना होता है। जानना है और जींना है; बस इतना ही, ओर कुछ नहीं। इसलिये आत्मा का सहज उल्लास प्रकट होता है।

उल्लास शब्द के मूल में है लास्य, लास्य में निहित है लावण्य। आत्मा का लावण्य जैसे ब्रह्माण्ड रूप में व्यक्त हुआ है, वैसे ही मनुष्य-देह के रूप में भी वही प्रकट हुआ है। आत्मा का सहज उल्लास मनुष्य-जीवन की परम सार्थकता है यह भी ज्ञानराय ने अपने वाङ्मय में कहा है। योग-साधना का पूरा विवरण ज्ञानेश्वरी के छठे अध्याय में देख लीजिये तो भक्ति का आशय बारहवें अध्याय में समझा दिया है। गीता के सात सौ श्लोकों पर नौ हजार ओवियाँ लिख दीं ज्ञानदेव ने। कहने का कुछ छोड़ा ही नहीं उन्होंने। लोक-भोग्य, लोक-रञ्जक शैली में सब प्रकार का शिक्षण सहज ही दे दिया। शिक्षा को यदि सार्थक होना है तो वह रञ्जनात्मक एवं सहज सूचनात्मक (suggestive) होनी चाहिये।

Those who have studied the psychology of padagogy must be aware that suggestive way is the best way in education, not the direct training; suggestive provokes the initiative and the creativity of the person. [जो लोग शिक्षण का मनोविज्ञान जानते हैं, वे समझते होंगे कि शिक्षण में साङ्केतिक पद्धति ही उत्तम है, सीधा शाब्दिक शिक्षण का तरीका उतना सक्षम नहीं, सङ्केतात्मक शिक्षण विद्यार्थी के भीतर अभिक्रम जगाता है और उसमें छिपी-पड़ी सर्जनशक्ति को खुलने-खिलने के लिये प्रेरित करता है।]

ज्ञानराय के ग्रन्थों में यह सूचनात्मक सङ्केतों को बिखेरने का प्रचुर कौशल है। जहाँ-तहाँ सङ्केत बिखेर दिये हैं उन्होंने। मेरा साहस नहीं होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञानराय के बारे में प्रवचन-व्याख्यान करने का। शब्दों से उनकी वाणी को छूने में कुछ सङ्कोच-सा होता है। झिझक होती है, क्योंकि हमारे शब्द बड़े रूखे-सूखे हैं, और उनका प्रसाद, माधुर्य, लालित्य! क्या कहें! महाराष्ट्र की जनता इस वर्ष उनकी सप्तमशताब्दी का उत्सव मना रही है, उनसे सम्बन्धित 'पोस्टर' और डाक-टिकिटें निकाली हैं। लेकिन इससे अधिक आनन्द मुझे तब होगा जब घर-घर में श्रीज्ञानेश्वरी पढ़ी जायेगी। आप अमृतराय-मुकुन्दराय के प्राचीन मराठी-साहित्य तक भले न जायें, लेकिन मराठी भाषा का लावण्य देखना हो तो श्रीज्ञानेश्वरी का अध्ययन करें। कैसे थिरकते-इठलाते शब्द चलते हैं। शब्दों का लघुकरण-मृदुकरण, अपार सौन्दर्य 'मर्हाटो' (महाराज लिखते हैं) भाषा में कैसा कूट-कूट कर भरा है! इसे कम से कम महाराष्ट्र के घर-घर में सब देखने-आस्वाद लेने लगें तो मैं मानूँगी कि ज्ञानेश्वर महाराज के प्रति कुछ श्रद्धा व्यक्त की जा रही है।

प्रश्न—यह वर्ष श्रीज्ञानेश्वर महाराज की सप्तम शताब्दी का होने के कारण महाराष्ट्र में बहुत-सारे कार्यक्रम चल रहे है। वे सब मराठी में हो रहे हैं। पिछली बार यहाँ शिविर में आपने आश्वासन दिया था कि इस बार श्रीज्ञानेश्वरी पर मराठी में प्रवचन देंगी—वह स्मरण होगा। अब कृपया आपकी अन्तःप्रेरणानुसार ज्ञानेश्वरी-अमृतानुभव-चांगदेवपासष्ठी तथा अभंग आदि ज्ञानेश्वर-वाङ्मय पर मराठी में कुछ प्रवचन दें—ऐसी प्रार्थना है।

उत्तर—यदि मुझे मालूम होता कि इस बार संयम-सप्ताह के बदले श्रीज्ञानेश्वर-सप्ताह के रूप में ही शिविर करना चाहते हैं, तो शायद मैं आती ही नहीं। यह इसलिये नहीं कि ज्ञानेश्वर महाराज के प्रति मेरा प्रेम नहीं है, वे तो मेरे सर्वस्व हैं। लेकिन आप मेरी कठिनाई तो देखिये! मैंने उनके ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन किया नहीं है। किसी के पास बैठ कर पूछा भी नहीं, अर्थ जाना भी नहीं। बस प्रेम का विषय है पढ़ती चली आई। और पैंतीस वर्ष हो गये महाराष्ट्र से बाहर रहती हूँ। ग्रन्थ हाथ में लेकर उसके विषय में कुछ बोलना हो तो उसके लिये अधिकार चाहिये।

(····५ मिनिट मौन रह कर—)

अब क्या करें? (फिर मौन।)

(मराठी में बोलना प्रारम्भ, अनुवाद प्रस्तुत है)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारत में आजकल बहुसंख्यता का बोलबाला है। आप सब बहुसंख्य हैं और मैं एक मात्र अल्पसंख्य हूँ।....

महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वरी या अमृतानुभव पर यदि मैं मुँह खोलूँ तो महाराष्ट्र के विद्वद्वृन्द को, वारकरी सम्प्रदाय को, सम्भवतः बहुजन समाज को भी वह रुचेगा नहीं। मैं ज्ञानेश्वर महाराज को विश्व-धर्म की दीक्षा देने वाले, पञ्चम पुरुषार्थ के प्रेरक और मधुराद्वैत के प्रवक्ता के रूप में देखती हूँ। उनमें मानवता का आकाशदीप या प्रदीप-स्तम्भ प्रज्ज्वलित है, मानवता का महाकाव्य है।—यह कहूँ तो आपको अच्छा नहीं लगेगा। ज्ञानेश्वरी मनोरञ्जन-बुद्धिरञ्जन का माध्यम-रूप ग्रन्थ नहीं; वह तो स्वयं उन्हीं के शब्दों में "जीवन जीने का शास्त्र एवं मन्त्र" है। और हमें तो अपने जीवन पर कोई शासन पसन्द नहीं, चाहिये नहीं।

फिर क्या कहें श्री ज्ञानेश्वरी के विषय में।....(गाकर—)

"ॐ नमो जी आद्या ! वेदप्रतिपाद्या !
जय जय स्वसंवेद्या ! आत्मरूपा !!"

ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में ही सारा तत्त्व भरा है। इस प्रथम एक ओवी में ही ग्रन्थ की फलश्रुति कह कर ज्ञानदेव ने एक क्रान्ति कर दिखाई। श्री गणेश एवं सरस्वती के प्रति वन्दन बाद में आते हैं। पहला नमन है आद्य-आत्म स्वरूप को! **The causeless cause of the creation!** [विश्व-सृष्टि का जो कारणरहित कारण है] जिसकी स्वयं-सिद्धता का कोई प्रयोजन नहीं, कारण नहीं; जो सत्ता कार्य-कारण-भाव की चौखट में नापी या बाँधी जाने को तैयार नहीं। ऐसी आद्य-सत्ता को नमन है। वेद ने उसका प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया, पर सफल न हो सके। (गाकर—)

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति!....यन् मनसा न मनुते!

जो वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता, कानों से सुना नहीं जा सकता, मन द्वारा जिसका मनन नहीं हो सकता। प्राणों की भी जहाँ पहुँच नहीं—ऐसी उस सत्ता का प्रतिपादन या वर्णन करने में वेद विफल-असमर्थ रहे। इसीलिये—'नेति-नेति' (जो इतना ही नहीं, जो यहीं नहीं, जिसका कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समापक बिन्दु नहीं)—कहने लगे। ऐसी उस सत्ता को प्रथम नमन किया गया, देवी-देवताओं को नहीं।

उपासना के लिये मनुष्य ने 'ईश्वर' गढ़ा है, देवी-देवताओं के रूप बनाये हैं, मूर्त्तियाँ बनायी हैं, मन्दिर एवं उपासना-अर्चना की रीतियाँ बनाई हैं; उनका निषेध नहीं है। उपासक भले वह करते हैं। किन्तु सत्य-शोधक के जीवन में बीच-बीच में रुकने-थमने से काम नहीं चलता। उसे तो सर्वरूपों में सर्वाकार होकर सर्वत्र विराजमान जो सर्वाधार सत्ता है, उस पर पड़ा हुआ अवगुण्ठन हटाना होता है। इसलिये ज्ञानराय ने क्रान्ति-पूर्वक यह मङ्गलाचरण किया—ॐ नमोजी आद्य! वेदप्रतिपाद्य! जय-जय स्वसंवेद्य! जहाँ अपनी सत्ता का संवेदन सहजशील है, जहाँ ज्ञातृत्व या ज्ञात क्रियारूप नहीं, गत्यात्मक नहीं। पानी का बहना आपकी-मेरी गति जैसी गति नहीं है। प्रवाहिता पानी का धर्म है, पृथ्वी की स्थिरता-स्थूलता-गुरुता धारणशीलता उसकी सत्ता का धर्म है, उष्णता-ताप और प्रकाश अग्नि का धर्म है। इसी तरह आत्मसत्ता का धर्म है स्वसंवेद्यता। स्वयं को जानना और संवेदनशीलता से देखना। **Perceptive sensitivity is not a quatity of that intelligence, even the ingredient word does not satisfy.**

वहाँ स्वयं को स्वयं जानना या देखना क्रिया नहीं। वह सत्ता निरवयव है। अतः उसका एक अंश देखने वाला, एक दिखने वाला और एक के द्वारा दिखना—ऐसा विभाजन नहीं हो सकता।

"जय जय स्व संवेद्य! आत्मरूप!"

ऐसा जिन्होंने नमन किया उनका कौतुक (प्रशंसा, अहोभाव) करना उनकी बुद्धि की विराट्-विशाल-सूक्ष्मता का मुक्तकण्ठ से गुण-गाना अलग बात है, पर क्या उस वाणी को अपने जीवन में जीना रुचेगा आप को? उस सत्ता के साथ अनुसन्धान साध कर जीना अच्छा लगेगा? **No sense of belonging to a community or a religion, to a territory, to a nation**—(किसी समाज, समुदाय, धर्म, क्षेत्र या देश के साथ जुड़ा होना या उस पर आश्रित होने में प्रतीत होती सुरक्षा)—यह सब चित्त से निकाल देना आप से बन पायेगा? क्योंकि तब वहाँ 'अहं' और 'मम' नहीं रह सकेंगे। आप को तो दोनों चाहिये न! 'अहं' बरकरार रहे और 'मम' का क्षेत्र भी बना रहे। जो हमें 'चाहिये' वही हमारी वास्त-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विकता (actual reality) है यह हमें पहचानना होगा। इसीलिये मैं श्री ज्ञानराय के विषय में महाराष्ट्र में या अन्यत्र कहीं भी मुँह खोलती नहीं। हाँ, अन्यभाषियों के प्रति (जिन्हें महाराष्ट्र में जन्म-निवास मिला नहीं) कहती हूँ कि ऐसे एक बालसन्त ज्ञानेश्वर महाराष्ट्र में हो गये हैं जो अध्यात्म के सभी पन्थों के सिद्ध शिरोमणि हैं। ज्ञानेश्वरी का अनुवाद सभी भाषाओं में हो यह भी मेरी इच्छा रहती है। हिन्दी और गुजराती में हो चुका[1]। प्रभु चाहेंगे तो अन्यों में भी कभी होगा।

श्री ज्ञानदेव ने जैसा मंगलाचरण किया, वैसे ही ग्रन्थ की पूर्णाहुति में 'प्रसाद-दान' क्या माँगा है ?—

तेणें विश्वात्मकें देवें। तोषोनि मज पसायदान द्यावें !

माँगकर भी क्या वे क्या अपने लिये कुछ माँगते ?

हे विश्व जया चे घर। हे मति जया ची स्थिर।
किम्बहुना चराचर। आपणाचि जाहला ॥

यह कोई औपचारिक उक्ति नहीं थी; वह ज्ञानराय का अपना जीवन था। वैश्विक दृष्टि, वैश्विक वृत्ति, वैश्विक जीवन। विश्वम्भर ही विश्वाकार हुआ है—यह जो प्रत्यक्ष देखते हैं, वे किससे क्या माँगेंगे ? 'यस्मान्नो द्विजते लोको....' इस (बारहवें अध्याय) की ओवियाँ देखिये। अद्भुत हैं। कहा है वहाँ—सागर में रहने वाले जलचरों को जैसे सागर से भय नहीं लगता, वैसे प्रभु-भक्तों को संसार-भय नहीं लगता। अब कहिये ! यदि हम 'राम-कृष्ण-हरि !' जप करते हों, विट्ठल ! विट्ठल ! बोलते हों तो हमें संसार से भयभीत होना चाहिये या नहीं ? (वह भय लगता है या नहीं यह पूछने का मेरा अधिकार नहीं), किन्तु हमें तो संसार का भय, चिन्ता आदि बनाये रखना अच्छा लगता है। इसलिये वह छूटता नहीं। अन्यथा—''माझिया भक्ता आणि चिन्ता ? काय राजया ची कान्ता—कोरान्नमाँगे ?'' उन्होंने भक्ति की व्याख्या की है—''जो पलभरीं नोहे विभक्त। तो म्हणावा भक्त !''

---

१. बंगाली में भी गद्य में बहुत सुन्दर अनुवाद प्रायः ७०-७५ वर्ष पहले हुआ था, जो अब अप्राप्य है। हिन्दी व गुजराती पद्यानुवाद श्र० विमलाजी के ही गिर्देशन में हुआ एवं विमल प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हैं, उपलब्ध है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसी भक्ति हमें सधेगी ? करना चाहेंगे ऐसी भक्ति ? भावना में कहीं उड़ते रहना और जीवन जीने में उन सब भाव-भावनाओं को अलग रखना—यह जो आन्तरविरोध हमारे जीवन में—भारतीयों के व्यक्तित्व में—खड़ा हो चुका है, उसका भान हमें होना चाहिये।

ज्ञानेश्वर महाराज ने वाणी का उपयोग किया पाखण्ड के अरण्य काट डालने के लिये, दुष्ट तर्कों का निरसन करने के लिये। ज्ञानेश्वरी में स्थल-काल-सापेक्ष उल्लेख नहीं हैं—यह मैं नहीं कहती, परन्तु उनका जो मूल निरूपण है, जो नींव है, उस तत्त्व से रत्ती-भर भी सरकते नहीं वे !—वाणी अभंगों की हो, चांगदेव-पासष्ठी की हो, ज्ञानेश्वरी की हो या अमृतानुभव की, मूल अधिष्ठान एक ही है और वह कभी छूटता नहीं।

आप को तो कल की चिन्ता, परसों की चिन्ता, दस-बीस साल की चिन्ता करनी है, बीती हुई घटनाओं की स्मृतियाँ सँजोकर रखनी हैं और जब समय मिले तब उस पिंजरे को खोल-खोलकर देखना है कि मुझे कितने दुःख भोगने पड़े, क्या-क्या सुख मिले ? मैं कैसा था ? मैंने किसी के लिये क्या किया, किस-किसने मेरे लिये क्या किया ? क्या कब नहीं किया ?····इत्यादि। और ये ज्ञानेश्वर महाराज तो आप को 'दिक्काल के परे' ले जायेंगे तो फिर क्या बनेगा ?

(कुछ मिनिट मौन) लीजिये ! न-न करते हुए भी आप ने मुझसे मराठी में ज्ञानेश्वर महाराज के बारे में कुछ बुलवा ही लिया।

खलांची व्यंकटी सांडो ! तयाँ सत्कर्मी रति वाढो !

इसका केवल शब्दार्थ न लें। यह इसलिये कहती हूँ कि महाराज ने जो शब्द-प्रयोग किया है, उसमें शब्दार्थ के पीछे गूढार्थ, रूढार्थ, यौगिक अर्थ सब देखे जायें तब कहीं 'एक तरी ओवी अनुभवावी !' (एक भी ओवी अनुभव की जाय)—वहाँ पहुँचा जा सकता है।

ज्ञानराय यह नहीं कहते कि पृथ्वी पर जितने खल-दुष्ट लोग हैं उन्हें मार डालो, ख़तम कर दो ! अहिंसा क्या है—यह सीखना हो तो ज्ञानेश्वरी पढ़नी चाहिये लोगों को। प्रेम की मृदुता-कोमलता क्या है—जानना हो तो ज्ञानेश्वरी देखें। वे कहते हैं कि जिनको बुद्धि वक्र हो गयी है, जिनकी बुद्धि को राहु-केतु जैसे दुष्टग्रहों की तरह कुटिलता ने पकड़ लिया है—उनका वह बुद्धि का ग्रास हटे, वक्रता बुद्धि को छोड़ दे। उनका वह संकट दूर हो और सत्कर्म में उनकी रति बढ़े। सत्कर्मों के प्रति उन्हें सहज प्रेम हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अशुभ की निवृत्ति हो और शुभ का वरण हो। उनके जीवन में यह घटित हो। जिनकी बुद्धि एवं वृत्ति ने स्वयंवर करके शुभ-सत्य-सुन्दर-शिव का वरण न किया हो वे परमात्मा की शरण नहीं जा सकते।

इसलिये महाराज ने कहा कि सत्कर्म में उनकी रति (प्रेम, लगाव) बढ़े। तब संकट दूर होगा ही। यह संकट दूर होने का कितना गहरा अर्थ महाराज ने लिया है, इसे एक ही ओवी से हम समझ सकते हैं।

भूताँ परस्पर जडो। मैत्र जीवाँचे।

सवमें परस्पर मैत्री हो। मित्रता अर्थात् पारस्परिकता। **Mutuality, reciprocity is the essence of friendship** भूतमात्र में परस्पर मित्रता होना, हार्दिक पारस्परिकता होना—यही जीवन में शान्ति का रास्ता है—यह सब समझाना चाहते हैं महाराज।

प्राणीमात्र में, मनुष्यों में ही सही—यदि प्रत्येक के हृदय में परस्पर स्नेह, बन्धुता, सगापन आ जाय तो आज की जो अर्थनीति-राजनीति हैं वे ढह जायेंगी। ये तो सभी तंत्र एक-दूसरे के शोषण की ही नीति पर खड़े हैं। क्या हम ज्ञानेश्वरी या सन्तवाणी को अपने जीवन में जीना चाहते हैं? धर्म को जो अभिप्रेत है, अध्यात्म का जो आशय है, उसे हम अपने जीवन में जीना चाहते हैं क्या? वह जीना हो तो आज की सारी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्थायें चरमरा जायेंगी। यदि परस्पर शोषण न करना हो, किसी को पीड़ित करके या धक्का मारकर खुद आगे न निकलना हो, अपनी ही जेब में सुख-सामग्री न भरनी हो, किसी को अपने से नीचा न दिखाना हो—बल्कि—समुद्र में जलचरों की भाँति किल्लोल करते हुए सबको साथ जीना हो, उनसे भी आगे बढ़कर मनुष्य के नाते सबको परस्पर प्रेम, मैत्रीभाव का आनन्द पाना हो, परस्पर उन्नति में सुख-समृद्धि अनुभव करनी हो, सम्पूर्ण सृष्टि में सचराचर सभी कुछ के साथ एक कुटुम्ब का भाव जीना हो तो फिर मनुष्यों की सारी समाज-रचना और व्यवहार-व्यापार की नीतियाँ बदलनी होंगी, समूचे ढाँचे एवं व्यूहरचना को बदलना होगा।

पर, वह हमें कहाँ करना है? हमारे सामने श्री ज्ञानेश्वर महाराज की वाणी हो या बुद्ध-महावीर की हो; उस वाणी को हम केवल बुद्धि का विलास, कल्पना का शृंगार बनाकर रखना चाहते हैं। चर्चा करेंगे, गोष्ठियाँ करेंगे, समारोह करेंगे कि ज्ञानेश्वर महाराज कैसे थे, क्या-क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहा उन्होंने। लेकिन जीवन में उससे हमें क्या लेना-देना। ऐसा हो तो व्यर्थ है। हाँ, उस दिशा में कदम-दो कदम भी चलने की अपनी आन्तरिक तैयारी हो तो अवश्य ज्ञानेश्वर-वाणी का अध्ययन करें। महाराष्ट्र पर बड़ी जिम्मेवारी है। महाराष्ट्र का सन्त-साहित्य इतना समृद्ध, ठोस एवं गहरा है कि उसका अध्ययन किया जाय तो साम्यवाद-समाजवाद आदि कुछ भी अलग से पढ़ने की ज़रूरत नहीं।

शान्तरस द्वारा श्रृंगार को जीतने की जो अभिलाषा ज्ञानराय ने अभिव्यक्त की थी उसके बिखरे हुए उदाहरण ज्ञानेश्वरी में वहाँ-वहाँ मिलते हैं जहाँ वे अपने श्रीगुरु के विषय में एवं प्रभु (वासुदेव) के विषय में या अर्जुन एवं वासुदेव के सख्यस्नेह के विषय में कुछ कहते हैं। १२वें अध्याय की पहली १०-१२ ओवियों में वन्दन के समय उन्होंने श्रीगुरु की कृपादृष्टि को वन्दन किया है।

"श्रीमते! अम्बे! निजजनकल्पलते!...."

ऐसे-ऐसे सम्बोधन किये हैं। श्रीगुरु को ही नहीं, उनकी कृपादृष्टि को ऐसा वन्दन करने वाले की सुकोमल रसिकता का आकलन-दर्शन-स्पर्श हम कैसे कर पायेंगे कहिये? 'ज्ञानमुद्राय कृष्णाय' कहते हैं, हमारे ज्ञानराय की तो सजीव ज्ञानमुद्रा ही थी।

उन 'ज्ञानमुद्राय प्रेमसमुद्राय श्रीज्ञानेश्वराय नमो नमः ॥

वह कृपादृष्टि जिसे स्पर्श करती है उसके चित्त को विषयव्यालों की लपेट से कैसे मुक्त करती है—यह देखें!

That romance is a subtle world. The romance between the enquirer and the man who is living understanding. The dance of the transformation of the dimensions of consciousness. (जिज्ञासु और अनुभवी का प्रणय, चेतना के आयामों के परिवर्तन-संक्रमण-उत्क्रान्ति का महारास) जो केवल अनुभव-गम्य है, उसकी सुमधुर-सुकोमल मृदु झाँकी ज्ञानराय की संकेत-मय वर्णन-शैली में मिल जाती है। ग्यारहवें अध्याय में उसे देखें। पर उसे झेलने की क्षमता आँखों में होनी चाहिये। नहीं तो अपनी क्या हालत है (अक़बर इलाहाबादी) शायर के शब्दों में कहूँ तो—

"मयख़ाने ए हस्ती में अक़बर मैं अपना ठिकाना भूल गया।
या होश में जाना भूल गया या होश में आना भूल गया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बेहोशी हमारी क्या कहिये ?
एक जाम जो आया था हम तक, वह जाम उठाना भूल गये ।
सोचा था उन बाँहों से हम लायेंगे रंग-ए बहारों को।
तक़दीर तो अच्छी थी लेकिन हम आँख मिलाना भूल गये ।"

लेकिन अपनी आँखें तो भिड़ाने (लड़ने) के लिये हैं, मिलाने के लिये नहीं हैं।

इस तरह गुरुकृपादृष्टि द्वारा अकाल, कालातीत क्षण व क्रम (timeless moment) में क्या कैसे घटित होता है, फिर वह कृपादृष्टि जीव-चेतना को आधारचक्र से उठाकर हृदयचक्र तक लाकर हृदयाकाश में जो झूला-पालना है उसमें कैसे साधक को झुलाती है, अनाहत की लोरी गाती है, ब्रह्मरन्ध्र तक वह दृष्टि कैसे जाती है, उसका रोम-रोम पुलकित करने वाला वर्णन है। आखिर श्रीनिवृत्तिनाथ कहते हैं—"बस, बस ज्ञान-देव अब रहने दो, बहुत न बोलो ! अब ग्रन्थ का विषय कहना प्रारम्भ करो !" तब कहते हैं "जी, जी, गुरुकृपा का महाप्रसाद मिल गया, अब ग्रन्थ कहना प्रारम्भ करता हूँ।....."

बड़ नखरे हैं हमारे ज्ञानराय के। लखनवी अदायें सब फोकी पड़ जाती हैं उनके सामने। बड़े भाई सामने बैठे हैं; वे ही श्रीगुरु भी हैं, उनकी सम्मुख उपस्थिति में गीता का भावार्थ बड़े-बड़े पण्डितों एवं जन-समुदाय की भरी सभा में कहना है। नटखटपना भी कम नहीं; कहा है कि "अर्जुन बड़ा मन्दबुद्धि रहा होगा जो उसे समझाने के लिये अठारह अध्याय कहने पड़े, प्रभु को कितना श्रम करना पड़ा होगा ! अर्थात् अर्जुन की जगह मैं रहा होता तो बहुत थोड़े में ही सब समझ गया होता।"..... यहाँ नम्रता का अर्थ दीनता नहीं है। 'मो सम कौन कुटिल, खल, कामी' .....का झंझट नहीं है। आत्मविश्वास का हुंकार है। भक्ति में दीनता हो ही नहीं सकती।

"तुका म्हणे आम्ही विट्ठलाचे दास।
केला पिण्डीं ग्रास ब्रह्माण्डांचा ॥"

[तुकाराम कहते हैं हम विट्ठल के दास हैं, पिण्ड में ब्रह्माण्ड लिये बैठे हैं]—ऐसी खुमारी है भक्ति की।

यह अद्वैताधिष्ठित भक्ति है, 'वेदान्ताभ्यास से जड़मति और व्यावृत्त-कौतूहल' रूक्ष वृत्ति और शुष्क जीवन नहीं है। अध्यात्म यदि जीने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्द का अपहरण करता हो तो उस अध्यात्म का कोई प्रयोजन नहीं। विषयानन्द का परिष्कार करके आत्मानन्द में परिणत करता हो तो वह अध्यात्म काम का है। परिष्कृति कहते हैं, त्याग नहीं।

शुद्धीकरणे सन्तुलनम्। सन्तुलने एव आत्मप्रसादः।

"समत्वं योग उच्यते" कहा है न! वह समत्व सन्तुलन से आता है। "प्रत्यवायविक्षेपनिवारणार्थे साधना न तु प्राप्त्यर्थे" **Eliminate the imbalances and the impurities.**

अपना काम इतना ही है कि जीवन में जहाँ जो अशुद्धियाँ आई हों उन्हें हटा दें। पर हमें तो प्राप्त का मोल-माप चाहिये, प्राप्ति की तुलना चाहिये, प्राप्ति का अहङ्कार चाहिये। प्राप्ति और सिद्धियों का संग्रह चाहिये। फिर भला ज्ञानेश्वरी हमें कैसे रास आयेगी?

आप यह न मानें कि मराठी भाषा पर मेरा प्रेम नहीं, या ज्ञानराय के प्रति कोई भी उपेक्षा या अनास्था मेरे चित्त में है। पर अपनी मर्यादा (सीमा) की जानकारी होने के कारण इस काव्यमय, सङ्गीतमय तत्त्वज्ञान के ग्रन्थ को हाथ में लेकर उसके बारे में कुछ बोलने का साहस नहीं होता, जिसके एक-एक शब्द में ब्रह्माण्ड भरा है। फिर भी आपने मिल कर जो कुछ बुलवा लिया उसके लिये मैं आप सबको कृतज्ञ हूँ।

प्रश्न—सन्त ज्ञानेश्वर एवं उनके बहन-भाइयों ने बहुत ही कम वयस् में समाधि लेकर अपनी जीवन-यात्रा क्यों समाप्त कर दी होगी? उनके सदृश समाधिस्थ व्यक्ति जब विचरण करते हैं, कुछ कहते हैं, तो उनके सम्पर्क से मानव समाज का कल्याण होता है ऐसा देखा जाता है। गौतम बुद्ध, महावीर, यीशु ख्रीस्त,....जे० कृष्णमूर्त्ति तक ने नैसर्गिक या स्वाभाविक मृत्यु आने तक जीना जगत् को सिखाया। सन्त ज्ञानेश्वर एवं बहन-भाइयों के अल्पवयस् में सजीवन समाधि लेने में कोई विशिष्ट हेतु रहा होगा। यह मानने पर भी चित्त में प्रश्न उठना है कि क्यों ऐसा किया होगा?

उत्तर—प्रश्न ग़लत है। ज्ञानराय ने गीता 'भावार्थ दीपिका' तथा 'अमृतानुभव' इन दोनों ग्रन्थों द्वारा विश्व को जो दिया, उनके अभंगों (मराठी भजन पदों) द्वारा जो दिया गया उसे मानव अब तक पचा नहीं पाये हैं। जो कुछ देना था वह तो वे दे ही चुके थे। संन्यासी की सन्तान होने के कारण समाज-बहिष्कृत थे। गृहस्थाश्रम धारण करना नहीं था; समाज ने वह करने दिया भी न होता; भले ही पूजा की होती, पाँव पड़े

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होते। संन्यासी की सन्तान होने के कारण इन्हें गाँव से बाहर ही झोपड़ी में रहना और भिक्षा माँग कर जीवन-निर्वाह करना होता था; उसी 'दोष' के कारण इन बच्चों को यज्ञोपवीत देने को समाज के अग्रणी ब्राह्मण लोग धर्म-शास्त्री, तैयार नहीं हुए थे और इनके माता-पिता को तो देहान्त प्रायश्चित करने को कहा था, वह करने पर भी बालकों को उपनयन का अधिकार नहीं दिया था। ऐसा वह काल था। उस समय की सामाजिक परिस्थिति की ओर देखिये! उस पर हम आज की नैतिक व कानून-सम्बन्धी मान्यता-धारणायें कैसे लागू कर सकते हैं? वे चारों इतनी सम्पूर्णता एवं मधुरता से उस समय के देश-काल-परिस्थिति के अनुरूप जीवन जो गये कि ज्ञानेश्वरी या अमृतानुभव या अन्य वाचिक अभि-व्यक्तियों में कहीं भी कोई कटु शब्द नहीं है, किसी का भी खण्डन या निषेध नहीं है।

उनके जीवन का प्रयोजन पूरा हो गया था। शायद श्रीज्ञानेश्वरी सम्पूर्ण होने के बाद ही वे चल दिये होते, पर उनके गुरुदेव (एवं बड़े भाई) श्रीनिवृत्तिदेव ने कहा होगा कि "यह तो तुमने श्रीमद्भगवद्गीता पर टीका-व्याख्या लिखी; तुम्हें स्वयं जो जो कहना है, अपने जीवन के अनुभव का अमृत देना है, वह देना अभी बाकी है।" इसीलिये 'अमृतानुभव' लिखा। फिर तो कुछ करना शेष नहीं था। गृहस्थ होना नहीं था, ब्रह्मचर्याश्रम ही संन्यास की तरह जिया गया था। शास्त्र-मर्यादा तोड़ने की इच्छा नहीं थी। नन्ही-सी मुक्ता (बहन) ने चौदह सौ वर्ष के महायोगी चाँगदेव को उपदेश और ज्ञानदीक्षा दी थी—उसकी गरिमा व अधिकार की कल्पना कीजिये! तो, फिर किसलिये वे दुनिया में बने रहते? वासना, इच्छा कोई थी नहीं, जीवन में सन्तृप्ति-परिपूर्त्ति थी, जीवन-धारण का प्रयोजन पूरा हो चुका। विश्व को जो देना था वह दे दिया, पूरे विश्व के सर्वविध कल्याण का प्रसाद भी विश्वात्मक देव को सन्तुष्ट करते हुए माँग लिया। कहना था सो कह दिया।

हमें हर क्रिया के लिये हेतु की जरूरत होती है या 'क्यों' का सवाल उठता है क्योंकि अहैतुक सहज अपने आप में परिपूर्ण जीवन जीना हमें नहीं आता।

सहज-सहज सब कोइ कहै सहज हुए नहिं कोइ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमें सब कुछ के लिये कोई कारण चाहिये। मरने के लिये भी कारण चाहिये।

ज्ञानेश्वर महाराज की समाधि अकारण थी। वह उनका 'प्राण प्रयाणोत्सव' था। हम मरण को अशुभ मानते हैं, नकारात्मक, अभावात्मक मानते हैं। मरण-विषयक अस्वीकार का, संस्कारों का, आवेग-संवेगों का इतना बड़ा जाल हमारे चित्त में है कि वह हमारे प्रश्नों में इधर-उधर से झाँकता ही है। पर वहाँ तो सब शुभ-अशुभ झड़-पुँछ-मिट गया था। वे तो जन्म से ही चिर शुचिर्भूत थे। फिर, समाज को वे बहुत कुछ दे सकते हैं यह क्या उन्हें ज्ञात न था? बारह वर्ष वयस् में ही नौ हजार ओवीछन्दों में गीताभावार्थदीपिका के रूप में उन्होंने जितना दिया था समाज को, उनमें से नौ ओवियों का अर्थ भी यदि समझकर जीवन में उतारा जा सके आज भी, तो हमारा परम कल्याण हो सकता है।

आप ने जे० कृष्णमूर्त्ति का भी नाम लिया है इस सन्दर्भ में। भाई, अभी कम से कम पचास वर्ष और लगेंगे दुनिया को उनकी कही हुई बात समझने में! मनुष्य-जीवन के प्रति जो समग्रता की वृत्ति-दृष्टि (Wholistic approach to Human life) उन्होंने दो, उसे अभी समझा कहाँ है मानव समाज ने! आत्महत्या करना तो पलायन ही है जीवन से। यह शरीर यह जीवन तो अपने सत्त्व का बोध अभिव्यक्त होने देने के लिये मिला है। कभी न कभी (समय आने पर) तो यह स्वयं ही समाप्त होने ही वाला है, वह समय आये बिना हो, किसी दुःख-कष्ट की या ग़लतफ़हमी और समझ के अभाव की प्रतिक्रिया के रूप में किसी कृत्रिम उपाय से (ज़हर खाकर, फाँसी लगाकर, जलाकर, डुबोकर आदि) इस शरीर का प्राणों से संयोग काट देना बीभत्स है। समाधि में सौन्दर्य है, आत्महत्या बीभत्स है। समाधि में विसर्जन है, हत्या (अपनी या किसी की) में हिंसा है। ऐसी हिंसा न की जाय इसीलिये उसे पाप, गुनाह कहा गया होगा।

'विमल'-जीवन के सम्बन्ध में

प्रश्न—Can you tell us the various stages of evolution from your childhood to attainment of liberation, your approach, your own struggle साधना and so on. How was the enquiry born? Did you start the enquiry without motive?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तर—कचहरी के जाँच व गवाही के कठघरे (witnessbox) में क्यों मुझे खड़ा करना चाहते हैं ? यह 'लोक अदालत' है क्या ?

भाई ! यह सब जानकर आपको क्या मिलेगा ? संघर्ष (struggle) मेरे जीवन में रहा नहीं। साधना नहीं की ऐसा तो नहीं कह सकूँगी; लेकिन साधना का काल मेरे लिये संघर्ष का काल नहीं रहा। क्योंकि जो चीज़ समझ में आयी, उसको मैं जीती चली गयी हूँ; अपनी समझ को जीने के सिवा और कोई साधना मुझसे नहीं हुई। और समझने के बाद, उस समझ से दूर ले जाने की शक्ति—इस दुनिया की किसी परिस्थिति में, किसी प्रतिकूलता में, नहीं रही।....बहुत साधना शायद करनी भी नहीं पड़ी, क्योंकि मेरी माता के पिताजी एक बहुत उच्च साधक थे। उनके योग-गुरु थे अमरकण्टक के श्री स्वामी सीतारामदासजी महाराज, जो ठाकुर रामकृष्ण परमहंस के समकालीन थे; उनके कारण हमारे मातामह (वे'यादवजी महाराज' नाम से प्रसिद्ध थे) का रामकृष्णदेव के प्रति विलक्षण प्रेम जागृत हुआ। विदर्भ में एक प्रज्ञाचक्षु श्रीगुलाबराव महाराज हुआ करते थे, जो अपने को 'ज्ञानेश्वर-तनया' कहा करते। इन श्री गुलाबराव महाराज एवं श्री यादवजी में बड़ा स्नेह था, अक्सर श्री गुलाबराव महाराज अमरावती से विलासपुर और रायपुर चले जाते, जहाँ यादवजी रहते थे। अनेक साधु-सन्तों से उनका परिचय रहा। वे छत्तीसगढ़ के राजा कहलाते थे। उनके महल की छठी सातवीं मंजिल साधु-सन्तों के निवास के लिये सुरक्षित-आरक्षित एवं सज्ज रहती थी। कौन किस धर्म-सम्प्रदाय या जाति का है यह कभी पूछा नहीं जाता था। एक दल आता सप्ताह भर रहता, चला जाता, फिर दूसरा दल आ जाता। क्रम चलता रहता।

ऐसे वातावरण में जिसका जन्म हो उसे आनुवंशिक सम्पदा बहुत मिली हुई होगी, इसलिए जिज्ञासा का प्रारम्भ बहुत छोटी आयु में हुआ। "भगवत्सत्ता क्या है ?" "ईश्वर क्या है ?" "भगवान् कहाँ रहते हैं ?" "भगवान् कौन हैं ?"—ऐसे ही प्रश्न बाल-हृदय में उठा करते, और हम पूछा भी करते। ऐसा कम से कम पाँच वर्ष की आयु से स्मरण है। नानाजी ध्यान में बैठते तो बिना समझे हम भी बैठ जाते। बड़ा प्यारा लगता उनका मौन में बैठना, ध्यान में बैठना।

इधर हमारे पिताश्री (Agnostic, Rationalist) थे, (Rationalist Association of India) के मन्त्री भी रह चुके थे। सगुण-साकार प्रभुरूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर उनका प्रेम नहीं था। पिताजी के कारण हर चीज़ को समझने की, समझ कर ही करने की प्रेरणा मिली। वे कहते थे कि जो चीज़ समझ में नहीं आयी, उसे स्वीकार मत करो; और जो बात समझ में न आई हो वह दूसरों से न कहो! "वाचि वीर्यं ब्राह्मणानाम्" (ब्राह्मण का बल वाणी में ही है, अतः उसे शुद्ध रखो) अनुभूत शब्द ही दूसरों के सामने कहो, अननुभूत का अध्ययन करो।"—इस तरह सत्य की दीक्षा पिताजी से मिली। हम सात वर्ष के थे तभी पिताजी ने एक बात कह दी थी कि "किसी मनुष्य को गुरु मत बनाना। जीवन ही गुरु है और प्रभुसत्ता तुम्हारे हृदय में हैं; वही तुम्हारा मार्ग दर्शन करेगी।"....कन्या का शरीर था, पिताजी को भय था कि कहीं किसी सम्प्रदाय में, मठ में चली जायेगी, विकास रुक जायेगा। इसलिये उन्होंने हमसे इतना आश्वासन लिया था कि किसी 'व्यक्ति' को 'गुरु' के रूप में स्वीकार हम नहीं करेंगे। पूरी स्वाधीनता थी भारत-भर घूमने की; मठ-मन्दिर या कोई भी श्रद्धा-स्थान देखने की, सन्तों-महन्तों-फकीरों से मिलने एवं प्रश्न पूछने-चर्चा करने की। "जहाँ चाहो जाओ, सब देखो, सब सीखो, बस—**Do not commit yourself to a person !**"....

बहुत घूमना हुआ। इसमें स्वामी सीतारामदासजी महाराज जैसे, सन्त तुकड़ोजी महाराज जैसे हितेच्छु-शुभेच्छु मिले, जिन्होंने कभी शिष्य बनाने की कोशिश ही नहीं की। लेकिन मदद करते रहे जीवन को समझने में। स्मरण ऐसा है कि जीवन के प्रथम पचीस वर्षों में विभिन्न पन्थों-सम्प्रदायों के, हिन्दू-मुसलमान, क्रिश्चियन, बौद्ध, जैन, सूफ़ी....प्रायः एक सौ एक सन्तों से सम्बन्ध आया था। क्योंकि दूसरी कोई लगन ही नहीं थी। दिल चुरा लिया था प्रभु ने, आँखें भी, और कहीं मन नहीं जाता था। पिताजी को आश्वासन दिया था कि **M. A.** तक पढ़ेंगे, सो पढ़ लिया ताकि कहीं भीख न माँगनी पड़े, आत्मनिर्भर जीवन हो सके।

इसलिये साधना में संघर्ष क्या होता है—पता नहीं। समझने को बुद्धि तत्पर थी, दिल प्रभुसत्ता पर आशिक था।....

"आशिक हैं तेरे नूर पर दीवाने बने बैठे !
पैदा न होता दर्द कभी मेरे रूह के खजाने में,
सिर काट कर तेरे द्वार पर सरदार बने बैठे !"

ऐसी दीवानगी और समझदारी दोनों का समन्वय था। समझदारी ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कभी धोखा नहीं दिया, और दिल में जो प्रभुसत्ता के प्रति असीम प्यार है, उसकी खुमारी ने भी कभी धोखा नहीं दिया। नशा (intoxication) नहीं रहा, लेकिन उत्कटता Ecstasy रही। बस समझ को जीने लगे, उसी क्रम में जितना कुछ पढ़ना-लिखना हुआ वह होता रहा। किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति के पास बैठकर पढ़ना नहीं हुआ। संस्कृत भाषा का अध्ययन बस दसवीं कक्षा (High school) तक हुआ था। बड़ी ख्वाहिश रही वेद-उपनिषदों को देखने की, ब्रह्मसूत्र के अध्ययन की, लेकिन तब कोई शास्त्री तैयार नहीं होता था; स्त्रियों को वेद पढ़ाना-ब्रह्मसूत्र पढ़ाना मना माना जाता था। मुझे स्मरण है वाराणसी में अनन्तकृष्ण शास्त्री फड़के जी के प्रसङ्ग का। दादा धर्माधिकारी हाथ जोड़कर उनके पास गये थे कि "हमारी यह कन्या जन्मसिद्ध ब्रह्मचारिणी है; आपके पास ब्रह्मसूत्र पढ़ने की इसकी इच्छा है....." फड़के जी ने कहा—"ऐसा शास्त्रविरोधी कर्म हमसे नहीं होगा।"

उस समय हम भूदान में काम कर रहे थे। आखिर एक बार विनोबा जी से कहा "बाबा! आप हमें ब्रह्मसूत्र पढ़ायंगे?" उन्होंने झट कहा "हाँ हाँ!" पूछा "कब पढ़ायेंगे?" बोले—"कल सुबह साढ़े तीन बजे!" ठीक। सुबह साढ़े तीन बजे पदयात्रा आगे चलती थी। सो विनोबाजी के साथ चलना हुआ। ग्रन्थ न उनके हाथ में, न हमारे हाथ में। मुख से ही कहते चले— '.....चारों अध्यायों में ५०० से अधिक सूत्र हैं, उनमें प्रधान सूत्र २२५ हैं, बाकी गौण हैं; प्रधान सूत्रों में भी मुख्य ये....हैं। उनका आशय यह है....." विनोबाजी बोलते चले गये। ऐसे लगभग डेढ़ घण्टे तक ब्रह्मसूत्र सिखाना चला होगा। प्रायः ८-१० मील चलकर जब पड़ाव पर पहुँचे तब कहा कि "विमलानन्द! आज जो कुछ सिखाया है उसे लिख डालो। मुझे दिखा दो।" शाम को जब सब लिखकर उन्हें दिखाया तो बोले—"हम मानते थे कि तुम मन्दबुद्धि नहीं हो, पर तुम मन्दबुद्धि निकले—तुम्हारी तीन भूलें हुई हैं....." वह भूलें थी केवल क्रम में, कि जो मुद्दा उन्होंने पहले कहा था वह बाद में लिखा गया था, मुद्दे कुछ आगे-पीछे हो गये थे। इसी पर विनोबाजी ने कहा था कि "यह क्रम में भूल क्यों हुई? श्रवण तो क्रम में हुआ था! तो ग्रहण कैसे क्रमशः नहीं हुआ?" विनोबाजी के पास, भूदान-आन्दोलन में, अनेक भाषायें सीखना हुआ। किसी भी भाषा को सीखने में छह हफ़्ते से ज्यादा समय नहीं लगना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहिये ऐसा कहते थे। हिन्दी, तमिल, असमी, उड़िया, उर्दू, आदि सीखना हुआ था।—खैर!

आपने तो साधना का क्रम पूछा है। पर इसमें आपको कोई रस नहीं आयेगा, क्योंकि यहाँ कोई तनाव नहीं, दबाव नहीं। कोई प्रतिज्ञा लेना, व्रत लेना, संघर्ष करना है ही नहीं। यह तो अलूना (नमक-बिना) भोजन है। कोई संकल्प नहीं किया कि ब्रह्मचर्य धारण करना है। सहज ही वह अवस्था रही। १९५८ में विनोबाजी ने ब्रह्मचारिणी कन्याओं के लिये आश्रम बनाया—ब्रह्मविद्या मन्दिर; मैं कहीं असम में थी, मुझे बुलाया, कहा—"विमलानन्द! यह ब्रह्मचारिणियों के लिये आश्रम बनेगा, आप इसकी अधिष्ठात्री बनिये।" मैंने कहा—"बाबा! आपको किसने कहा कि मैं ब्रह्मचारिणी हूँ? मैंने तो कोई संकल्प नहीं किया है, कोई व्रत नहीं लिया है, और भविष्य का मैं जानती नहीं हूँ।....."

ऐसे मैं तो एक अनाश्रमी, अदीक्षित व्यक्ति हूँ। हाँ एक तप ज़रूर हुआ है कि जो चीज़ समझ में आयी उसे जीने में मैंने देर नहीं लगाई। **No timelag between understanding and action, understanding and living.**

समझ और जीवन के बीच मेंने किसी को नहीं रखा, समाज को नहीं, माता-पिता को नहीं। यह बात अलग है कि माता-पिता आड़े आये ही नहीं, पर मैंने अपनी ओर से किसी को बीच में आने नहीं दिया। "समाज क्या कहेगा? कल क्या होगा? बुढ़ापे में क्या होगा?"—यह सोचा ही नहीं। वर्तमान के साथ जीने में इतना आनन्द था कि भविष्य का ख्याल कभी आया नहीं। ऐसा करते-करते उम्र कहाँ निकल गई पता नहीं।

आपने पूछा है कि क्या मैंने किसी भी हेतु-प्रयोजन (motive) के बिना ही जिज्ञासा प्रारम्भ की? भाई! वह हृदय की दशा 'जिज्ञासा' है यह भी तो बहुत बाद पता चला? नन्हें बालपन में ये शब्द कहाँ थे मेरे पास! बस आकर्षण हुआ और चल पड़े। इसी को 'साधना' कहते हैं यह तो जब कॉलेज में पढ़ने लगे तब पता चला। एक हृदय की निर्दोष प्रेरणा-अन्तःप्रेरणा को प्रमाण मानकर चल पड़े। निश्चय रखा कि समझ में आये उतना जीना है। आप विश्वास करें न करें, यकीन मानें न मानें, लेकिन (ज्ञानेश्वरी में वासुदेव मुख से जो कहा गया—) **"अर्जुना! आम्हां**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तांचे व्यसन। भक्त आमुचे निज ध्यान। ते कान्ता मी वल्लभ जाण !...."

इन वचनों की सत्यता हमने अपने जीवन में पायी है। जहाँ-जहाँ बुद्धि ठिठक जाती थी, बुद्धि कुछ रुक-सी जाती थी, कुण्ठित होती थी, वहाँ जीवन ऐसा कोई प्रसङ्ग, ऐसा कोई मौका ला देता, ऐसे किसी व्यक्ति से मिलना करा देता कि वह अवरोध, समझ की मर्यादा, या कुण्ठा दूर हो जाती। Life the master par excellence—has overwhelmed me, with love and compassion.

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

पूर्णाहुति-प्रवचन

(१)

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वत् भूतसमागमः ।।

काल का प्रवाह कभी हमें एकत्र लाता है, कभी पृथक् ले जाता है। जिस कालप्रवाह के कारण संयोग घटित होता है, उसी प्रवाह के कारण वियोग भी सामने आता है। ये संयोग-वियोग, मिलन-विरह जीवन-प्रवाह में उठने वाले सहज तरंग हैं।

देश की परिस्थिति इतनी गम्भीर है, ऐसे में इस प्रकार के सत्संग-शिविरों या संयम-सप्ताहों की कोई संगति या महत्त्व है क्या ? विभिन्न स्थानों से, विभिन्न जीवन क्षेत्रों से आये हुए सौ-पचास व्यक्ति कहीं एकत्र एक साथ रहें, प्रवचन सुनें, प्रश्न व्यक्त करके उत्तर सुनें, साथ-साथ आसन-प्राणायाम करें, मौन में बैठें; सबके एक साथ आहार-विहार की व्यवस्था बैठायी जाय—इस सबका क्या कोई महत्त्व है ? हाँ, मेरी दृष्टि से महत्त्व अवश्य है। युवाशिविर हो तो उसमें अधिकतर वे युवा लोग ही सम्पूर्ण आयोजन तथा व्यवस्था सम्हालते हैं। इसमें उनका सच्चा शिक्षण होता है। प्रौढ-वृद्ध व्यक्तियों के शिविर में, उन्हें अपने-अपने नित्य के कार्य-प्रवाह से निकलकर कुछ समय तक निश्चिन्त होकर अपने भीतर को समझने, सत्संग में रहने एवं भीतरी जीवन के विषय में सुनने-सोचने-समझने का अवसर मिलता है। इसमें औचित्य अवश्य है। ऐसे सत्संग शिविर मानों संस्कार-सिंचन के पर्व होते हैं। यह शुभ-संस्कार-सिंचन वाणी से, उपस्थिति से, सान्निध्य से घटित होता है। यदि व्यक्ति सावधान हो तो प्रवचन सुनने और खाने-पीने आदि से बचा हुआ समय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोने या प्रमाद में पड़े रहने में नहीं बिताता, बल्कि बीच-बीच में मिलते हुए खाली समय में वह उस दिन का सुना हुआ, समझा हुआ सब विचार लिख लेता है; मनोरम प्राकृतिक सौन्दर्य का आस्वाद लेता है, मौन रहते हुए सैर करने या अपने कमरे में ही मौन-ध्यान के अभ्यास में व्यतीत करता है। आज के विषम-काल में, जहाँ मनुष्य को दिन-रात तरह-तरह के दबाव-तनाव में रहना पड़ता है, जीवन-पद्धति क्रियाग्रस्त ही रखती है मनुष्य को, ऐसे माहौल में यदि वर्ष में एकाधबार सात-आठ दिन निरुपाधिक रूप से जीवन जीने को मिलें तो इसका बहुत महत्त्व है। जब कोई जिम्मेवारी न हो, हम किसी के न हों, कोई हमारा न हो—ऐसा मानसिक एकान्त मिलने पर वह सहन होता है या नहीं ?—यह परखने का भी अवग्रर मिलता है ऐसे शिविर में। आपने इन सात दिनों में क्या किया ? इसका मुझे पता नहीं है, अवसर का लाभ उठाया, सदुपयोग या अपव्यय किया—यह आप जानें, आपका अन्तर्यामी जाने।

ऐसा सत्सङ्ग करने की पद्धति विदेशों में नहीं थी। जहाँ तक मेरी जानकारी है, वहाँ तक स्वामी विवेकानन्द ने १८९२ में अमेरिका, योरोप में प्रारम्भ की। उससे पहले १८७५ मे जो ब्रह्मविद्या-भ्रातृसमाज Theosophical Society for Brotherhood मैडम ब्लॅवेड्स्की ने स्थापित किया था उसके अन्तर्गत कुछ मित्र-मिलन जैसे आयोजित होते थे, पर उनका लक्ष्य अतीन्द्रिय जगत् की ओर अधिक था। स्वामी विवेकानन्द ऐन्द्रिय जगत्, अतीन्द्रिय जगत् के परे जो भगवत्सत्ता का अमृतमय साम्राज्य है—उस ओर लोगों को ले जाने का प्रयत्न करते थे। सत्संग सभा स्वामी विवेकानन्द की विश्व को दी हुई महती देन है ऐसा मुझे लगता है। पृथक्-पृथक् मठों-मन्दिरों में तो सत्संग पहले भी चलते थे किन्तु ऐसी सार्वजनिक एवं अनौपचारिक सत्सङ्ग-सभायें उनसे पहले विश्व में अपरिचित थीं।

'सत्सङ्ग' का अर्थ हम समझ लें। सत्सङ्ग में सद्वाणी का सङ्ग होता है, व्यक्ति का संग नहीं; व्यक्ति माध्यम है, वाणी द्वारा सत्य का निर्देश करने का वाहन है; सत्य-संकेत का वाहक है। सत्संग का पहला पथ्य है कि उसमें से व्यक्तिनिष्ठा न निपजे। क्योंकि हम यहाँ व्यक्ति का संग करने नहीं आते हैं। जो व्यक्ति सत्य का वाहक बन कर आता है, भगत्वसत्ता का प्रतिनिधि होकर आता हैं, उसके प्रति श्रद्धा स्नेह, समादर एवं कृतज्ञता प्रतीत होना स्वाभाविक है; किन्तु उसके अलावा व्यक्ति-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निष्ठा न निपजे इतना पथ्य वक्ता और श्रोता दोनों को पालना चाहिये। अनुपान और पथ्य का पालन न हो तो ओषधि का सम्यक् फल नहीं होता। यहाँ अनुपान है—जो कुछ सुना जाय इस पर भलीभाँति चिन्तन करना, वह हमें ग्राह्य लगता है या त्याज्य लगता है, कितना उपादेय लगता है इसका निर्णय करना। व्यक्तिनिष्ठा यदि चित्त पर हावी होती है तो उसमें से व्यक्तिनिष्ठ सम्प्रदाय बनते हैं ['सम्प्रदाय' शब्द का वास्तविक अर्थ है बोध का सम्यक् प्रदान; वहाँ व्यक्तिनिष्ठा का कोई स्थान नहीं, किन्तु उस अर्थ से उतर कर 'सम्प्रदाय'-शब्द का ग़लत अर्थ प्रचलित हो गया है किसी विशिष्ट व्यक्ति या पद्धति की कट्टरता] वह सम्प्रदाय धर्म-अध्यात्म के नाम पर मनुष्यों को परस्पर जोड़ने की अपेक्षा अलग कर देता है।

'सम्प्रदाय'—(A school of Philosophy or A school of Action) की आवश्यकता होती है क्या ? विशेष प्रक्रिया-पद्धतियों के लिये सम्प्रदाय (शुद्ध अर्थ में) आवश्यक होता है। जैसे कि हम हठयोग का अभ्यास करना चाहते हों तो किसी अनुभवी व्यक्ति से सीखेंगे, वह अपनी विशिष्ट पद्धति से सिखायेगा। विभिन्न आगमों के विभिन्न तन्त्र-मार्ग हैं, साधना की विभिन्न पद्धतियाँ हैं; जो मार्ग पकड़ा हो उसी के अनुरूप पद्धति एवं साधना-प्रक्रिया होगी। उसी के सातत्य की आवश्यकता है। इस तरह शास्त्रीय साधना-शिक्षण में 'सम्प्रदाय' अवास्तविक या अनुपयोगी नहीं। परन्तु यहाँ जैसे सत्सङ्ग में हम शास्त्र सीखने नहीं आते हैं। यहाँ शास्त्रों का विरोध नहीं है, किन्तु शास्त्रों का प्रामाण्य के लिये हुए, कोई शास्त्र सीखने नहीं बैठते हैं। हम यहाँ जीवन-जीने के विषय में चिन्तन करते हैं, बोलते-सुनते हैं। जहाँ पारस्परिकता (reciprocity, mutuality) हो ऐसा जीवन जीना, उसके अनुरूप समाज बनाना, इसमें अपना दायित्व समझना —इन सबका विचार हम यहाँ करते हैं। अध्यात्म में जीवन के सत्त्व-तत्त्व और जीने के प्रति सहचिन्तन हो सकता है, शास्त्र अपने स्थान पर हैं। उनका प्रामाण्य मानने या उनका विरोध करने की आवश्यकता नहीं है।

इसलिये सत्सङ्ग में व्यक्तिनिष्ठा को अवकाश नहीं होना चाहिये। क्योंकि व्यक्तिनिष्ठा में प्रवृत्त होने पर हम व्यक्ति की पूजा करने लगते हैं, उसके हलन-चलन-व्यवहार के ढंग, खान-पान-वेशभूषा-बोलने की शैली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि का अनुकरण करने लगते हैं। व्यक्तिनिष्ठा में व्यक्तिपूजा, व्यक्ति-प्रामाण्य फिर उस व्यक्ति के द्वारा निर्देशित संकेतित सत्य का अनुसरण न होकर व्यक्ति के बाह्य व्यवहारादि का अनुकरण होने लगता है। बड़ी घातक श्रृङ्खला है यह। पता भी न चले ऐसी रीति से आपके स्वातन्त्र्य का अपहरण हो जाता है। जिस स्वातन्त्र्य और मुक्ति की 'धगश' है भीतर, जिस स्वाधीनता व मोक्ष की भूख लिये हम घर से, अपने प्रारब्ध-प्राप्त जीवन के दायरों से बाहर निकलते हैं, वही खो जाती है क्योंकि हम व्यक्तिनिष्ठा-व्यक्तिप्रामाण्य के जाल में फँस जाते हैं। सत्सङ्ग में आने पर वैसा न हो जाय इसकी सावधानी रखनी चाहिये। उसकी संभावना की जानकारी रहने के कारण मैंने कभी असामान्यता के संकेतों को स्वीकार नहीं किया। 'साधु-सन्त'-'योगी'-'संन्यासी' ऐसे सम्बोधन अपने प्रति होने नहीं दिये। ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है—

"भीतर शाश्वत को पहचाने।
लोगों में उन जैसा व्यवहार करे॥
अलौकिक न बने, लोगों के प्रति॥"

निर्विकल्प समाधि के आयाम में जोते समय भी सामान्यता का ऐश्वर्य न छोड़ें, असामान्यता-असाधारणता अलौकिकता को व्यवहार में प्रकट न होने दें, इसीलिये मैं आप सबके प्रति व्यवहार में बड़ी सावधान रहती हूँ कि किसी के चित्त में व्यक्तिनिष्ठा न उपजे। आप भी इसके प्रति सावधान रहें यह प्रार्थना है। एक बार किसी के अनुरूप अपने को दिखाने, बनाने और अनुकरण के जाल में मनुष्य फँसता है तो बौद्धिक स्वातन्त्र्य तो चला ही गया समझें, साथ ही आत्म-अवमानना (self-humiliation) भी होती है। दूसरों की अनुभूति को हम अपनी चेतना पर लादने लगते हैं। "रामकृष्ण परमहंस को 'माँ' का जैसा अनुभव होता था वैसा ही हमें भी होना चाहिये।" ऐसा आग्रह चित्त में रहता है तो फ़िर 'वही दर्शन मुझे हो रहे हैं' यह भ्रान्ति सच जैसी प्रतीत होने लगती है। अपने आप पर अध्यारोप करने लगते हैं। "रमणमहर्षि को अरुणा-चलम् का जैसा अनुभव हुआ था वैसा ही हमें भी होना चाहिये। उन्होंने यदि पॉल ब्रन्टन या गणपति मुनि को अष्टावक्रसंहिता पढ़ने को कहा था तो हम भी वही पढ़ेंगे। रमण महर्षि विरूपाक्ष गुफ़ा में रहे थे, तो हम भी वहीं रहेंगे। जे॰ कृष्णमूर्त्ति को जिस तरह की अनुभूतियाँ होती थीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैसी हमें भी होनी चाहिये....।" तब तो फिर उनका यदि सिर दुखता था तो हमारा भी सिर दुखना चाहिये न !....यह मैं अपनी कल्पना से नहीं कह रही हूँ; ऐसे विभ्रमों में जीते हुए बहुत लोगों को दुनिया में देखा है। पिछले २५-३० वर्षों में प्रायः चालीस देशों में जाना, शिबिर, व्याख्यान, संगोष्ठियों में, व्यक्तिगत मुलाकातों (private interviews) में लाखों लोगों से मिलना हुआ है। हजारों लोग ऐसे देखे हैं जो दूसरों की अनुभूतियों का आरोपण स्वयं में किये हुए जीते हैं, अपनी सम्भावनाओं को खिलने का अवसर नहीं देते। भोलेपन से, भावुकता से नकल करने लगते हैं! उन अवस्थाओं का अभिनय करने लगते हैं। अभिनय जीवन नहीं होता। बल्कि जीवन से दूर-दूर होता जाता है। आध्यात्मिक अवस्थाओं के अभिनय में रहने या उन्हें अपनी अनुभूति मान लेने के कारण ऐसे व्यक्तियों के अपने जीवन की भयंकर दुर्दशा हो जाती है।

इसलिये सत्संग-सभा में हमें उस रास्ते नहीं जाना है। अपना बौद्धिक-मानसिक स्वातन्त्र्य कायम रहे। इसकी सावधानी रखनी चाहिये। किसी की छाया अपने व्यक्तित्व पर छाने न दें। मैं तो सर्वदा सावधान रहती ही हूँ कि साथी मनुष्यों पर मेरी छाया किसी भी प्रकार पड़ने न पाये। जितनी आवश्यकता हो उतना कह देना और दूर जाकर अपने निवास में एकान्त में रहना; किसी को पाँव न पड़ने देना, अपने प्रति किसी में आसक्ति न पनपने देना—ऐसे अनेक पथ्य बहुत चौकसी से पालती हूँ।

दूसरी बात, यहाँ से आप अपने घर जायेंगे, तब अपने-अपने घर, नौकरी, कुटुम्ब में आप को जीना है। सब कार्य सम्हालने हैं। यदि यहाँ आप ने केवल व्यक्ति का संग न करके, जो कुछ कहा गया उसके सत्त्व का संग किया होगा, कानों ने जो सुना उसे बुद्धि ने ग्रहण और चित्त ने धारण किया होगा, तो अपने घर में आप के जीवन जीने में वह सत्संग झाँकने लगेगा; व्यवहार उस सत्य-सत्त्व से सुरभित होंगे। सत्संग करना बड़ा तप है; केवल शब्द सुनना सत्संग नहीं, समूचे व्यक्तित्व को उसमें शामिल होना होता है। कानों ने ही शब्द सुने हों तो एक बौद्धिक धारणा, प्रतिबद्धता या अधिक से अधिक निष्ठा उत्पन्न होगी; समग्रता से सेवन नहीं हो पायेगा। अध्यात्म बच्चों का खेल नहीं है, बौद्धिक कमाई की क्रिया नहीं है, किसी भी धारणा-बद्धता या निष्ठा का सवाल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं है यहाँ। अध्यात्म में बौद्धिक सिद्धान्तों का स्थान नहीं है। It is the involvement of your whole being manifested in the texture of relatiouships from morning tlll night. आप की समग्रता दिन-रात सामने आये सम्बन्धों को जीने में प्रत्येक व्यवहार में अभिव्यक्त होती है। इसलिये यहाँ से जब आप घर पहुँचें तो सत्संग में जो भी सीखा, समझा, ग्रहण-धारण हुआ उसे अपने जीवन में बरतने लगियेगा। एक क्षण भी ग़फ़लत या शिथिलता में न रहें, व्यर्थ न गँवायें। लेकिन समझ को जीने की पद्धति सौम्य हो, आक्रामक न हो।

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्"

कुटुम्ब पर, साथियों पर अपनी समझ को लादना नहीं है, सत्संग का आतंक न फैलाये। सौम्यता से कह देखें, यदि जीवन-पद्धति में जो परिवर्तन करना आप को उचित लगता हो वह करने के लिये परिवार व साथी खुशी से राजी न हों, तो अपनी समझ को नम्रता एवं दृढ़ता से अपने व्यवहार में रखें, दूसरों से अपेक्षा न करें। सत्य को, समझ को दूसरों तक पहुँचाने का ढंग यदि उग्र हो तो कोई सुनने को तैयार नहीं होगा, बल्कि प्रतिरोध पैदा होगा। संवाद में आग्रह नहीं होता। निरूपण या प्रतिपादन में कभी आवेश भी आ जाता है पर संवाद में सहजता और भागीदारी का भाव रहता है। "यह मेरा सिद्धान्त है, मैं इसी के अनुसार आचरण करने वाला हूँ"—ऐसी घोषणा नहीं करनी होती। सहजता से, नम्रतापूर्वक स्वयं जीना आरम्भ कर देना चाहिये।

घर के लोगों को ग़लत-फ़हमी होगी या आप का सत्याचरण पसन्द नहीं आयेगा, तो उसे स्वाभाविक मानें, सह लें; कितने-ही प्रकार के संस्कारों को लिये हुए मनुष्य का जन्म होता है, विभिन्न संस्कारों वाले व्यक्तियों को कुटुम्ब में साथ रहना होता है, तो कैसे अपेक्षा रखी जा सकती है कि जो आप की समझ में आया है वह सबको समझ में आ ही जायेगा। सबकी आकांक्षा एक साथ ही तो जागृत नहीं हो सकती न! इसलिये आप की बात समझ में न आने से साथी लोग नाराज़ होंगे, चिढ़ेंगे, भला-बुरा कहेंगे, मज़ाक उड़ायेंगे, उपेक्षा करेंगे, निन्दा करेंगे। उसकी स्वाभाविकता समझते हुए, प्रतिक्रिया में न उतर कर अपनी समझ पर अडिग रहें। सत्य में प्रतिष्ठित धारणा है श्रद्धा। श्रद्धापूर्वक समझ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का आचरण करते रहें, इससे जीवन में गुणात्मक परिवर्तन होगा। फिर उस उपेक्षा, ग़लतफ़हमी आदि से चित्त में क्लेश नहीं होगा।

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।"

सुदृढ़ सघन शुभ संस्कारों से बने हुए चित्त में श्रद्धा का सौरभ होता है, मार्दव होता है, नम्रता का लावण्य होता है। सब पर फ़रमान तो नहीं चलाया जा सकता कि मैं समझ गया हूँ संसार असार है इसलिये सब समझ लो और जैसा आचरण मैं कर रहा हूँ वैसा ही सब करो। "सब अपनी गति से ही चल सकेंगे न! आपको संसार की मर्यादायें मालूम हो गयी हैं, तो ठीक है आपका चित्त क्लेश न पाये; जब ये मर्यादायें औरों के ध्यान में आयेंगी तब उनका भी चित्त पलट जायेगा। अतः अधीर न हों; जल्दबाजी न करें। आग्रह न रखें, आवेश-अभिनिवेश-आग्रह सत्सङ्ग में बाधक होते हैं। आप संसारी में से जिज्ञासु बने, फिर सत्सङ्गी बने, अब जीवनसाधक होकर घर लौटेंगे तो यह तप-तितिक्षा पालन करें। आपको परिवार, समाज, देश के जीवन में सत्य-सख्य-प्रेम को जीना है। समाज की परिस्थिति विषम है, प्रतिकूल है। यहाँ असत्य-अन्याय-शोषण-दगाबाज़ी आदि करने वालों के पास वैभव-विलास-सुविधा-सामग्री होगी, सभा-सम्मेलनों में प्रतिष्ठा मिलेगी, अखबारों में नाम छपेंगे, और सत्याचारणी व्यक्ति को दो जून पेट भरना भी कठिन हो सकता है; कोई पूछने वाला न होगा। यदि उसके चित्त में आये कि यही इनाम है सत्याचरण का?— तो पूछे अपने आप से कि "मुझे क्या चाहिये? असत्य-अन्याय-अधर्म-अनीति-पर चलने वालों के बीच तुम प्रतिष्ठा चाहते हो! किसी भी पाप के द्वारा आयी हुई दौलत और ऐश-आराम के सामान चाहते हो! तो अच्छा है कि तुम अध्यात्म की ओर न मुड़ो। दोनों बातें एक-साथ कैसे घटित होंगी? यदि दूसरों के धन-प्रतिष्ठा आदि को देखकर चित्त में अपना अभाव खटकता हो तो समझ लें कि वास्तव में हम अभी अध्यात्म पथ पर चलने के लिये तैयार नहीं हैं; आत्मवञ्चना न करें। भीतर की भूख को पहचानें, और जितना बन पड़े उतनी समझ-सहित उसका उपाय करें। सत्याचरणी व्यक्ति को तो आस-पास के लोग बुद्धू-पागल समझेंगे ही। कहेंगे अरे यह जमाने के साथ नहीं चलता; किसी की खुशामद नहीं करता, किसी तरह आगे बढ़ने को कोशिश नहीं करता। ऐसा 'साधु' ही बनना था तो घर क्यों बसाया?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहना यही है कि सत्याचरणी व्यक्ति आज के समाज में उपेक्षित होगा ही; अकेला पड़ जायेगा। संसारी लोगों के मौज-शौक-गपशप में उसे रस नहीं आयेगा, और उसकी संगत औरों को अच्छी नहीं लगेगी जो दूसरों की दृष्टि मे नीरस है। उसकी बैठक छिछले उपभोग-परायण जीवन-स्तर से उठ चुकी है। चित्त की गहराई में जाकर वह बैठा है, केन्द्रस्थ सत्ता के स्तर पर जीने लगा है। तो वह अकेला पड़ेगा ही समाज में। उसने गृहत्याग-जनत्याग नहीं किया है, विजनवास में नहीं चला गया है, पर एक आन्तरिक एकान्त में जा बैठा है।

अब आपके ध्यान में आयेगा कि मैं सत्सङ्ग को तप क्यों कहती हूँ। सत्य का मार्ग पकड़ा हो तो वह आप से तपश्चर्या करा लेता है जीवन के पल-पल में, तप करने कहीं दूर अलग जाना नहीं पड़ता।

आपके मन में आ सकता है कि "आप व्यक्तिनिष्ठ होने को मना करती हैं; किन्तु हम संसार के तनाव-दबावों और कार्यों में बहुत थक जाते हैं तब इच्छा होती है कहीं ऐसे स्थान पर, ऐसे व्यक्ति के पास जायें, कुछ समय वहाँ रहे जहाँ सांसारिक बातें और जिम्मेवारियाँ न हों, मन को शान्ति मिले, सच्चे स्नेह की ऊष्मा मिले।"—तो आप अपने नगर में ही समान स्वभाव के सत्सङ्गी मित्रों का एक समूह बना लीजिये, परस्पर मिल-बैठकर सद्ग्रन्थ पढ़ना, अपनी भीतरी समस्याओं को विचार में बाँट लेना, कुछ भजन आदि गाना, शान्ति से मौन बैठना आदि किया करें सप्ताह में एक बार या जैसी अनुकूलता हो। "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ"। इस मित्र-मण्डली में कोई ऊँच-नीच भावना न हो, सब समान रूप से परस्पर सगे-सम्बन्धो की तरह मिलें-बोलें। ऐसा प्राञ्जलता से निरहंकार एवं मुक्त भाव से संवाद यदि जीवनसाधकों में होने लगे तो उससे बड़ा लाभ होगा। किन्तु हमें आदत पड़ी हुई है परावलम्बन की। "मुझ पर यह दुःख आ पड़ा है, यह कठिनाई आई है—इसे कोई दूर कर दे। मुझे तरह-तरह के विकार त्रस्त कर रहे हैं, कोई इन्हें शान्त कर दे!" ऐसी आदत पड़ी है चित्त को, कहते हैं कि हमें स्वातन्त्र्य चाहिये! पर उसे पाना चाहते हैं परावलम्बी मार्ग से। यह कैसे बने? यदि पहले ही कदम पर हम स्वतन्त्र नहीं हैं तो तथाकथित अन्तिम चरण में भी हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते। सत्संगी व्यक्ति परस्पर मिलकर अपनी समस्याओं पर विश्लेषण, विचार करें, उपाय खोजें; या फिर व्यक्ति स्वयं ही अपने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आप से संवाद करें कि "मुझे जो दुःख हो रहा है या भय लग रहा है वह क्या है ? क्यों है ? क्या मैं उससे भाग जाना, उसे टाल देना चाहता हूँ ?" अच्छी तरह 'दाँत गड़ा कर' उसे परखें, उसकी जड़ तक पहुँचें।

ऐसे परावलम्बन की आदत को मनुष्य अध्यात्म में भी लिये चलता है तब मुश्किल होती है। अभीप्सा हो स्वाधीनता की और मार्ग पकड़ें परावलम्बन का, तो बात कैसे बने ? हेतुपूर्वक, स्वेच्छा से परावलम्बी होना कोई शरणागति नहीं है। शरणागति होगी सत्य के प्रति, जीवन के सत्त्व-तत्त्व के प्रति; व्यक्ति के प्रति नहीं। साधक के जीवन में मानसिक या बौद्धिक परावलम्बन नहीं होना चाहिये। एक बार अपने आप से संवाद करके निर्णय कर लें कि दुःख से भागना सही नहीं है; जीवन की वास्तविकता को देखते हुए उसके साथ जीना है। जो सामने है वही तो जीवन है; 'नित्य' 'परम' सत्ता नाम का कोई पृथक् स्तर तो नहीं है। ऐसा नहीं है कि यह हमारा दैनिक जीवन है, उससे पृथक् कहीं पारमार्थिक या आध्यात्मिक जीवन है, या यह सान्त है, इससे पृथक् कहीं अनन्त है। वह दिक्-काल से विभाजित नहीं हैं। नश्वरता और शाश्वती तो हमारी दृष्टि में हैं, सारे माप-तौल हमारे मनमें हैं, वे सारे शब्द हमारे उत्पन्न किये हुए हैं। जीवन तो एक, अखण्ड, अविभाज्य सत्ता है, समग्रता उसका शील है। इसलिये सत्य-शोधक को परावलम्बन का जो सुविधा वाला मार्ग है वह छोड़ना होगा। हाँ, मन पङ्गु हो (जैसे शरीर कभी पङ्गु होता है) तो चिकित्सा-उपाय की तरह कोई आश्रय-आलम्बन लेना भी पड़ता है। पर पङ्गुता स्वयं पैदा न कर लें। आप कहेंगे "पर हमें कुछ सूझता नहीं, क्या करें ?" भले न सूझे ! 'हमें सूझता नहीं' इस बोध के साथ जियें, और पुकारना ही हो तो अन्तर्यामी विभु प्रभु को ही पुकारें कि हे भगवन् ! मुझसे जो बन पड़ा, जहाँ तक तुम्हारी ओर आया जा सका आ पहुँचा हूँ, अब कुछ सूझता नहीं ! अब तुम्हीं सुझाओ ! पुरुषार्थ की पराकाष्ठा के बाद आयी हुई 'न सूझने न समझ पाने' की दशा के बोध के साथ जीयें। ऐसे एकान्त में जब आप बैठते हैं तो वस्तुतः 'जीवन' के पास ही बैठते हैं। कोई एक अलग दिशा पकड़ने या किसी व्यक्तिविशेष का आश्रय-आलम्बन खोजने-पकड़ने की बजाय आप अपने आप को वैश्विक-जीवन में लपेट लेते हैं। (**Instead of trying to follow an exclusive direction and run towards an exclusive individual, you are enveloping**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

yourself in the cosmic life, with the cosmic life.

इधर-उधर दौड़ने की अपेक्षा यदि हम ऐसी अवस्था में बैठें अपने साथ तो अच्छा। उतावलेपन से नुकसान होता है। "बैचैनी सहन नहीं होती, बहुत देर हो रही है!" ऐसे आवेग में मनुष्य जहाँ-जहाँ दौड़ता है तो कहीं फँस जाता है। शक्ति, सिद्धि, अनुभूतियों के लिये तो आज जगह-जगह विक्रय-केन्द्र खुले हुए हैं। वहाँ जाकर अपने स्वातन्त्र्य की कीमत पर स्वयं बिककर विश्रान्ति पायेंगे क्या? यह एक प्रश्न है। अल्पकालीन सांत्वना के लिये स्वयं बिक जायेंगे? यदि वह न करके हम जहाँ हैं, जो कर रहे हैं, वही पूरी सावधानी व समग्रता से करते हुए चित्त में जिज्ञासा की शिखा जलाए रखें तो जीवनविभु स्वयं ही किसी न किसी उपाय से समस्या का समाधान या आगे का रास्ता सुझा ही देते हैं, उनका जिम्मा है वह। हमें खोजने नहीं जाना पड़ता। कोई अचानक कुछ कह देता है, कहीं कोई पुस्तक या पत्रिका में कोई पंक्ति सामने आती है जो संकेत से मार्ग खोल देती है। यह जीवन का रहस्य है। पुरुषार्थ की पराकाष्ठा के बाद शरणागति का मङ्गल पर्व प्रारम्भ होता है।

"तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर!
यादृशोऽसि महादेव! तादृशाय नमो नमः॥"

उत्कृष्ट भाव से, व्याकुल प्राणों से उस परम तत्त्व के प्रति ऐसी प्रणति हो तो सही!!

कुछ न सूझने, मार्ग अवरुद्ध होने की दशा, अन्धेरी रात में सुनसान में पड़ जाने जैसी हालत प्रायः प्रत्येक साधक के जीवन में आती है। वह साधक की अन्तिम परीक्षा है, कसौटी का समय है। उससे भागें नहीं। यह शुभ संकट तो स्वयं आप ने अपनी गहरी तपश्चर्या एवं जिज्ञासा द्वारा उत्पन्न किया है। अब उस संकट को मार डालने के उपाय न करें। ऐसी व्याकुलता की दशा तो जीवन का बड़ा मंगल पर्व है। किसी के पास अपना रोना न रोयें, कोई पीठ थपके, माथे पर हाथ रखे, व्याकुलता मिटा दे—ऐसा न सोचें, न करने जायें; थोड़ी सी सान्त्वना खरीदने के लिये स्वयं बिक न जायें! अपनी संवेदनशीलता को कुण्ठित न कर लें। संवेदनशीलता के बिना ऐसी व्याकुलता नहीं आती। तुम्हारी आँखों में आँसू आये हैं सत्य के लिये, किसी अपने या परिवार के स्वार्थ के लिये नहीं। कोई इन आँसुओं को रोक दे या आँसू आयें ही नहीं ऐसी जड़ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुममें उत्पन्न कर दे—ऐसा मत होने दीजिये। जी बेचैन होने दें, आँसू बहने दें। शरीर काँपता है, नींद नहीं आती, भूख नहीं लगती या आहार की इच्छा नहीं होती—ऐसा समय आता है। क्योंकि गहनचिन्तन-मनन-सत्संग-सेवन के कारण आप की सर्वेन्द्रियों को एक झीनी-झीनी प्रतीति आ गयी होती है व्यक्त के पीछे खड़ी अव्यक्त सत्ता की; लगने लगता है कि वह प्रकाश बस एक परदे से ढका है, वह अन्तिम अवगुण्ठन हट नहीं रहा है। वह प्रकाश, परम सत्ता 'है' इसकी प्रतीति हो चुकी है, इसीलिये उसे पूरा-पूरा देख न पाने से व्याकुलता है।

····मैं आबू रहने गयी थी, तब एक बार एक बड़े सूफी महात्मा श्री गुरुदयाल मल्लिक आये थे, कुछ समय साथ रहे थे, अपार स्नेह था मुझ पर। वे कहते थे—"बेटे ! यह जो बेचैनी है न ! इसे हमारी सूफ़ी भाषा में अल्लाह की बख्शीश कहते हैं। यह इनाम है।" इस वरदान को अभिशाप न मानिये। उसमें से निकल भागने की कोशिश न कीजिये उतावले न बनिये। बेचैनी है—इसका अर्थ है कि भीतर से कर्तृत्व-भोक्तृत्व छूट चुका है, साक्षित्व सधा है, मौन तक पहुँचे हैं, शून्य का आभास हो रहा है, पर मौन या शून्य की अन्धेरी सुरंग के पार निकलना नहीं हो पाया है। "कुछ दिखता नहीं, सूझता नहीं, कुछ भी मालूम नहीं पड़ता, कुछ भी तो होता नहीं मुझमें !!····" ये सारे वर्णन शून्यावस्था के हैं। इस घट में समाये हुए 'शून्य के निष्कर्ष'—रूप रस की ही अभिव्यक्ति है यह बेचैनी।···· कोई इस बेचैनी को कुण्ठा-हताशा-निराशा मान बैठते हैं। ऐसा न करें; ग़लत नाम दे देने से ग़लत ही परिणाम होने लगता है, ग़लत मानसिकता और नाड़ियों में उलझन (a wrong psychology; a wrong neurochemical state) पैदा हो जाती है केवल ग़लतफ़हमी से, इस बेचैनी को भूतकाल से जोड़ने की ग़लती से। यह जो हो रहा है उसका आपके भूतकाल से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि आप भूतकाल में से बाहर निकल चुके हैं। अब उस भूतकाल की कैंची से इस सर्वथा नवीन अवस्था को कैसे पकड़ सकेंगे ?

हाँ, ऐसी दशा आने पर, अपने नित्य के काम-धन्धे को थोड़ा कम करके शान्ति से एकान्त में बैठने के लिये थोड़ा समय निकालें, हो सके तो दस-पन्द्रह दिन या महीने भर के लिये कहीं एकान्त में जाकर रहें। इसे विघ्न न मानें, उस दशा को जी लेने के लिये आप अपने शरीर-मन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को सहायक हो रहे हैं, मदद कर रहे हैं, इतना ही समझें। किसी मानसिक आघात को भी सहने-पचाने के लिये कुछ समय तो लगता है न! स्वयं शान्त रहकर शरीर-मन को एकान्त की सुविधा देने से आघात को पचाना और उसमें से बाहर निकलना सरल होता है। उस पर सिद्धान्त मत थोपिये! कोरे शब्दों से जीवन की घटनाओं से उठे उद्वेग को ढकने-दबाने का प्रयत्न जीवन का उपहास है, संवेदनशीलता का अपमान है। दुःख को जी लेना सीखिये।

....१८५७ में जो परिस्थिति इस देश में थी, उसकी विषमता और संकट पहचान कर कितने हो मानवता के उपासक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में से आगे आ जुटे थे; मुझे ऐसा लगता है कि वैसी ही गम्भीर विषम संकटमय परिस्थिति आज फिर भी अपने देश की हो गयी है। यदि इस देश में लोकतन्त्र टिकाना हो, देश का वास्तविक स्वातन्त्र्य कायम रखना हो, इस देश की मूल भारतीय संस्कृति को जिलाये रखना हो, तो यहाँ जो सज्जन हैं, जिनमें भारतीयता और नागरिता की भावना है, उन्हें मिल कर अब कर्मप्रवण बनना चाहिये, यहाँ, ऐसे सत्सङ्ग में उनकी समझ में जो आया है, जिसे जीने का हम सब प्रयत्न कर रहे हैं, उसे जीने की साधना व्यक्तिगत जीवन में भी चालू रखें और सामाजिक जीवन में उसके लिये प्रयोग प्रारम्भ करें। इस बात की राह न देखें कि जब हमारा सम्पूर्ण परिवर्तन हो जायेगा, आत्मसाक्षात्कार हो जायेगा, तब हम समाज के लिये हितकारी कर्म करेंगे। जिस समाज में हम जीते हैं, जो हमें अन्न-वस्त्र-आच्छादन देता है, उसका कुछ ऋण है हम पर। वह ऋण चुकाना भी आत्मसाधना है। हम एकांगी न हों। हम जो साधना कर रहे हैं वह एक अकेले व्यक्ति को मुक्त करने के लिये नहीं है, बल्कि मानवीय चेतना मुक्त हो सकती है या नहीं?—इसकी खोज है। यह स्वकेन्द्रित क्रिया नहीं कि अपने लिये कुछ अनुभूतियाँ सिद्धियाँ कमा लेनी हैं। बल्कि हमें सम्भावनायें देखनी है कि यहाँ की वर्तमान मानव जाति यदि भूतकाल की पकड़ से और भविष्य के अध्यास से मुक्त हो सके और शुद्ध वर्तमान में समग्रता से, स्वतन्त्रता से, स्वाधीनता से जी सके, तो भविष्य में समस्त मानवजाति के लिये मार्ग खुल जायेगा। आपकी मुक्ति सम्पूर्ण मानवचेतना के दायरे में स्वाधीनता, सत्य, प्रेम, करुणा की एक नई धारा, नया स्रोत प्रवाहित करेगी। यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सारा प्रयास व श्रम इसीलिये है कि भारत की मानवचेतना जागृत हो जाय तो सारे विश्व की मानवजाति को एक नया मोड़, नया प्रकाश, दे सकेगी।

इसलिये प्रयोग करने होंगे। आप शिक्षण प्रेमी हों, आप के ध्यान में आया हो कि शिक्षण की पद्धति बदलनी चाहिये—स्वाधीनता-प्रेरक शिक्षण, शान्ति के लिये शिक्षण, सहयोग-प्रवण मानस बनाने के लिए शिक्षण होना चाहिये—तो ऐसे पाँच–सात व्यक्ति मिलकर वैसा प्रयोग करें। आपमें से कोई अर्थशास्त्र के क्षेत्र में हों, तो आपके ध्यान में आता होगा कि आज की अर्थव्यवस्था और नीतियाँ जनविरोधी (antipeople) हैं; भीषण केन्द्रीकरण की ओर ले जा रही हैं; तो आप अपने सहमति वाले मित्रों के साथ मिलकर देहातों में—खेतों में जाकर, तरुण पीढ़ी से मिलकर प्रयोग करें, किस तरह आधुनिक विज्ञान व तकनीक की अच्छी चीजें देहातों में ले जाई जा सकती हैं, किस बुराई से किस तरह बचा जा सकता है ? इत्यादि। सरकार की जो योजनायें हो उनको तो वास्तविक धरती पर लाने के प्रयत्न किये ही जायें—आखिर उन योजनाओं के लिये धन तो जनता से ही वसूला जा रहा है, सो वह सही तौर पर काम में लगे, साथ ही जहाँ योजनाओं की पहुँच नहीं है ऐसे गाँवों में जनाधारित कार्य आयोजित किये जायें; ऐसी औद्योगिक क्रान्ति की पद्धति खोजी जाय जो केन्द्रीकरण की ओर न ले जाती हो। इस सबको भी आत्मसाधना का स्वरूप दिया जा सकता है। हमारी वृत्ति परिणाम-परायण न बनकर मूल्य-परायण हो, चित्तशुद्धि को कसौटी बनाया जाय। स्वतन्त्रता-संग्राम से पहले कैसे अगरकर, तिलक, गोखले आदि दिग्गज लोग सारा वैभव और भावी वैभव तथा सुविधा को छोड़कर निकल पड़े थे; स्वयं ग़रीबी का वरण किया था; अंग्रेजों की गुलामी से मिलने वाला धन नहीं चाहिये कहकर जुट गये थे देश के लिये।……"सत्यमेव जयते" पर संगठित सत्य हो तभी जय होगी। 'संघे शक्तिः कलौ युगे।'

तरुणों के स्वाध्याय-मण्डल बनें; सन्त साहित्य को समझाने वाले लोग निकलें एवं तरुणों के सम्पर्क में आयें। सन्त सहित्य में जो काल सापेक्ष बातें हों उसे छोड़कर आज के सन्दर्भ में उपयुक्त जो सनातन सत्य की बातें हों वे तरुण-पीढ़ी को समझा कर कहें। समाज परिवर्तन तथा व्यक्ति चेतना के परिवर्तन की क्रियायें एक साथ चलने दें। साधक कभी अकेला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं होता। जो सत्य की ओर मुड़ा उसकी सहायता के लिये सम्पूर्ण वैश्विक प्रज्ञा वहाँ आती है। "अन्त में गोविन्द खड़े आगे-पीछे कोई भी संकट पड़ने न देते।"

यह तुकबन्दी नहीं, अनुभव के बोल हैं।

●

: २ :

आप के चित्त में किस बात की प्रतीक्षा है, आप क्या चाहते हैं?—इसका कोई अन्दाज़ मेरे पास नहीं है। अपनी तरफ़ से कुछ कहने का इरादा या विचार लेकर यहाँ मेरा आना नहीं हुआ था। जीवन जीने के लिये, अध्यात्म की साधना के लिये एक अधिकारवादिता से मुक्त (non authoritarian) प्रामाण्यमुक्त पथ प्रशस्त हो, यह एक अभीप्सा विज्ञानाधारित जीवन जीने के कारण चित्त में रही है। पढ़े सब कुछ; सुनें सबको; लेकिन जीवन के अन्तिम सत्य को किसी व्यक्ति के खूँटे से न बाँधें; किसी व्यक्ति की अनुभूतियों या वचनों के पाश से बाँधें नहीं—यह जो एक वैदिक दर्शन में सत्यकाम आत्मजिज्ञासु का निदर्शन है, उसे आप के सामने रखने की विनम्र चेष्टा पिछले कई वर्षों से यहाँ (महाबलेश्वर में १९८६ से प्रतिवर्ष होते आये शिबिरों में) चलती आई है। **A non personal, non authoritarian approach towards religion and life.**

इसलिये एक स्नेही मित्र के नाते यहाँ आकर बैठते हैं, बातचीत करते हैं, लेकिन श्रोताओं के जीवन पर अपनी किसी भी प्रकार की छाया न पड़े—इस सावधानता से संवाद होता है। इसलिये वैयक्तिक अनुभूतियों की या साधना की बात भी शायद ही कभी अपने शिबिरों में मैंने की हो। ....इस संयम सप्ताह में केवल प्रश्नों के उत्तर दिये जायेंगे, कोई स्वतन्त्र प्रवचन नहीं होंगे यह जानते हुए, एवं इतनी शीत लहर को सहन करने का तप करते हुए इतनी अधिक संख्या में जिज्ञासु यहाँ एकत्र होंगे—यह कल्पना नहीं थी। अवश्य आप में ऐसे व्यक्ति होंगे जो सन्त-संग के द्वारा सत्संग करना चाहते होंगे।

व्यक्ति माध्यम है, साधन है, वाहन है। साध्य है सत्य को समझना। यह जो 'सत्य' 'परमात्मा' 'वैश्विक चेतना' 'अतिमनस्' आदि शब्दों का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयोग किया जाता है उस तक पहुँचने के लिये उस बिन्दु से प्रारम्भ किया जाता है जिस पर हम खड़े हैं। "मैं कौन हूँ ?" मेरे संस्कार क्या हैं ? अभिरुचियाँ क्या हैं ? शरीर-मन-बुद्धि की शक्ति कितनी है ? कमज़ोरी किस प्रकार की है ?—यह स्वपरिचय पहले कर लेना चाहिये। यदि इसमें अनन्त की प्यास नहीं है, और व्यक्त के पीछें जो अव्यक्त-अतीन्द्रिय (the occult, the transcendental) विश्व है, उसको देखने की इच्छा हो, वहाँ पड़ी हुई ऊर्जाओं का परिचय और उन पर नियन्त्रण पाने की इच्छा हो तो उस का रास्ता इस देश में पले हुए अनेकविध तन्त्र शास्त्र और हठयोग में है। उसके लिये विशेष प्रक्रियायें हैं, पद्धतियाँ हैं। वे सिखा सकने वाले अनेक लोग इस देश में कहीं न कहीं हैं। उन ऊर्जाओं को जगाने, उनका सुख भोगने की इच्छा किसी को हो तो वह कोई ग़लत चीज़ नहीं, किन्तु उस इच्छा को धर्मजिज्ञासा या आत्मजिासा-ब्रह्मजिज्ञासा नहीं कह सकते। वह तो जैसे व्यक्त जगत् में किसी की इच्छा होती है पर्वतीय गहन स्थलों को देखने की, तो किसी की इच्छा होती है सागर की गहराइयों में जाकर भीतरी दुनिया को देखने की; वैसे ही अतीन्द्रिय जगत् में विहार करने की भी इच्छा किसी को हो सकती है।

ये विविध-विचित्र-नवीन कुछ देखने, उसका उपयोग करने, उससे कुछ अनुभूतियों का मज़ा लूटने की या कमाई की लालसायें—ये सब तन-मन के स्तर की इच्छायें हैं। अतीन्द्रिय अनुभूतियों की कामना को लोग ग़लती से आध्यात्मिक जिज्ञासा मान लेते हैं। अध्यात्म में शक्तियों या अनुभूतियों की खोज नहीं है। अध्यात्म में तो यह जिज्ञासा होती है कि हमारे भीतर क्या है ? इन्द्रिय-विषय-संयोग को परिचालित कौन करता है ? इनकी शक्तियों का विनियोग होकर बोध कहाँ उपजता है ? भावना-विचार, आवेग-संवेग विकार आदि के पीछे तह में कुछ है या नहीं ?—यह सब समझने व सीखने की भूख होती है।

ऐसी सीखने-समझने की इच्छा और कुछ अनुभूतियाँ पाने, कमाने या अतीन्द्रिय सुख भोगने की इच्छा—इनमें से अपने भीतर क्या पड़ा है ? यह भीतर झाँक कर परख लेना चाहिये कि जीवन में करना क्या है ? **Discriminate the aquisitive urges from the pure aud simple urge to learn and undertand Truth, for thc joy of the Truth.** यानी या कमाने या भोगने की वृत्ति वाली इच्छाओं और केवल शुद्ध रूप में सत्य को समझने, सत्य के आनन्द के लिये ही सत्य को पहचानने की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्कट अभिलाषा को पृथक् करके देख लें। यदि लगता हो कि उस 'सत्य' 'ब्रह्म' 'परमात्मा' आदि से कहे जाने वाले सूक्ष्म तत्त्व की हमें परवाह या ज़रूरत नहीं महसूस होती, लेकिन हम संसार में संघर्षमय जीवन जीते हुए थक जाते हैं, अपनी निजी ज़िन्दगी में भी वासनाओं से जूझते हुए, जिन वासनाओं के विषय उपलब्ध हों उनका उपभोग करते हुए थक कर ऊब जाते हैं, इसलिये घड़ी दो घड़ी उस वातावरण में से बाहर निकलते हैं, अच्छा लगता है भजन-कीर्तन सुनना, और ऐसे विश्व की बातें सुनना अच्छा लगता है, उससे कुछ विश्राम मिलता है, थके-हारे-उद्विग्न चित्त को विश्राम मिलता है। तो इसमें कमाने की वासना नहीं, बस सान्त्वना एवं राहत (Consolation) पाने की भूख है। यह कोई अपराध नहीं है। केवल दिल-बहलाव या हवा बदलने के लिये मन्दिरों में, तीर्थों में, सत्सङ्ग-कथा-प्रवचनादि में जाते हैं, या सुन रखा है कि प्राचीन महापुरुषों विभूतियों, मनीषियों के—ऋषि-मुनियों के वचन और जीवनचरित सुनने से, उनके नाम से जुड़े स्थानों पर जाने से पुण्य होता है—तो एक ही साथ दोनों सध जायें यानी पुण्य भी हो और सान्त्वना भी मिले—इसलिये तीर्थ-प्रवचनादि में जाते-आते हैं, कोई अच्छी पुस्तकें पढ़ते हैं तो अच्छा हो है; कम से कम उतना ही समय कोई किसी का बुरा सोचना या किसी के प्रति बुरा करना तो नहीं होता, शुद्ध हवा-पानी आदि भीतर जाने से चित्त स्वस्थ होता है। कभी कोई व्यक्तिगत समस्या का समाधान या कठिनाई में से निकलने का रास्ता भी महात्माओं के पास जाने अपना दिल खोल कर वहाँ रखने और उनकी बात सुनने से निकल आता है। बस इतने में ही ऐसे व्यक्तियों की सत्संग की कल्पना-धारणा पूरी हो जाती है। मन से ऊपर उठने सब की तह में जाकर मूल तत्त्व को समझने-पहचानने की जिज्ञासा उन्हें नहीं है। लेकिन बड़े भोलेपन से मान लेते हैं कि यही अध्यात्म-जिज्ञासा, साधना और 'भक्ति' है।

और भी एक प्रकार से लोग सांसारिकता से कुछ अलग पड़ते हैं कि—"यह सब मिथ्या है, माया है, एक दिन तो सब छोड़कर चले जाना है, यह शरीर भी छूट जाने वाला है। इसमें कुछ पड़ा नहीं, इससे क्या मोह-ममता रखना !" यह सब पढ़ा-सुना-संस्कारों में चित्त में बसा हुआ होता है; साथ ही—"कुछ है इस सबके पीछे, इससे अलग, जो सही है, जिसे समझना जिसे पाना अच्छा है; इस धारणा के साथ-साथ समाज में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो संघर्ष चलते हैं, अन्याय और बुराइयाँ चलती हैं, वह सब देख-देखकर एक प्रकार की कटुता और विषाद मन में भरा होता है, उसमें जीना पड़ता है; वह छूटता नहीं है। और जो जीते हैं उसके प्रति कुछ आसक्ति भी हो जाती है; एक ओर तो यह सब मिथ्या और अनित्य है इसका भान रहता है, पर साथ ही वर्तमान में जो कुछ सामने है और जो जिया जा रहा है उसमें सुख भी प्रतीत होता है, अच्छा लगता है। उसमें जो सुविधा है उसकी भी इच्छा रहती है। तो सत्संग में जाकर तत्त्व को-सत्य की बातें सुनें और फिर अपने जीवन में उसके साथ कुछ मेलजोल या reconceliation करें यह इच्छा होने लगती है। सत्य की बात करेंगे, चर्चा करेंगे, उसे आदर्श और लक्ष्य मानेंगे, पर जो जीना है वह मिथ्या के साथ इसी के दायरे में जीते रहेंगे। ऐसी समझौते की वृत्ति बन जाती है। थोड़ा-सा अपने बारे में 'बेचारेपन' की आड़ में दुनियाबी चलन अपनाने का समर्थन मन जुटा देता है—"क्या करें यह समाज ही ऐसा है, हमारे सगे-सम्बन्धी-कुनबे के लोग ही ऐसे हैं जिनके साथ निबाह के लिये बहुत कुछ आडम्बर करना पड़ता है, नहीं तो हम अध्यात्म-पथ में बहुत आगे बढ़ जाते।" कहीं न कहीं आत्मसमर्थन या बचाव का बहाना आदमी खोज लेता है। या जहाँ कोई ढाल मिले उसी आश्रम, 'गुरु' (मार्ग दर्शक व्यक्ति) को पकड़ कर अपने सब कामों की जिम्मेवारी उस पर थोप देना चाहता है।

और भी—एक प्रकार हो सकता है, कि जो विकार-विचार हैं उन्हें ही Sublimate (ऊर्ध्वीकृत या उदात्तीकृत) करें। तंत्रशास्त्र में भैरव-भैरवी का प्रयोग है, वैष्णव साधना पद्धति में राधा-माधव की माधुर्य-भक्ति के द्वारा उदात्तीकरण का एक पथ कहा गया। भावनाओं-वृत्तियों-विकारों का ऊर्ध्वीकरण (sublimation) कुछ प्रक्रियाओं के द्वारा भी हो सकता है। लेकिन ऊर्ध्वीकरण करने पर भी अन्ततः वह होता है मन के विकार-विचारों का उपभोग ही।

हम कहाँ खड़े हैं इसे भलीभाँति पहचान लें, ताकि बाद में निराशा न हो; "इतना समय-शक्ति अध्यात्म के लिये लगाया लेकिन आखिर हाथ खाली ही रहे"—ऐसा न महसूस हो। What is the precise point of contact with divinity, and what is the motivation behind it ? It is the integrity of inquiry that blossoms into the state of transformation. सत्य या दिव्यतत्त्व से हमारा सम्पर्क

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बिन्दु वस्तुतः क्या है ? उस सम्पर्क की इच्छा का प्रेरक क्या है ? यह मालूम होना चाहिये। जिज्ञासा की सुगठित समग्रता ही जीवन-परिवर्तन या उत्क्रान्ति में फलित या परिणत होती है। हमारी साधना के पीछे हेतु का स्वरूप क्या है ? इसी का हमें पता न हो तो कुछ न कुछ पढ़ते-सुनते-बोलते-करते हुए बीस-तीस-चालीस या अधिक भी साल निकल जाते हैं—पर न चित्त में संतृप्ति आती है न जीवन की कृतार्थता प्रतीत होती है, एक विषादभरा असन्तोष लेकर जीवन के अन्त में मनुष्य विदा होता है देह से, धरती से।

कोई ऊर्ध्वीकरण का रास्ता पकड़ते हैं तो कोई दमन-निग्रह-पीड़न का। दोनों एक ही दृष्टिकोण या सम्पर्क—नज़रिये के दो पहलू हैं परस्पर, एक सिक्के के दो बाजू हैं। उस मन को Sublimate करने के लिये भी उसे जीवित रखना है। इसलिये इन सब साधना प्रकारों में 'अहं' से मुक्त होने की, कर्ता-भोक्ता-द्रष्टा भावों से मुक्त होने की बात नहीं आती। वे तीनों बरकरार रहते हैं, लेकिन उनके उपयोग की, व्यवहार की, विनियोग की पद्धतियाँ बदलती हैं, आयाम बदलते हैं। यहाँ चेतना के सत्त्व में मौलिक गुणात्मक सक्रिय परिवर्तन (radlcal qualitative transformation in the content of consciousmess) की बात नहीं है। पुराने दमन-निग्रह या ऊर्ध्वीकरण के मार्ग से हज़ारों साधक चलते आये हैं, कम से कम सदाशयी-सदाचारी-सत्संग के इच्छुक तो बने ही; इधर एक नया रास्ता लोगों ने निकाल लिया है इन्द्रिय-वृत्तियों के अनुगमन का, भोग में ही गाफ़िल हो जाने का (indulgence in the sexual pleasure) यह एक नया रास्ता अध्यात्म की दृष्टि से तो किसी काम का है ही नहीं, वर्तमान समाज की दुर्दशा को और बढ़ाने वाला ज़रूर दिखता है। जो भी हो, इन रास्तों से 'जीवो ब्रह्मेव नापरः' या 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' की प्रतीति नहीं होती।

ऊपर कहे तीनों प्रकारों से कुछ अलग अध्यात्म के प्रति वैज्ञानिक, प्रामाण्यवाद और अधिकारवाद से मुक्त दृष्टिकोण एवं अभिवृत्ति सम्भव है ऐसी मेरी प्रतीति है, उस प्रतीति पर प्रतिष्ठित जीवन जिया है। उसी की बात जिज्ञासु-सत्संगी अध्यात्म-अभीप्सु मित्रों के सामने रखती हूँ और कहती हूँ कि पहले अपने आप को पहचानो। अभी आप जहाँ खड़े हैं उस बिन्दु के अनुसार तो प्रामाणिकता से जीने लगो ! मान लीजिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भीतर अभी अध्यात्म की भूख नहीं है, सुखोपभोग की ही लालसा है, तो ईमानदारी से अपने तई उसे स्वीकार करके न्याय व औचित्यपूर्ण रीति से जो प्राप्त है उसका उपभोग करो; कभी न कभी तो सुख की मर्यादा अपने आप ध्यान में आ ही जायेगी। इन्द्रिय-सुख, मानसिक सुख, बौद्धिक सुख, प्रतिष्ठा का सुख, धन-सम्पत्ति की मालिकी का सुख—सभी प्रकार के सुखों की मर्यादा कभी न कभी समझदार व्यक्ति के ध्यान में आती ही है। अपने आप को झुठलायें-बहलायें नहीं, भीतर या बाहर कहीं भी पाखण्ड न करें। उसके साथ-साथ इच्छा हो तो नामस्मरण, तीर्थाटन या ग्रन्थ-पारायण, कथा-प्रवचन-श्रवण करते रहें। पर 'पुण्य-संचय' की भावना या सौदे या कमाई की भावना से नहीं, आप को अच्छा लगता हो, आनन्द आता हो तो अवश्य करें।

यदि उधर रुचि नहीं है, सत्य समझना ही है, उसके विना भीतर चैन नहीं, तो आयें अध्यात्म की ओर !

....पाँच वर्ष की आयु थी, तब देखती इधर-उधर; निसर्ग को देखती, पशु-पक्षी-प्राणियों को देखती, मनुष्यों को देखती—तब मेरे दिमाग में प्रश्न खड़ा होता था कि इसके पीछे क्या है ? कोई पुस्तक या ग्रन्थ पढ़ने का तो तब सवाल ही नहीं था। लेकिन मुझे लगता रहा कि यह जो कुछ दिखता है, जो व्यक्त है वह किसी अव्यक्त की छाया-मात्र है, जो इस दिखत हुए से अलग कुछ है। तो यह किसकी छाया है ? यह सवाल चित्त में उमड़ता-घुमड़ता रहता था। उसे पूरी तरह कहना भी तो तब आता नहीं था। कहने जाऊँ भी तो माता-पिता चकित होकर पूछते कि तुम कह क्या रही हो ? मैं कहती—"यह जो दिखता है यह तो छाया है। यह किस चीज़ से बना है ? सच्ची चीज़ क्या है ? पेड़ के पीछे क्या है ? धरती के पीछे क्या है ?...." सवाल खड़े होते थे।....

इस तरह जीवन का, मृत्यु का अर्थ या रहस्य समझने की लगन जिज्ञासा बनी हो; तो चित्त में एक तैयारी होनी चाहिये कि इसको समझने के लिए जो भी कीमत चुकानी पड़ेगी वह चुकायेंगे। क्योंकि यह एक क्रान्ति है। समाज को तो सत्य की या धर्म की भूख-प्यास नहीं लगी है। There is no actuality of that urge, or that thirst, ऐसे समाज में रहते हुए हमें सत्य की खोज करनी है तो हो सकता है अपना रास्ता इन लोगों से अलग निकले। आस-पास के लोग इसे समझ नहीं सकेंगे, ग़लत समझेंगे; हमारी निन्दा भी कर सकते हैं। विरोध होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह सब कीमत चुकाने की तैयारी होनी चाहिये। क्या-क्या सहना-भुगतना पड़ सकता है—इसका अन्दाज़ और हिसाब लगाने के लिए रुकना नहीं चाहिये। अध्यात्मसाधक परिणामपरायण नहीं हो सकता।

सत्य खोजने के लिये पहला साधन व माध्यम शरीर है, इसलिये शरीर को स्वस्थ रखेंगे। शारीरिक स्तर पर कोई भी अव्यवस्था नहीं होगी। उठने-बैठने बोलने में, अपनी वस्तुओं के उपयोग में, अपने वस्त्रों के उपयोग में, आहार में—कहीं भी कोई अव्यवस्था नहीं होगी। There will be no disorder whatsoever क्योंकि जहाँ अव्यवस्था और अन्धा-धुन्धी होगी वहाँ शुचिता कैसे होगी? गन्दगी में कोई सौन्दर्य नहीं है। जिस तत्त्व को सत्चित् आनन्द, रसस्वरूप एवं सुन्दर कहा गया है वह अशुचिता-अस्वच्छता, अराजक-अव्यवस्थितता या दुरवस्था में कैसे प्रकट होगा? भौतिक अव्यवस्था-अस्वच्छता में भीतरी तत्त्व का सौन्दर्य-लावण्य कैसे प्रकट होगा? यह चित्त में आता था। सत्य बोलना चाहिये यह समझ में नहीं आता था, यही लगता था कि असत्य बोलूँगी या ग़लत कुछ करूँगी तो जो सत्य स्वरूप है वह कैसे प्रकट होगा? इसलिये—वाणी और कर्म के स्तर पर मिथ्याचार न हो, भौतिक स्तर पर अव्य-वस्था-अस्वच्छता, अभद्रता न हो इसकी तरफ़ ध्यान गया। ऐसा नहीं होना चाहिये कि घटना एक देखी, बोलने में कुछ और ही कही गयी; या जैसी घटना देखने की अपनी इच्छा थी वैसी बनाकर कह दी, या अपने भीतर उसके प्रति जो राग-द्वेष आदि की भावना थी वह मिलाकर उसी रंग में रँगा वर्णन कर दिया; जो देखा वह पूरा न कहकर थोड़ा कहा, थोड़ा बदल दिया, या बढ़ा-चढ़ा कर कहा, जो नहीं हुआ था वह कहा तो यथार्थता छूट गई; जो देखा या वस्तुतः जो हुआ वह तो न कहा गया।

अल्पोक्ति, अतिशयोक्ति, परिवर्तित उक्ति मिथ्या उक्ति—ये सभी असत्य के ही प्रकार हैं। यह सब भीतर से समझ में उगने लगा। इसलिये सहज ही शील बना सत्य, शिव और सुन्दर।

मित्रो! जिस बिन्दु पर आप खड़े हैं, जहाँ आपके जीवन की यथार्थता actuality है, वहीं प्रारम्भ होगा साधना का। किसी के शब्दों के आधार पर या ग्रन्थों में पढ़े सुने के अनुसार किसी बिन्दु की अपने में कल्पना करके या अपने साथ ज़बर्दस्ती करके—वहाँ से प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। जिसका वैष्णव कुल में या वैष्णव संस्कार लिये हुए जन्म या पालन-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पोषण है वह जैन निरीश्वर दर्शन या मौन-आयाम की साधना अपने पर लादे, अथवा जैन या बौद्ध संस्कार वाला व्यक्ति बैष्णव आचार-विचार चिन्तन अपने पर लादना चाहे तो अपने साथ जबर्दस्ती होगी। हम खड़े कहाँ हैं उसे देखें, अपने भीतर संरचना में गुँथे हुए संस्कारों की धरती पर खड़े हों और फिर उनके बाह्य, गौण क्रियाकलापों से समझपूर्वक मुक्त होते हुए गहराई में मूल तत्त्व की ओर बढ़ते चलें; सत्त्व का, सत्य का परिचय पायें।

You cannot wash away the conditionings. You cannot explain them away You can utilize them for transcending them. केवल चाहने भर से संस्कारों को फूँक मार कर उड़ाया नहीं जा सकता। केवल शाब्दिक तर्क-युक्ति या सैद्धान्तिक शास्त्रादि से उन्हें परास्त करके फेंका नहीं जा सकता। बल्कि उन्हीं का उपयोग किया जा सकता है उनसे पार जाने के लिये। उन संस्कारों को ही उनसे आगे जाने के लिये पथ बनाया जा सकता है। Rejection or acceptance of the conditionings—both seem to be irrelevant to a religious enquirer.

अपने संस्कारों का समर्थनात्मक स्वीकार या उनको जबर्दस्ती हटाना दोनों ही अध्यात्म-साधक के लिये असंगत हैं। आपकी जो यथार्थता है उसे जान लें, समझ लें, और उससे आगे बढ़ने का मार्ग निकालें। भीतर जैसी प्रेरणा हो करते चलें। शरीर के स्तर पर, वाणी के स्तर पर, चिन्तन के स्तर पर जीवन का परिमार्जन ही बहुत दूर तक मनुष्य को ले जाता है। वाणी का जितना उपयोग आवश्यक हुआ किया, नहीं तो शान्त रहे। फिर देखना है कि जब वाणी को हलचल न हो तब भीतर क्या होता है? मौन का किसी अवधि के लिये संकल्प व्रत लेकर फिर उसका अहंकार न पोसें, मन में या मुँह से कहते न फिरें कि "मैंने इतने समय तक मौन व्रत पाला" "मैंने इतने दिन इतना जप किया"—यह तो उलटा हो जायेगा, कि जिस 'अहं' को छोड़ने के लिये साधना करने चले उसी को बढ़ाने लगे। मौन द्वारा शक्ति को बिखरने न देना, और बाहरी-भीतरी जितने स्तरों पर सम्भव हो उतना अपने जीवन को परिमार्जित करते चलना यह साधना का एक वैज्ञानिक और स्वावलम्बी रास्ता हो सकता है जिसके लिये आपको शुरू में ही कोई मार्गदर्शक ढूँढ़ने निकलना नहीं होगा। अपने भीतर जो समझने की शक्ति रूप में गुरु विराजमान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं उस पर भरोसा रखते हुए बढ़ते चलेंगे तो जहाँ ठिठकेंगे, वहाँ कोई व्यक्ति, कोई ग्रन्थ, किसी की कोई उक्ति आगे रास्ता दिखाने के लिए सामने आ ही जायेगी। जीवन का यह स्वभाव है कि वास्तव में ज़रूरत पड़ने पर वह मार्ग सुझा देता है।

वाणी के सन्तुलित-समुचित एवं आवश्यकता-मात्र उपयोग से प्रारम्भ करें, अकारण बोलना नहीं, चार शब्द की जगह दस शब्द न बोलना, केवल मन-बहलाव के लिये न बोलना, बोलने में यथार्थता और सीमितता बरतना, अल्पोक्ति-अतिशयोक्ति-अन्यथोक्ति या मिथ्योक्ति न करना—इतने से ही प्रारम्भ करें। इस भ्रम को छोड़ दें कि बाहरी किन्हीं 'गुरु' बिना चलना ही नहीं हो सकेगा। अपने आपसे जितना हो सकता है उतना तो करने लगें प्रामाणिकता से! जहाँ आपकी मर्यादा आ जायेगी वहाँ आगे राह दिखाने वाला गुरु अवश्य आकर खड़ा होगा। 'गुरु' याने उस रास्ते का अनुभवी व्यक्ति। यह सम्भव ही नहीं है कि जिज्ञासा सच्ची हो, प्रामाणिक पुरुषार्थ की पराकाष्ठा हो चुकी हो और आगे रास्ता दिखाने वाला कोई मिले नहीं। यह मिलन तो वैश्विक घटना है, व्यक्तियों के जीवन में घटित होने से वह व्यक्तिगत नहीं बनती है। यह तो वैश्विक प्रेम का कानून है, जो व्यक्तियों के जीवन में प्रकट होता है।

It is an universal event which occurs in the individuals. It is the Law of Love at the Core of Universe manifesting in the life of individuals प्रकाश की ही तरह प्रेम की अभिव्यक्ति होती है।

जीवन यदि एक अखण्ड सत्ता है तो शारीरिक स्तर पर, वाणी के स्तर पर परिमार्जन करना, परिशुद्धि करना, दोषों का निराकरण करना—इसे शुद्धि की उपासना कहना हो तो कहिये। यहाँ से प्रारम्भ करें फिर आगे चलें। "मन" को देखें। यह मन है क्या चीज़? भीतर क्या मन नाम की कोई ठोस हस्ती है भी? फिर 'मेरा मन' यानी "मैं" और उससे जुड़ा "मन" ऐसी कोई दो चीजें हैं? तो ये क्या है? "मैं" और 'मन' अपने आप में कोई चीज़ हैं क्या? शान्त बैठेंगे तब तो देखा जायेगा! अतः सत्य का जिज्ञासु समय निकाल कर बैठता है निपट अपने साथ; अपना परिचय पाने को। अपनी स्वाधीनता को और अभिक्रम को अक्षुण्ण रखते हुए—यह कौन नहीं कर सकेगा? ऐसे शान्त बैठ कर अपने भीतर देखने से मन की हलन-चलन, संस्कारपुंज दीखने लगता है। स्वपरिचय फिर शाब्दिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं रहता, ग्रन्थों से उधार लिया हुआ नहीं रहता। **It is a personal intimate encounter with the actuality of inner life.**

यह अवलोकन बहुत ही शक्तिशाली तत्त्व है। क्योंकि जहाँ आपने देखा कि भीतर क्या पड़ा है तो अपने आपको धोखा देना मुश्किल हो जाता है। हम स्वयं अपनी आँखों देख लेते हैं कि भीतर राग-द्वेष-अभिमान-दर्प-ईर्ष्या-क्रोध-हिंसा आदि पड़े हैं। ये केवल बाह्य परिस्थिति के पैदा किये हुए क्षणिक विकार नहीं हैं। स्वपरिचय होने पर देखा जाता है कि ये सब भीतर बैठे ही हुए हैं, मौका मिलते ही बाहर व्यवहार में कूद पड़ते हैं। तब अपने बारे में जो बड़ी-बड़ी सुन्दर व आदर्श धारणायें बनायी हुई होती हैं वे टूट जाती हैं। अभिमान चूर-चूर हो जाता है। यह भी एक प्रकार का परिमार्जन हुआ। अवलोकन-मात्र ने इतनी मदद कर दी, आत्मप्रतारणा से बचाया, और अपनी झूठी प्रतिमाओं से मुक्त कर दिया। 'गुरु' यही तो करेंगे न !

इसे मैं प्रामाण्यमुक्त जिज्ञासा और साधना कहती हूँ। मैं परम्परागत मन्त्रदीक्षा, पूजा-अर्चना आदि का निषेध नहीं करती, लेकिन आज के पाखण्ड भरे युग में जब उन विधियों की पवित्रता नष्ट हो चुकी है, तब उनकी उपयोगिता भी नहीं देखती। जीवन का व्यापारीकरण धर्म और अध्यात्म में भी पहुँच गया है। उस सबसे यदि बचना हो तो स्वाधीन रहते हुए अपने जीवन में प्रारम्भ करें। मौन तक मनुष्य पहुँचे, उससे आगे का वैश्विक सत्ता स्वयं करा लेगी। किसी मार्गदर्शक से मिलन कराना होगा वह करा देगी, किसी से संवाद कराना होगा तो वह करायेगी; चैतसिक किसी कठिनाई में से निकलने के लिये आत्मानुभावियों के सान्निध्य-सह-निवास की आवश्यकता होगी तो वह करा देगी। मदद की आवश्यकता नहीं होती ऐसा मैं नहीं कह रही हूँ, लेकिन शिष्यत्व परिपक्व होने पर ही गुरुत्व का महिमा-गौरव समझ में आता है। शिष्यत्व को अपने में परिपक्व होने देने का उपाय मैं सुझा रही थी। संयत इन्द्रियाँ, संयत वाणी और मौन में प्रतिष्ठित चित्त—इतनी तैयारी तो आप स्वयं कर सकते हैं।

अब, हो सकता है कि इतना होने पर अवचेतन में सुप्त सम्पूर्ण मानवजाति की अनुभूतियाँ उद्भूत हों, जागृति हो उठे। उसके कारण शरीर-मन-बुद्धि में कुछ आवेग-उन्माद पैदा हो सकते हैं। इनमें से साधक का स्खलन न हो, इस मादकता, मोहकता में से वह बाहर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निकल सके, इसके लिये साधक को मदद करने की व्यवस्था वैश्विक ऊर्जा स्वयं कर देती है। ऐसी कई घटनाओं में से गुज़रना हुआ है इस जीवन में। ये अनुभूतियाँ, जिस परिवार में जन्म लिया है उसको और उसकी पाँच-दस पीढ़ियों की न हों—ऐसी अनुभूतियाँ जागृत होती थीं, घटनायें सामने दिखती थीं, तब सवाल खड़ा होता था कि यह है क्या ? क्यों हो रहा है ? इसकी चर्चा होती कभी जे० कृष्णमूर्त्ति जी के साथ, कभी विनोबा जी के साथ। वे कहते कि पूरी मानवजाति के संस्कार एवं अनुभूतियाँ अचेतन-अवचेतन में पड़ी हुई हैं। शरीर, वाणी, चित्त की पूरी-पूरी शुद्धि होने पर बहुत गहरे में पड़े हुए वे सस्कार उभर आते हैं ओर दृष्टिगोचर होते हैं। ये ही 'दृष्टान्त' हैं। इसी से मालूम हुआ कि संयम से शुद्ध हुए जीवन में सम्पूर्ण मनुष्यजाति की अनुभूतियाँ ही साक्षात्कारों के रूप में सामने आती हैं।

जिज्ञासा प्रामाणिक हो, सत्यबोध आत्मबोध के सिवा हेतु कुछ न हो तो जीवन-विभु मदद करते हैं। कहाँ से व कैसे मदद करेंगे इसका गणित नहीं लगाया जा सकता। मदद सामने आ ही जाती है। फिर आप झिझकते हों वह मदद लेने में, संकोच हो चित्त में, तो भी 'वे' मदद करके ही रहते हैं, फिर परमात्मा आपका पिण्ड नहीं छोड़ता है। बस आपको शरीर-वाणी-मन-बुद्धि को शुद्ध-विशुद्ध-परिशुद्ध करने का ही पुरुषार्थ करना है। **Purification brings about its own illumination.** (शुद्धि स्वयं ही उज्ज्वल प्रकाश ले आती है।) अपने दोष क्या हमें दीखते नहीं हैं ? चाहें तो उन दोषों को दूर करने का रास्ता मिल नहीं सकता है ?

मित्रो ! साधना प्रत्यवाय-विक्षेप आदि की निवृत्ति के लिये एवं चित्त-शुद्धि के लिये ही करनी होती है, किसी प्राप्ति के लिये नहीं। इतना ध्यान में रखें तो अध्यात्म साधना हमें जनविमुख नहीं बनायेगी, अहंकार का नया विषय या क्षेत्र नहीं बनेगी ! अपनी आन्तरिक स्वाधीनता और सम्यक् अभिक्रम कायम रखते हुए वैज्ञानिक रीति से, निर्दोष पद्धति से आध्यात्मिक जीवन-साधना अवश्य सम्पन्न की जा सकती है। अध्यात्म के नाम पर आन्तरिक स्वाधीनता बेच देने की कोई आवश्यकता नहीं, जनविमुख-समाजविमुख होना भी आवश्यक नहीं, बल्कि वह अवैज्ञानिक है।

आन्तरिक स्वाधीनता को बेचकर, छोड़कर लेने लायक इस जीवन में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ भी नहीं है। समर्पण की बात छोड़ दीजिये। समर्पण किया नहीं जाता। समर्पण या शरणागति संकल्पपूर्वक की जाने वाली क्रिया या कर्म नहीं है, समर्पण हो जाता है प्रेम में, विनम्रता की पराकाष्ठा में। वह स्वयं घटित हो जाने वाली घटना है। वह जिस भाग्यशाली के जीवन में घटित होती है, वही उसका आनन्द जाने। जीवन के प्रति समर्पित होकर, जीने के क्षेत्र को ही अपनी साधना का क्षेत्र मानकर, मानवीय सम्बन्धों को भक्ति का रहस्य खोजने का अवसर मानकर हम आगे चलें। इतना ही मेरा निवेदन है।

साधना सोपान

मुझे आशा है कि पिछले ६-७ दिनों के सान्निध्य में हमने समझा होगा कि अपने ही भीतर बैठे हुए गुरुतत्त्व की खोज कैसे करें? अपने अन्दर छिपे हुए मार्गदर्शक सत्ता-चैतन्य को कैसे पहचानें इसका चिन्तन किया होगा। शब्दों के माध्यम से, भौतिक और दैहिक स्तर पर जो यथार्थता है, वस्तु-स्थिति है, उसको हमने देखा, इस शब्द ज्ञान से वस्तुस्थिति का परिचय होता है। शब्द ज्ञान के बाद अपने भीतर जाकर तथ्यों का अवलोकन हम ने किया होगा। शब्द-ज्ञान, तथ्यों का अवलोकन (observation of the facts) और तब तत्त्व का आकलन (verbal knowledge under-standing of the truth) ये तीन कदम साधना-सोपान हैं।

देखने को, पहचानने को और समझने की शक्ति मनुष्य-मात्र में स्वयम्भू है। वह ग्रन्थाधारित, पन्थाधारित नहीं है। शब्दों की मदद से देखा जाता है, अवलोकन की मदद से पहचाना जाता है, तब आकलन की मदद से उसको पाया जाता है। शब्दों से जानने के बाद जब अवलोकन शुरू करते हैं, तब अपनी असलियत का पता चलता है। हम लोग यह नहीं कह सकते कि जन्म से ही हम निर्धूतकल्मष हैं, कषायमुक्त हैं। आनु-वंशिक मलिनतायें, त्रुटियाँ, स्वार्जित दोष, परम्परा के कारण पड़ी हैं, यह जब देखा जाता है, तब उनसे मुक्त होने की आकांक्षा जागृत होती है।

It is a personal encounter with the content of bondage, that stimulates the urge for freedom. (बन्धन के घटक का सीधा साक्षात्कार ही स्वाधीनता या बन्धन-मुक्ति की अभीप्सा जगाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वाधीनता की आकांक्षा यों ही, अनवधान या अज्ञान के अन्धकार में जागृत नहीं होती।

ऊपर कहे हुए तीन कदम (शब्द-ज्ञान, तथ्य-अवलोकन, तत्त्व-आकलन) उठे हों, तब वह आकलन हमारी बुद्धि या वाणी में कैद न रहे, निष्प्राण, निस्तेज न हो जाय, इसके लिये, आकलन होते ही उसे दैनिक-जीवन में लागू कर देना साधक का धर्म है। सौ फ़ीसदी (पूरा पूरा) आचरण प्रारम्भ में नहीं हो पायेगा, लेकिन मुख होगा आकलित सत्य की तरफ़, उसको शारीरिक, वाचिक, मानसिक व्यवहार में गूँथने का। To incorporate the truth understood in the moments of relationship, on the physical, psychological level.

यह अनुबन्ध नहीं बाँधा जाता है, तो केवल तत्त्व का आकलन, जीवन-परिवर्तन लाने में असमर्थ होता है। उसमें एक (explosive dynamism) तब पैदा होता है जब आकलित सत्य जिया जाता है; नहीं तो शब्दज्ञान, अवलोकन और आकलन का पुरुषार्थ अनर्थ तक ले जा सकता है यदि सत्य जिया न जाय, अपनी समझ जीयी न जाय। अपने ही सत्य-आकलन को जीने वाले आप बनेंगे ऐसी शुभेच्छा इस उपसंहार में मेरे हृदय में उठती है।

महाराष्ट्र और भारत ही नहीं, समस्त विश्व-संसार एक युग-परिवर्तन की घड़ी में आ पहुँचा है। इस युग-परिवर्तन की वेला में मार्ग-दर्शन भारत को ही करना होगा—यह मेरी श्रद्धा है। अनेक समस्याओं से घिरा है भारतवर्ष, और समझ का विपर्यास है इन सबके कारण हम दयनीय स्थिति में दिखाई देते हैं। लेकिन आने वाले आठ-नौ वर्षों में यहाँ एक अत्यन्त पावन संघर्ष होने वाला है। आज भारतीय चेतना "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" खड़ी है। युग परिवर्तन की बेला में भौतिक, ऐतिहासिक, मानसिक, आध्यात्मिक आवश्यकता और अनिवार्यता (material historical, psychological necessity and inevitability) है पदार्थ विज्ञान के साथ जीवन-विज्ञान (the science of life and living) का समन्वय साधने की। पदार्थ-विज्ञान में भौतिकी (physics) रसायन शास्त्र (chemistry) जीव विज्ञान, भूगर्भ एवं खगोल का विज्ञान सब आ गये। साथ ही आवश्यकता है मनोविज्ञान के साथ आत्मविज्ञान को समन्वित करने की, और यन्त्र विज्ञान तथा तकनीक के साथ मानव विज्ञान और मानवीय मूल्यों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समन्वित करने की। जागतिक स्तर पर यह त्रिविध चुनौती है मानव-चेतना के सामने। A very lovely challenge confronting the human consciousness.

इस चुनौती का तात्त्विक उत्तर भारतीय सस्कृति में, वैदिक दर्शन में उपस्थित है, उपलब्ध है। इसका व्यवहार-पक्ष आज ढक गया है। गरीबी-भुखमरी तथा गुलामी के कारण एवं पाश्चात्त्य उपभोग-परायण संस्कृति के भी नीतिपक्ष छोड़कर केवल उपभोग-पक्ष को ही जीवन की पद्धति और लक्ष्य मान लेने के कारण सत्ता और सम्पत्ति हथियाने-बटोरने की पागल लालसा और अन्धा अभिलाष भारतीय चेतना पर सवार हुआ है, जिसके अतीव दुःखद एवं विषाद पैदा करने वाले परिणाम आज व्यक्तिगत एवं सामुदायिक जीवन में देखने को मिलते हैं। वे जो बादल हैं भारतीय चेतना पर पड़े हुए—इन बादलों से दृष्टि ढकी गई। लेकिन, आँख के सामने बादल हो और सूर्य दिखाई न पड़ता हो तब यह तो नहीं कहा जा सकता कि सूर्य है ही नहीं। वैसे ही चेतना पर बादल आ गये हों तो उसके भीतर जो सत्त्व पड़ा है—उसे 'नहीं है'—कहने का निर्णय जल्दबाजी में शिक्षित लोग न लें—यह कहना चाहती हूँ।

भारत पर जिम्मेवारी इसलिये है कि सारी दुनिया में जितनी प्रकार की समस्यायें कुल मिलाकर हैं, वे सबकी सब एक ही भारत-भूखण्ड में दिखाई दे रही हैं और इसी भूखण्ड के निबासियों के पास बह अनोखा, अक्षय विरासत है जो सहज ही सब समस्याओं का निराकरण कर सकती है। भारत के शिक्षित जनों से एक अपेक्षा है कि वे अपनी विरासत का विनियोग करें, इसीलिये चित्त में आता है कि इनमें आपने दायित्व का भान जगा दूँ। उनका जो स्वधर्म है उसका भान जगा दूं। आगे तो ईश्वरेच्छा! देश का प्रारब्ध! और जनता की मर्जी!

जो समस्यायें खड़ी हैं उनमें पदार्थ-विज्ञान को जीवनविज्ञान से समन्वित करने के पहलू को देखियेगा मेरे साथ। शब्द वाहन है, उसी पर जैसे मैं चढ़ रही हूँ वैसे मेरे साथ आप भी चढ़ियेगा। शब्द जिस अर्थ की ओर ईंगित करते हैं, संकेत देते हैं, उस संकेत एवं अर्थ को देखियेगा। शब्द का सम्यक् श्रवण अर्थ को देखने में ही परिणत होता है। Listening perceiving, अर्थ के भाव में आरूढ़ होना, बोध तक पहुँचना—यह संवाद का रहस्य है। The mysterious relationship between the

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

speaker and the listener. ऐसा न हो तो वक्ता बोलता रहेगा, श्रोता मानेगा कि श्रवण हो रहा है, लेकिन बोध और संवाद निष्पन्न नहीं होगा।

पदार्थ-विज्ञान ने ऐसा प्रभूत ऐश्वर्य दिया है कि जो प्रत्यक्ष देखा-नापा-तौला जा सकता है, जिसकी लालसा जन-मानस में है; जरा झाँककर भीतर देखियेगा कि इन बयालीस वर्षों में प्रबुद्धजनों ने क्या किया है ? भारत के वासी उन ४०-४५ प्रतिशत लोगों की बात छोड़ दीजिये जो गरीबी की रेखा से कहीं नीचे भुखमरी की हालत में बेघर, नंगे, रोगी रहते हुए जिन्दगी ढोने को मजबूर हैं। उनके चित्त में सम्पत्ति सुविधा सुरक्षा और सत्ता की वासना उठना तो subhuman (मानवस्तर से नीचे) level से human (मानवोचित) स्तर पर आने के लिये प्रेरक-बल (motivation force) है। लेकिन शिक्षित समाज अपनी बात करें, जिनके हाथ में देश की बागडोर है : जीवन के हर क्षेत्र में जिस वर्ग में आप और हम शामिल हैं, उस वर्ग की बात कर रही हूँ। यह जो भौतिक सम्पत्ति दिखाई देती है, जो नापी तोली जा सकती है, जिसमें स्पर्धा, तुलना हो सकती है; इसे न्यायपूर्ण रीति से कमाने और इसका समुचित रसिक उपयोग व आस्वादन करने में कोई हर्ज़ नहीं, वैदिक सनातन संस्कृति में न्यायोचित सम्पदा-समृद्धि का स्वागत ही किया गया है, निषेध नहीं है। भारतीय संस्कृति 'श्री' की आराधक है, दरिद्रता-अभाव-श्रीहीनता की उपासक नहीं। लेकिन श्रीसम्पन्नता के लिये भोगवादी मानस होना आवश्यक नहीं। जीवनरसिक व्यक्ति के हृदय में भी सम्पन्नता की आकांक्षा हो सकती है। लेकिन यह नहीं कि कोई टूट पड़े भोग्य वस्तुओं पर, पागल या भूखे मरते कंगाल की तरह बेसब्री से सुख-सुविधा और विलास के साधन बटोरने लगे। विविध भोग्य-पदार्थ सुख-शान्ति के साधन हो सकते हैं, साध्य नहीं। यह नहीं कि ये पदार्थ अपने भीतर की आनन्दवृत्ति की अभिव्यक्ति के कारण न रहकर आशय बन जाँय। उनके साथ status और बाह्य प्रतिष्ठा जुड़ जाय, फिर उस status के लिये मनुष्य अपने सभी जीवनमूल्य उस भोगवाद की वेदी पर चढ़ा दे। आज यही अनर्थ की हालत है अपने देश में मध्यम वर्ग से लेकर शिक्षित और धनी वर्गों की भी।

इसलिये आज पहला दायित्व है कि भौतिक पदार्थ-विज्ञान से आने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाली सम्पन्नता अवश्य इस देश में लायेंगे लेकिन जो भारतीय संस्कृति के जीवनमूल्य हैं. जीवन-दृष्टि है, मानवीय मूल्य हैं उन्हें गँवाकर, या उनकी उपेक्षा करके नहीं। भारतीय वैदिक संस्कृति मानवता की उपासक है—"न हि मानुषात् परं किञ्चित्" (मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ नहीं है) मानवता से बढ़ कर पवित्र कुछ नहीं है, और मानवीय मूल्य अध्यात्म का अधिष्ठान हैं। मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करके अध्यात्म-साधना (यों तो सम्भव नहीं, फिर भी कोई अध्यात्म के नाम पर कुछ करने चले तो वह) अनर्थकारिणी है। क्योंकि शोषक बन सकती है, हिंसक बन सकती है, प्रभुत्ववादी बन सकती है। वैसी साधना हमें नहीं करनी है। मानवीय मूल्य और मानवीय धर्म के साथ-साथ सम्पन्नता आये, मानवीय धर्म आये, वह किसी भी विज्ञान में से आये: विज्ञान के सब द्वार खोल दीजिये जीवन के सामने। भारतीय संस्कृति और विज्ञान के बीच जो भोगवाद, बीभत्सप उपभोगवाद खड़ा हो गया **a cult of indulgence in sensual and sexual pleasure, a cult of convenience and expediency, worship of short term pleasures and an idea of security at the cost of fundamental values of Vedic religion.**

इस बादल को हटाना होगा। जब तक मानव की श्रेष्ठता, मानवता की उपासना, मानवीय मूल्यों की समाजरचना में प्रतिष्ठा—इन सूत्रों को लेकर आप और हम समाज में घूमेंगे नहीं, जीवन-मूल्यों का आशय और मानवता के लिये अनिवार्यता समझायेंगे नहीं, जन-जन में (सोई या दबो) पड़ी समझ की ज्योति को जगायेंगे नहीं, तो फिर भारत का भविष्य अन्धकारमय बनाने के जिम्मेवार हम होंगे।

दूसरी चुनौती मनोविज्ञान के साथ आत्म-विज्ञान को जोड़ने की है। **psychology to be enriched by spirituality,** भारत में पातञ्जल योगशास्त्र व दर्शन में बड़ा प्रौढ़ परिपक्व मनोविज्ञान है। पश्चिम में गत सौ-दो सौ वर्षों में विकसित हुआ मनोविशान बड़ी प्राथमिक दशा में है। फ्रॉयड-एड्लर-युंग की बात कीजिये या **existentialism** की बात करने वालों को लीजिये, पातञ्जल योगशास्त्र के आलोक के सामने वह सब बहुत ही प्राथमिक-सा लगता है। लेकिन उस मनोविज्ञान का भी आज व्यापारीकरण हुआ है। सारे जीवन का हो तो व्यापारीकरण हो गया। औद्योगिक क्रान्ति आयी, ओद्योगिक सभ्यता बनी; अब **post-industrial society**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बनाने की बातें हो रही हैं। खेद है कि भारत में भी हम पश्चिम के उस जीर्ण-शीर्ण मनोविज्ञान को ही लिये बैठे हैं। मनकी प्रतिक्रियाओं के पुजारी हम बन चुके है। अपनी प्रतिक्रियाओं का महत्त्व हमारे मन में मानवीय मूल्यों से अधिक है, अपनी समझ से अधिक है, प्रभुश्रद्धा से और अध्यात्म से अधिक है, यह जो अपनी ही प्रतिक्रिया-रूप पसन्दगी-नापसन्दगी, रुचि-अरुचि, पूर्वग्रह-पक्षपात, या कट्टर मतवादी निर्णय लिये बैठा है शिक्षित समाज; इन्हीं प्रतिक्रियाओं को महत्त्व दिये जाने के कारण लोगों के अहङ्कार टकराते हैं। नेताओं के अहङ्कारों का टकराव—यही आज सार्वजनिक जीवन में सबसे बड़ा अनर्थ है। (cult of personality) चल रहा है, केवल (hero-worship) नहीं है। उसे अपने आपको जीवित रखने के लिये साधन चाहिये, तो वे जातिवाद लेंगे, सम्प्रदायवाद को पकड़ेंगे, भाषावाद, क्षेत्रवाद को लेंगे, यहाँ तक कि सिद्धान्तवाद को भी अपना हथियार बना लेंगे, उसका भी उपयोग करेंगे। आकलन की ओर न जाकर जो कुछ धारणायें, मान्यतायें चेतना में पड़ी हुई है, जिनका उपयोग हर धर्म का पुरोहित वर्ग करता है—ऐसा एक परजीवी वर्ग देश में (दुनिया में भी) खड़ा है। उनके द्वारा भी शोषण होता है।

इसलिये मनोविज्ञान के साथ यदि आत्मविज्ञान को जोड़ दिया जाय, तो बहुत-कुछ बात बन सकती है। आज तो मनोविज्ञान पाश्चात्त्य ढर्रे का ही सिखाया जाता है विद्यालयों में, उसी के अगले कदम में मनोविश्लेषण वाली मानसिक चिकित्सा-पद्धतियाँ भी लागू की जाने लगी हैं, जिससे और शोषण को मार्ग मिलता है। मानसिक रोगों का इलाज आत्मविज्ञान के द्वारा सहज ही हो सकता है।

वेदोपनिषदों द्वारा, षड्दर्शनों द्वारा और बाह्य दृष्टि से निरक्षर कहलाने वाले किन्तु आत्मबोध में प्रतिष्ठित सन्तों के द्वारा आत्मविज्ञान पूरे भारत-भर में प्रवाहित होता रहा है, समाज के सभी स्तरों तक पहुँचता रहा है। काश्मीर की सन्त लल्लन हों, दक्षिण की आण्डाल एवं आळवार सन्त हो, राजस्थान की मीराबाई हों, गुजरात की गंगा सती हों, नरसी मेहता एवं अन्य सोरठी सन्त हों, महाराष्ट्र की जनाबाई हों, या श्रीनिवृत्ति-ज्ञानेश्वर-सोपान-मुक्ताबाई, नामदेव एकनाथ तुकाराम हों, उत्तर प्रदेश के सूर-तुलसी-कबीर हों, असम के माधव देव, शंकर देव हों—सन्तों के नाम कहाँ तक लें अनगिनत हैं। मध्ययुग में सन्तों ने जनसुलभ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्यन्त सरल भाषा में वेदोपनिषदों का दोहन किया हुआ अमृत खुले-आम बाँटा है। गाँव-गाँव में अलख जगाते घूमे हैं। इन सन्तों के जीवन-चरित, वाणी और सब प्रकार के भेदों का सहज ही निरसन करते हुए मानवता जीने जिलाने को युक्ति उनमें थी—उसका अध्ययन यदि मनो-विज्ञान के साथ जोड़कर बालक-किशोर-युवा पीढ़ी को कराया जाय तो भली-भाँति काम हो जायेगा। आत्मज्ञान के लिये आपको वेदों तक जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। भारत-भर का सन्तवाङ्मय देखिये। सन्तों ने नाम-स्मरण, पूजन-अर्चन, तीर्थाटन कहा होगा, पर सामने प्रत्यक्ष मूर्त तत्त्व को, मूल उत्स को वे छोड़ते नहीं हैं।

"पलभर भी नहीं विभक्त, वही कहाता भक्त"

चित्त का अनुसन्धान प्रभुसत्ता के साथ रखते हुए व्यवहार कीजिये, और जीवन जीने के जो कर्म हैं वे करते रहिये। किसी का दिल दुखाइये नहीं, किसी को उद्वेग या कष्ट न दीजिये। जीवन में किसी भी स्तर पर मलिनता नहीं रखियेगा, शुचिता रखियेगा। जीवन को मंगलमय-शुचि-अनुद्वेगकर हितकर बनाना—यही तो सन्तों का उपदेश है।

ऐसे आत्मविज्ञान को मनोविज्ञान के साथ जोड़ने का पुरुषार्थ शिक्षण-शास्त्री करें। आपके और हमारे यानी सामान्यजन के हाथ में सन्त साहित्य है, अपना और अपनी नई पीढ़ियों का जीवन समग्र बनाने के लिये सन्तसाहित्य का अनुशीलन एवं क्रियान्वयन बहुत काफ़ी है। सम्प्रदायों के शीर्षकों की चिन्ता न कीजियेगा। बाह्याङ्ग को एक ओर रखिये। फलों के छिलके फल के रस-सार को सुरक्षित रखने के लिये होते हैं, वैसे परम्परायें अध्यात्म-सत्त्व के संरक्षण के लिये बनी होंगी, उन्हें वाद का विषय नहीं बनाइयेगा। अपना काम फल चखना, रस पचाना है। ठाकुर रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि आम के पेड़ के नीचे बैठे हो तो आम खाओगे, स्वाद की सराहना करोगे, या यही सोचते रहोगे कि "यह पेड़ किसने लगाया, ऐसे कितने पेड़ यहाँ हैं? इस पेड़ के फल और दूसरे पेड़ों के फल में कितना कैसा फ़र्क है? किस में कितने फल लगते हैं, ये किस जाति के हैं? अन्य प्रकार के आमों की तुलना में इस आम का क्या मूल्य होगा?" मैं समझती हूँ कि आप-हम जो यहाँ (सत्संग-शिविर में) बैठे हैं तो फल खाने के इच्छुक हैं, सिद्धान्तों के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए नहीं। वह शिक्षणशास्त्रियों, सैद्धान्तिकों-दार्शनिकों के लिये छोड़ दीजिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमें तो जीवन जीना है, आज जीना है, अभी जीना है। तो, आत्मविज्ञान का जो सार सन्त-साहित्य में से आया है उसे मनोविज्ञान के साथ मिला कर हम पीयें और पिलायें नई पीढ़ियों को। सारी दुनिया की समस्याओं को सुलझाने का उपाय सुझाने या सवालों का जवाब देने में प्रत्येक सन्त का वाङ्मय समर्थ है, यदि देखने की दृष्टि हो और पहचानने की रसिकता हो। अत: मनोविज्ञान के साथ आत्मविज्ञान को जोड़ना एक जिम्मेवारी है।

अब समय आ चुका है कि एक राष्ट्र के नाते भारत को यानी हम-आप सब नागरिकों को मिल कर अपने प्रतिनिधियों द्वारा निर्णय लेना होगा कि हमारी अर्थनीति-राज्य-व्यवस्था-नीति और शिक्षण-नीति आदि प्रमुख राष्ट्रीय नीतियाँ क्या हों। पिछले अक्टूबर में मैं दक्षिण अमेरिका के चिली देश में थी। वह देश बीस वर्षों बाद 'डिक्टेटरशिप्' से मुक्त हुआ है। लोकतन्त्र मिला है। वहाँ के राष्ट्रपति और उनके साथी सलाहकार चिन्तन कर रहे हैं कि—"Capitalist economy has failed because it generates corruption. Communist-socialist economty-structure has also failed"

(पूँजीवादी अर्थतन्त्र असफल हुआ क्योंकि वह भ्रष्टाचार व शोषण लाता है साम्यवादी-समाजवादी अर्थतन्त्र भी सफल न हो सका।) और अब योरोप के देश खुले बाजार के अर्थतन्त्र (Free market economy) की ओर झुक रहे हैं। इन सभी प्रकारों में कहीं न कहीं जो दोष सामने आते हैं, उन दोषों से मुक्त भी कोई अर्थतन्त्र हो सकता है या नहीं ?

भारत में आज के कुछ लोगों को महात्मा गाँधी के नाम से कुछ अप्रसन्नता होती है, लेकिन महात्मा गाँधी के चिन्तन और जीवनदर्शन में जिस मानवनिष्ठ अर्थनीति का दर्शन है उससे पाश्चात्त्य अनेकों देशों के लोग, खास कर चिली, आस्ट्रेलिया का एक युवक समुदाय, लिथुआनिया देश के लोग अभिभूत हैं। उसका प्रयोग करना चाहते हैं। पूर्वी योरोप के देशों के सामने भी सवाल है। लिथुआनिया के राष्ट्रपति ने पद त्याग दिया। वे हमारे अच्छे मित्र हैं। पोलेन्ड में हुए शिविर में दस दिन साथ रहना हुआ। वे लोग कह रहे थे कि मानवनिष्ठ-मानवतावादी अर्थतन्त्र की बात हम समझना चाहते हैं भारतीयों के पास।

कहने का आशय यह है कि उत्तान भोगवाद का, भ्रष्टाचार का यदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिकार करना हो तो आज का जो ढाँचा है, उस ढाँचे में परिवर्तन लाना होगा। जीवन के व्यापारीकरण की तरफ ले जाने वाली अर्थनीति, अर्थ-नीति, अर्थतन्त्र, आर्थिक मूल्य, आर्त्रिक आचरण की संहिताओं का—बौद्धिक-वैचारिक-शाब्दिक एवं क्रियात्मक प्रतिकार करने की घड़ी आ गयी है। और जो शासन-व्यवस्था है या इसमें आयी हुई भ्रष्टता, बोभत्सता मानवीय मूल्यों का सम्पूर्ण ह्रास,—इसका प्रतिकार यदि हम नहीं करेंगे, मानवीय मूल्यों को अर्थनीति-राजनीति में नहीं लागू करेंगे, एक नया समग्र विकल्प यदि राजनीति-अर्थनीति के लिये खड़ा नहीं करेंगे, तो हम स्वधर्म-पालन नहीं कर रहे हैं यही मानना होगा। यह अध्यात्म का तकाज़ा है। अध्यात्म सम्पूर्ण जीवन को आगोश में लेता है। जीवन-परिवर्तन का अर्थ जिस समाज में हमते हैं उसमें भी परिवर्तन लाना है। "मेरी कुण्डलिनी जागृत हो गयी", "मेरो समाधि लग गयो" "मुझे रामजी के दर्शन हुए" ऐसे अपने सुखों को लेकर बैठना है या भारतीय संस्कृति की जो जड़ें उखड़ रही हैं अभारतोय संस्कृतियों के घर-घर तक आक्रमण के कारण—उसका प्रतिकार करना है ? यदि आप मानते हैं कि राजकीय संरक्षण के द्वारा या केन्द्र तथा प्रदेशों की सरकारों के द्वारा अपने आप यह परिवर्तन लाया जायेगा—तो आप भ्रम में हैं। उनसे कराना होगा, तब वे करेंगे।

The pressure of awakened people's will, the moral pressure of active people's-intervention जाग्रत् जनता के संकल्प एवं संघशक्ति का दबाव, कर्मठ जनता के द्वारा शासन-व्यवस्था में दखल का दबाव लाना होगा। नहीं तो, अपने-अपने घरों में बैठे आँसू बहाने से कुछ नहीं होगा, अपनी आँखों के सामने भारत में से भारतोय संस्कृति का नष्ट हो जाना देखना पड़ेगा।

१९३१–३८ तक जर्मनी में रहने वाले बौद्धिकों ने और शिक्षितों ने अपनी जिम्मेवारी नहीं सम्हाली थी, इसलिये वहाँ हिटलर पनप सका, हिटलरशाही जोर कर सकी। रूस में सारवारव और साथी खड़े हुए, उनकी वेदना और कष्ट सहन में से गांर्बाचेव खड़े हुए। और रूस में आमूल-परिवर्तन का प्रारम्भ हुआ। ऐतिहासिक आवश्यकता नेता उत्पन्न कर लेती है।

हम भारत-सन्तान हैं, गौड़पाद एवं आद्य शङ्कराचार्य की सन्तान हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीनिवृत्तिनाथ-ज्ञानेश्वर की सन्तान हैं, सन्त एकनाथ व तुकाराम की सन्तान हैं, भक्त नरसी मेहता की सन्तान हैं—

"अखिल ब्रह्माण्ड में एक तू श्रीहरि
जूजवे रूपे अनन्त भासे।....
घाट-घड़िया थकी नाम रूप जूजवा
अन्ते तो हेम नुं हेम होये!"....

ऐसे अखिल विश्व में एक तत्त्व को जिन्होंने देखा, विभिन्न आकार-रंग रूप वाले अलंकारों में एक ही स्वर्ण को जो देख पाये, उनकी सन्तान हैं हम; तो क्यों आकृति-जाति-धर्म-भाषा-क्षेत्र और संस्कृतियों को विविधता से समृद्ध मानव जीवन को एक मानवीय दृष्टि से न देख सकें? समाज की सब व्यवस्थाओं का आधार मानवता को न बना सकें?

इसलिये हम पर जिम्मेवारी है वैदिक दर्शन और संस्कृति को प्रत्यक्ष जीवन में लाने को, जो वैदिक दर्शन मानवता, मानवीय मूल्य और मानव धर्म की ध्वजा हाथ में लिये खड़ा है—उसे नष्ट नहीं होने देंगे, और अभारतीय जीवन-पद्धति हमारे जीवन में जितनी घुस पड़ी है उसे खोज-खोज कर निकाल देंगे। संस्कृति को शासकों ने कब सँभाला है? संस्कृति को सँभाला है प्रबुद्ध जनों ने! वे ही शासकों पर दबाव भी लाये हैं इसे सँभालने के लिये।

छत्रपति शिवाजी को कभी एक-आध बार मन में होता है कि "मैं सबका पालन कर रहा हूँ", तो समर्थ गुरु रामदास उन्हें कहीं एकान्त में बीहड़ में ले जाकर कहते हैं—"शिवा! यह पत्थर उठा तो!" उस भारी पत्थर के नीचे से निकला हृष्ट-पुष्ट मेंढक। गुरु ने कहा—"इसका पालन-पोषण तुम ही करते हो न शिवा!' महाराज समझ गये।....शासकों की चेतना को इस प्रकार झकझोर कर हिलाने वाला, प्रबुद्धजनों का नैतिक दबाव ही रहा है। हम मूर्च्छा में पड़े रहें, अपने छोटे-छोटे स्वार्थों में उलझे रहेंगे, हमारे परिवार और पारिवारिक जीवन में अभारतीय जीवन पद्धति को जीते चले जायेंगे; और फिर आशा रखेंगे कि कानून से संस्कृति का संरक्षण होगा? कानून मदद कर सकता है, पर कानून अधिष्ठान नहीं है, चेतना अधिष्ठान है।

सत्संग के द्वारा इस प्रकार चेतना को हिलाने की मेरी कोशिश रहती है। क्योंकि अध्यात्म सर्वोपरि है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"अध्यात्मविद्या विद्यानाम् ' प्रभु की विभूति है।
"जाने स्वयं को अपने आप। यही कहलाता ज्ञान"

"अपना आपा पहचानो।" वासुदेव कहें या नानक कहें, कबीर कहें, ज्ञानेश्वर कहें, ज़लालुद्दीन रूमी कहें। सत्य एक है मित्रो !

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"

(एक ही सत्ता है, जानने वाले उसे बहुत प्रकार से कहते हैं)

इतने दिन तक आप सबने मुझे जो अभिव्यक्ति का अवसर दिया उसके लिये आभार एवं कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

❀ ॐ ❀

"मालिक ! तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे।
बाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे॥"
बस तू ही तू रहे !

ज़ब्त हो इस अज़्म का सारा ही आशियाँ।
दाद देंगी बुलबुलें—तूने भला किया।
शहद में घुल जाने वाले गुल की बू रहे।
बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे।
बस तू ही तू रहे !

क़ैद हो तूफ़ाँ अगर पाये तेरी नज़र।
फिर ख़ुदी की आँधियों की हो नहीं गुज़र।
दरिया में मिलती बूँद जैसी गुफ़्तगू रहे।
बाक़ी न मैं रहूँ न मेरी आरज़ू रहे।
बस तू ही तू रहे !

यह ख़ुदी ही तबाह हो कर ले तेरी पनाह।
फिर तमन्नायें कभी ना कर सकें गुमराह।
तेरे दर की बन्दगी की आबरू रहे।
बाक़ी न मैं रहूँ न मेरी आरज़ू रहे।
बस तू ही तू रहे !

[भोली—]

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिन्तन-बिन्दु

[एक जिज्ञासु के प्रश्नों के लिखित उत्तर में से]

१—स्वरूपानुसन्धान अथवा स्वात्मतत्त्वानुसन्धान—भक्ति

—नहीं पल के लिये विभक्त ! उसे कहिये भक्त

—समग्रता का अवधान—**Awareness of Totality.**

२—आत्मानुभवियों की भाषा—देश-काल-परिस्थिति-सापेक्ष रहती है और रहेगी। किसी भी समय के किसी आत्मानुभवी के एक शब्द का आग्रह चित्त में रखना सम्प्रदाय को जन्म देता है। अनुसन्धानात्यिका भक्ति में राम कृष्ण शिव-शक्ति इत्यादि को कोई स्थान नहीं है। वैश्विक चित्शक्ति के साथ अनुसन्धान—यही भक्ति का एकमेव आशय होगा।

३—शुष्कता चित्त की प्रतिक्रिया है। अवधान के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। अवधान रखना नहीं पड़ता, वह कर्म नहीं है। वह चेतना का एक आयाम है। अनुसन्धान तथा वैयक्तिक चेतना के मौन में से साक्षित्वपूर्ण अवधानात्मिका चेतना का जागरण होता है।

४—अवधान का जन्म आकलन में से होता है। तत्त्वज्ञान में से नहीं, तत्त्वबोध में उसका जन्म है। वह कर्मजन्य नहीं हो सकता। वह किसी भी प्रयत्न के परिणामस्वरूप नहीं हो सकता। आन्तरिक परिपक्वता की वह सहज अभिव्यक्ति है। वह आकस्मिक नहीं है, न किसी के अनुग्रह से उसका कोई सम्बन्ध है।

५—चित्त की आर्द्रता का सम्बन्ध किसी शारीरिक अथवा मानसिक क्रिया के साथ नहीं हो सकता। जब जीवन के प्रति श्रद्धा जाग्रत होती है तब चित्त सहज ही आर्द्र मृदु तथा कोमल बन जाता है।

६—भारत में करोड़ों लोग पारम्परिक नामस्मरण-भजन-कीर्तन करते हैं, फिर भी यह देखा गया है कि उनके जीवन में जड़ता शुष्कता और अकर्मण्यता रहती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७—चेतना के किसी भी आयाम का जागरण Luck faetor पर निर्भर नहीं है। शरीरशुद्धि, वाणीशुद्धि, बुद्धि एवं चित्त की शुद्धि—ऐसी चतुर्विध शुद्धि श्रद्धापूर्वक साधने पर आत्मा का बोध एवं ब्रह्मबोध अवश्यम्भावी है।

८—मौनावस्था अथवा शून्यावस्था में—स्थिरता शान्ति एवं गम्भीरता।
ध्यानावस्था में—उन्मनी या तुरीयावस्था की उत्कटता।
समाधि-अवस्था में—आत्मानन्द एवं ब्रह्मानन्द का प्रसाद।

ज्ञान का गाम्भीर्य
अवबोध की परम शान्ति
आत्मानन्द ब्रह्मानन्द का आह्लाद
} —यह त्रिवेणी प्रत्येक कर्म में अनुस्यूत रहती है,
(बहती) रहती है।

"हरे कृष्ण पन्थ, वैष्णवों के अन्य कतिपय पन्थ, राधास्वामी, रामकृष्ण मिशन, महर्षि अरविन्द, महर्षि रमण, थियॉसॉफ़िकल सोसायटी इत्यादि सबमें क्रियाकाण्ड, शाब्दिक ज्ञान तथा भावना की अतिशयोक्ति देखने में आती है। दूसरी तरफ वेदान्तियों में शुष्कता, जड़ता एवं जीवन-विमुखता दिखाई देती है। इसलिये हमारा कहना है कि जीवन जीने के कर्म को ही आत्मसाधना का मर्म बनाइये। जीवन जीते हुए स्वरूपानुसन्धान का बल प्राप्त कीजिये। वाणी को मौन से निरन्तर प्रक्षालित रखिये। और चित्त को मौनावस्था में—यानी संकल्प विकल्प मुक्त प्रतिक्रिया मुक्त अवस्था में—अर्थात् निर्विषय अवस्था में रखिये। 'जीवन-योग' शब्द का अर्थ इतना व्यापक और गहरा है। इसमें ज्ञान-कर्म-भक्ति सभी समाये हुए हैं।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

अहं की यात्रा

सत्ता आत्मा की, अस्तित्व अहंकार का ।	आत्मा तत्त्व है ।
"अस्ति-नास्ति" पद छूते हैं वहाँ अस्तित्व है ।	आत्मा की सत्ता है ।
भूत, वर्तमान, भविष्य छूते हैं, वहाँ अस्तित्व है ।	अहं भाव है ।
देश, काल स्पर्श कर नहीं पाते, वहाँ सत्ता है ।	अहंकार केवल अस्तित्वमय हे ।
आदि, मध्य, अन्त छूते नहीं हैं वहाँ सत्ता है ।	उसके कोई सत्ता नहीं ।
जन्म-वृद्धि-क्षय-मृत्यु स्पर्शते नहीं वहाँ सत्ता है ।	

---

१. चयने सुखम् । संचयने सन्तुष्टि: । सन्तोषे संरक्षणम् । ज्ञानसंचय, अनुभूतिसंचय, धनसंचय, कीर्तिसंचय, प्रतिष्ठासंचय ।	जिज्ञासापर्वे संचयनप्रक्रिया संचयने "अहं" संरक्षितो भवति ।
२. पुरुषार्थे संवर्धनम् । प्रतिप्रयासे अहंकारस्य शक्तिवर्धनं संभवति ।	साधकस्य साधनापर्वे अहङ्कार: संवर्धितो भवति ।
३. भावप्राणा भक्ति: । भावाश्रये अहंकारस्य विगलनं संभवति ।	भक्तिपर्वे विगलनम् । अहङ्कार: विगलित: भवति ।
४. समर्पणे विलोपनम् । समर्पणभाव: अतिसूक्ष्म: । सूक्ष्मत्वात् विलोपनाभास: ।	शरणागति:—समर्पणपर्वे विलोपनम् । अहङ्कार: विलुप्त: भवति ।
५. सहजदशायां विसर्जनम् । विसर्जनन्—विशेषसर्जनम् । अहंकारस्य प्रेमस्वरूपे परिणमनम् ।	सहजे विसर्जनम् । सहजोपलब्धि: स्यात् तदा अहंकार: विसर्जितो भवति । सहजोपलब्धौ अहं विसर्जनम् ।

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

श्री विश्वात्मक देव ! इस वाग्यज्ञ से हों सन्तुष्ट ।
प्रसन्न हो प्रसाद-दान दें हमें यही ॥
खलों की कुटिलता छूटे । सत्कर्म में ही रति बढ़े ।
प्राणियों में परस्पर प्रगटे हार्दिक मैत्री ॥
मिटे दुरितों का तिमिर । स्वधर्म सूर्य हो उदित ।
जो जो चाहें वह करें प्राप्त । प्राणी सभी ॥
बरसे सकल सुमङ्गल । ईश्वरनिष्ठों का समुदाय ।
अनवरत भूमण्डल पर । यह देखें प्राणी ।
कल्पतरु के उद्यान सचल । चेतना-चिन्तामणि के अचल ।
जो मुखरित अर्णव । पीयूष के ॥
चन्द्रमा जो अलाञ्छन । मार्तण्ड जो तापहीन ।
वे सबके प्रति सदा सज्जन । हों प्रिय सबके ॥
किंबहुना सर्वसुखों से । पूर्ण हों तीनों लोक ये ।
आदिपुरुष का भजन करें । अखण्डित ॥

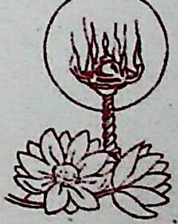

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi